मानस-माधुरी

लेखक—

डॉ० बल्देवप्रसाद मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्०
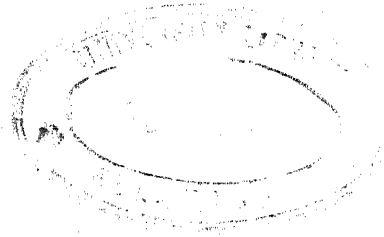
साहित्य रत्न भंडार
आगरा

मूल्य सात रुपया * आठ रुपये

पुस्तक का नाम * मानस-माधुरी

लेखक * डॉ० बल्देवप्रसाद मिश्र

प्रथम संस्करण * दिसम्बर १९५८

प्रकाशक * साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक * साहित्य-प्रेस, आगरा

स्वर्गीय पं० रविशंकरजी शुक्ल

की

पुण्य स्मृति में
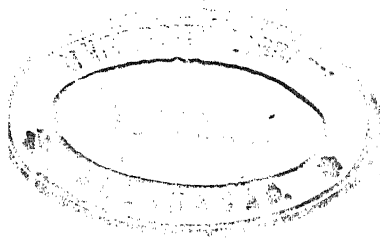
भूमिका

'मानस माधुरी' में रामचरितमानस के काव्य-माधुर्य और तत्व-माधुर्य का स्वमति अनुरूप यत्किंचित् दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है।

'तुलसी-दर्शन' लिखकर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त कर लेने के बाद में स्वभावतः ही मानस का विशेषज्ञ समझा जाने लगा हूँ। इस समझ में कहाँ तक यथार्थता है यह प्रश्न अलग है। परन्तु इस समझ के कारण एक सामान्य वन्य कुटी से लेकर परम सम्मान्य राष्ट्रपति भवन तक अनेकों बार मुझे मानस पर प्रवचन देने पड़े हैं। वर्षों से कई मित्रों का आग्रह था कि मैं उन प्रवचनों को लिपिबद्ध कर दूँ। कुछ का यह भी आग्रह था कि मैं पूरे मानस की ही एक विशद टीका लिख दूँ। जिन्हें यह पता था कि मैं अब भी पर्याप्त कार्यव्यस्त रहा करता हूँ उन मित्रों का सुझाव था कि यदि समयाभाव आदि के कारण पूरी टीका न लिखी जा सके, अथवा पूरे प्रवचनों में से प्रमुख-प्रमुख को भी लिपिबद्ध न किया जा सके, तो ज्ञातव्य स्थलों का संक्षिप्त सार अंश तो लेखबद्ध कर ही दिया जाय। निश्चय ही उनमें न तो विषय स्थापन का बुद्धिग्राह्य विस्तार आ पावेगा न प्रवचनों का भावोन्मेष। फिर भी वे इन दोनों क्षेत्रों के लिये किसी न किसी अंश में सहायक तो हो ही सकेंगे। इसी बीच भारत सेवक-समाज की प्रादेशिक शाखा से 'मानस प्रवचनकार प्रशिक्षण योजना' कार्यान्वित हुई और मुझे ही भार दिया गया कि मैं प्रशिक्षणार्थियों के लिये उपयुक्त पाठावली तैयार करूँ। प्रभु ने मन में उमङ्ग भरी और धीरे-धीरे करके वे सब पाठ तैयार हो गये जो इस 'मानस माधुरी' में संग्रहीत हैं। इनमें भारत सेवक समाज द्वारा आयोजित प्रशिक्षण का ही दृष्टिकोण हो ऐसी बात नहीं है।

ये पाठ अलग-अलग अवसरों पर लिखे गये हैं इसलिये स्वभावतः ही इनमें कुछ बातों की पुनरावृत्ति हो गई है। परन्तु मानस सरीखे रोचक ग्रन्थ को हृदयस्थ करने के लिये ऐसी पुनरावृत्तियाँ लाभदायक ही हो जाया करती हैं। इसीलिये उन्हें दूर करने का मैंने विशेष प्रयत्न नहीं किया। इन तीस पाठों को पाँच खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में मानस की महिमा का सामान्य विहङ्गावलोकन है। तत्वसौष्ठव का विहङ्गावलोकन 'तुलसी-दर्शन' में तथा प्रबन्ध-सौष्ठव का विहङ्गावलोकन 'मानस में रामकथा' नामक ग्रन्थ में कर ही चुका हूँ। काव्य-सौष्ठव के विहङ्गावलोकन के लिये 'सुन्दर सोपान' की

टीका भी लिख दी है। इस 'मानस-माधुरी' के प्रथम खण्ड में तो मानस की महत्ता और उसके सूक्ति-सौष्ठव एवं सम्भाषण-सौष्ठव ही का विहङ्गावलोकन है। हाँ, सन्तों और असन्तों के लक्षणों की चर्चा भी इसी खण्ड में करदी गई है। दूसरे तथा तीसरे खण्ड में मानस के पात्रों की चर्चा है। पूर्वार्द्ध में मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के नाम रूप लीलाधाम का कीर्तन है। स्मरण रहे कि अनेकों के इष्टदेव होते हुए भी वे साम्प्रदायिकता से परे समग्र भारत के राष्ट्रनायक और विश्व के जननायक कहलाने की पूरी क्षमता रखते हैं। मानस के मुख्य प्रतिपाद्य तत्व वे ही हैं। उत्तरार्द्ध में अन्य प्रमुख नर नारी पात्रों की चर्चा है तथा प्रसङ्ग-वश 'गोस्वामीजी और नारी' शीर्षक पाठ भी वहीं रख दिया गया है। चौथे खण्ड में मानस के प्रमुख उपाख्यानों का और पाँचवें खण्ड में उसके कुछ चुने हुए प्रसङ्गों का विवेचन है जिसमें प्रवचनकारों की भिन्न-भिन्न शैलियों का भी कहीं-कहीं अवलम्ब ले लिया गया है। उक्ति-सौष्ठव या युक्ति-सौष्ठव, तुलनात्मक पद्धति या समीक्षात्मक पद्धति, व्यासशैली या समास शैली, तर्कानुगा वाणी या रागानुगा वाणी—समर्थ प्रवचनकारों के लिये सभी शोभनीय हैं। केवल एक बात शोभा नहीं दे सकती और वह यह कि गोस्वामीजी के बदले कहीं प्रवचनकार ही श्रोताओं के मन में न छा जाय। एक बात और है। रोचकता तथा सामयिकता के रङ्ग इतने गाढ़े न हो उठने चाहिये कि मानस का प्रकृत ध्येय ही उनसे दब कर विकृत हो जाय। अपने पाठों में मैंने इन बातों पर ध्यान रखने का भरसक प्रयत्न किया है। साथ ही यह भी चेष्टा की है कि मानस के सभी प्रमुख टीकास्पद स्थलों की चर्चा इन पाठों में समाविष्ट हो जाय। विषय को समझने-समझाने के सूत्ररूप वाक्य विषयानुक्रमणिका में कुछ विस्तार के साथ इसलिये दे दिये गये हैं कि जिससे पूरे ग्रन्थ का सार ग्रहण करने में सुभीता हो।

गोस्वामीजी का मानस सार्वभौम एवं सार्वकालिक ग्रन्थ है। साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता उससे कोसों दूर है। व्यावहारिक कल्याणमार्ग उसमें पूर्णतः प्रतिबिम्बित है। भारत की राष्ट्रीय चेतना को बल देकर दिव्य मानवता जगाने की जितनी शक्ति उसमें है उतनी शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ में हो। 'मानस-माधुरी' से मानस की माधुरी का अणुमात्र आस्वादन भी यदि सर्वसाधारण को हो सका तो मैं अपना प्रयत्न सर्वथा सफल समझूँगा।

राजनाँदगाँव
श्री व्यास पूर्णिमा २०१४

—बलदेवप्रसाद मिश्र

राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली।

अगस्त २६, १९५८

भाद्र ४, १८८० (शक)

डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र द्वारा लिखित साहित्य के कुछ अंशों को देखने का मुझे सुअवसर मिला है। इसके अतिरिक्त मैं जब कभी पचमढ़ी गया वहां भी मैंने रामायण की कथा ही नहीं उसकी विद्वतापूर्ण व्याख्या भी उनके मुख द्वारा सुनी और एकाध बार यहां भी सुनने का मुझे मौका मिला है और उससे मैं प्रभावित हुआ हूं।

श्री मिश्र जी ने जो कुछ लिखा और उनसे मैंने जो कुछ सुना उससे मैं कह सकता हूं कि उन्होंने अपने विषय का गहरा अध्ययन किया है। उनके विचारों में प्रौढ़ता है और भाषा विचारों को व्यक्त करने में पूर्ण सफल हुई है।

'मानस' पर श्री मिश्र जी ने लिख कर हिन्दी एवं मानवता के प्रति जो कार्य किया है वह सराहनीय है। रामायण तो हमारे जन-मानस की माधुरी है ही और ग्राम-जीवन तक में वह रमी हुई है। उतनी ही सरलता के साथ उसके मौलिक रूप को श्री मिश्र जी ने अपने गहरे चिंतन और अध्ययन से और सुंदर बनाया है। इसी विषय में उन्होंने डी० लिट्० की उपाधि भी पायी है। मेरी यही आशा रहती है कि इस प्रकार हमारे प्राचीन साहित्य की रक्षा और वर्तमान साहित्य में संवृद्धि होती रहे।

राजेन्द्र प्रसाद

(राजेन्द्र प्रसाद)

मानस माधुरी के परिच्छेद

विषय | पृष्ठ

'क' खण्ड—(मानस महिमा)

'ख' खण्ड—(मानस के पात्र) पूर्वार्ध

'ग' खण्ड—(मानस के पात्र) उत्तरार्ध

'घ' खण्ड —(मानस के उपाख्यान)

'च' खण्ड—(मानस के कुछ प्रसङ्ग)

परिशिष्ट

विषयानुक्रमणिका

१—मानस-महिमा

२—मानस की सूक्तियाँ

(जो सर्वथा त्याज्य है) । इस द्वन्द्व अथवा मोह की जिम्मेदारी है जीव पर जिससे छुटकारा पाने में सहायता मिलती है इष्टदेव से । सरल सुभाव न मन कुटिलाई जथा लाभ सन्तोष सदाई ही उत्तम साधना मार्ग' । नवधा भक्ति की श्रेष्ठता में ग्यारह तर्क । भगवत् कृपा सर्वोपरि, जिसके लिये नित्य प्रार्थना को महत्व ! ।

३—सन्त-असन्त

कुल नहीं, क्रिया प्रधान है—सुधा सुरा, जलज, जोंक । भल अनभल निज निज करतूती । दोनों दुखप्रद, कष्ट सहिष्णु एवं समान पक्षी, परन्तु परोपकार के परिणाम से एक वन्दनीय और दूसरा निन्दनीय । भोजपत्र तथा सन—सन्त स्वभाव के दस गुण (सावधान, मानद, मदहीन, धीर, भक्तिपथ परम परम प्रवीण, सम, शीतल, नहि त्यागहिं नीती, सरल स्वभाव, सबहिं सन प्रीती), सन्त, विटप, सरिता; गिरि, धरनी—वे नवनीत से बढ़कर, कपास तथा समुद्र के समान परप्रेमी । सत्संग ही परम फलद । साधु समाज, सबहि सुलभ सब दिन सब देसा' है । सुसंग कुसंग के उदाहरण रज, धूम, शुक सारिका, ग्रह भेषज जल पवन पट, में देखे जायँ । सुरसरि जल कृत वारुणि का उदाहरण—भर्तृहरि और गोस्वामीजी । 'परहित लाभ हानि जिन केरे उजरे हर्ष विषाद बसेरे' हैं पाँचवें प्रकार के मनुष्य एवं 'पर हित घृत जिनके मन माखी' तथा जिमि हिम-उपल कृषी दलि गरहीं' हैं छठे प्रकार के मनुष्य—अहि मूसक, अंकुश, धनु, उरग, बिलाई—बयरु अकारन सब काहू सों, जो कर हित अनहित ताहू सों, काहू कै जो सुनहिं बड़ाई, स्वास लेहि जनु जूड़ी आई, जब काहू कै देखति विपती, सुखी भये मानहुँ जग नृपती, ब्रह्म ज्ञान विनु नारि नर, करहिं न दूसरि बात । उनसे उदासीन रहना सर्वोत्तम । धूम रज स्वान । ज्ञानी मूढ़ न कोय । सन्त असन्त हैं चन्दन और कुठार की तरह ।

४—मानस में वार्तालाप-सौष्ठव

उमा और सप्तर्षियों का वार्तालाप—विपक्षी के दृष्टिकोण को मान दे, उसके सम्भाव्य तर्कों को समेट ले और अपना दृष्टिकोण नम्रतापूर्वक प्रस्तुत करे—कपटी मुनि और मन्थरा के वार्तालप में सर्वथा निःस्वार्थी हूँ यह अङ्कित कर स्वार्थ साधन का कौशल-मय ढङ्ग है—कभी एक मुस्कुराहट सौ वाक्यों का काम कर जाती है, याञ्चा इस ढङ्ग पर हो कि बिना माँगे ही अभीष्ट वस्तु मिल जाय । परशुराम-संवाद है वाक्‌कौशल का बढ़िया नमूना, अयोध्या काण्ड के वार्तालाप व्यास (गले उतार देने वाली) तथा समास (निष्कर्षमात्र झलका देने वाली) शैली के उत्तम उदाहरण । वाक् कौशल की तह में बुद्धि एवं भाव से संयुक्त अनुकूल मनःस्थिति चाहिए । जो प्रभाव पैदा करना हो उसके अनुकूल

परिस्थिति बना कर बात कही जाय। 'कहिं जग गति मायिक मुनिनाथा' का उदाहरण, सुमित्रा का वाक् कौशल, उत्तम वक्ता वह जो स्वतः कम बोले सुतीक्ष्ण का वाक्कौशल एवं हनुमान के समक्ष जाम्बवान् का वाक्कौशल। हनुमान के वार्तालाप में सुरसा के प्रति समास शैली तथा सीता के प्रति एवं राम के प्रति विरह वार्ता की व्यास शैली। बात पलटने की कला—गुण का गौरव दूसरों पर और दोष की जिम्मेदारी अपने पर रख कर बात करना भी उत्तम कौशल है। राम के द्वारा प्रयुक्त 'सखा! नीति तुम नीकि बिचारी आदि वाक्य प्रतिपक्षी की सहृदयता उसका कर उसे मौन एवं सन्तुष्ट बना देने के उत्तम उपाय है—ऊटपटांग बातों द्वारा मन की थाह लेना। 'हँसी करइहहु पर पुर जाई में बात का व्यंग्यात्मक ढङ्ग। वार्तालाप के अतिरिक्त काव्यगत उक्ति सौन्दर्य के तो ढेरों उदाहरण हैं। 'सन्त हृदय नवनीत समाना' मथुरा में भी राम हैं' 'बरनत छवि जहँ-तहँ सब लोगू' नवतुलसिका बृन्द' आदि के उदाहरण देखे जायँ।

(ख) खण्ड (मानस के पात्र)

५—मानस के राम

'राम कवन' ही मानस का मूल प्रश्न है—मानस इतिहास ग्रन्थ नहीं किन्तु मानवता के सुरुचिपूर्ण विकास का प्रेरणा ग्रन्थ है—अतएव राम चरित्र का चित्रण विकासवादी दृष्टिकोण से नहीं किन्तु अवतारवादी दृष्टिकोण से हुआ। ऐतिहासिक चरित्र इसीलिये इष्टदेवत्व की पूर्णता से परिमार्जित है—सत्य के त्रैविध्य के अनुसार राम का भी त्रैविध्य—ऐतिहासिक नराकार राम समग्र राष्ट्र के सम्मान्य—साधना के सुराकार इष्टदेव राम जीव के प्रधान उन्नायक, अतएव मानस में उनकी प्रधानता। उनकी हितैषिता और उनका कारुण्य। नर चरित्र इस सुराकार रूप से प्रभावित। उनका निराकार रूप—नराकार राम के समन्वयात्मक सात काण्ड—चरित्र विषयक पाठ भेदों के लिये कल्पवाद का सिद्धान्त। राम का आदर्श—चरित्र का रुचिकर अंश ही प्रेरणा प्राप्ति के लिये ग्राह्य हो। कृष्ण की ऐकान्तिकता और राम की सामाजिकता।

६—राम का नाम

पौराणिक अमृत से रामनामामृत अधिक महत्वपूर्ण—महात्मा गान्धी के विचार से नाम महिमा बुद्धिवाद से परे—नाम का स्वर-पक्ष और व्यञ्जन-पक्ष—राम के नाम के व्यञ्जन-पक्ष में रामता का भाव—रामता है राम के रूप और गुणों का अपने-अपने ढङ्ग पर समझा हुआ पुञ्जीकृत भाव। श्रद्धा और विश्वास (शुद्धता और तन्मयता) के अनुपात से अपने-अपने राम की महत्ता—नाम कृति अथवा प्रेरणा की दृष्टि से नराकार राम से बढ़कर और उपयोगिता

की दृष्टि से निराकार राम से बढ़कर --राम का स्वरत्व—नाम है रूप का जनक और शक्ति का स्रोत—रूप स्थिति है तो नाम जाग्रत गति है—शब्द की नादशक्ति—र-ग्राम की महिमा—वह सच्चिदानन्दशक्ति तथा कृशानु भानु हिमकर का हेतु—आधुनिक विज्ञान का नाद प्रभाव में प्रामाण्य—नामापराध—रामनाम महिमा के नौ दोहे।

७--राम का रूप (नखशिख)

साकार राम का ऐश्वर्यमय रूप विराट् ब्रह्माण्ड है और माधुर्यमय रूप मानवी (शरीर) है। मानस में मानव-रूप राम का नखशिख सात बार दिखाया गया—मनु शतरूपा को, कौसल्या को, मैथिल बालकों को, सीताजी की सखियों को, जनकपुर वासियों को (धनुषयज्ञ स्थल में), दुलहिन सीताजी को और भुशुण्डिजी को—प्रत्येक नखशिख में अपना कुछ निरालापन है—बालकों ने (तीसरे नखशिख में) कमर से सिर तक देखा—वह आकर्षक समवयस्क का रूप था, आयुध तथा विभूषणधारी—तिलक रेख सोभा जनु चाकी। सीता की सखियों ने (चौथे नखशिख में) राम को मदनमोहन रूप में सिर से कमर तक देखा—यहाँ 'चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं' की बात नहीं किन्तु 'हास विलास लेत मन मोला की बात है। यहाँ मोरपंख और कुसुमकली के गुच्छे हैं। पुर-वासियों ने (पाँचवें नखशिख में) भी सिर से कमर तक देखा किन्तु मुख को विशेष रूप से—यह धनुर्धर रूप भी हैं और मारमद हरण रूप भी है। यह विश्वविलोचन चोर रूप है—इसमें कंबु कल ग्रीवा की रुचिर रेखा त्रिभुवन की शोभा सीमा बनी। 'चितवनि, भावत हृदय जात नहिं वरनी'। भविष्य का शुभ सूचक पीला यज्ञोपवीत और पीली चौतनी। दुलहिन सीताजी ने (छठे नखशिख में) दूलह राम को नख से शिख तक देखा। मुनिमन मधुप छाये पदकमलों की ओर पहिली निगाह, अनुराग की लाली का जावक 'पीत जनेऊ' अब 'महाछबि देई' और कर मुद्रिका तो 'चोरि चितु लेई'। आगे का वर्णन तक डगमगा गया। विकट भ्रुकुटी सुन्दर हो गई क्योंकि अब तो वर मुद्रा होनी ही चाहिए। माताजी ने (दूसरे नखशिख में) राम के बालरूप को नख से शिख तक देखा। ध्वज (साधनासिद्धि, सतोगुण वृद्धि), कुलिश (विघ्न भंजन, तमोगुण नाश) और अंकुश (मनो नियन्त्रण, रजोगुण नियन्त्रण) के चिह्न। 'नूपुर धुनि चरणों का सहलाना व्यञ्जित करती है। रूरा हरिनख नृसिंहावतार की याद दिलाता है। हरिनख है शक्ति, विप्रचरण है शील। सिर के बाल सँवारना और पीत अंगुलिया पहिनाना पीछे हुआ। पीत अंगुलिया स्नेह का आवरण है। वह कौशल्या की गोद वाला अज का प्रेमवश्य रूप तर्कगम्य नहीं किन्तु भावगम्य है

अतएव 'सो जानहिं सपनेहु जिन देखा'। भुशुण्डिजी ने (सातवें नखशिख में) भी राम का यही बालरूप देखा जिसमें वात्सल्य की अपेक्षा श्रद्धा अर्पण विशेष था। वे भी नख से शिख की ओर बढ़े किन्तु पदों में चौथा चिन्ह कमल (अनुग्रह-रूपी लक्ष्मी का उत्पत्ति स्थल) भी देखा—किलकनि चितवनि (हास तथा सुदृष्टि) भावति मोही—यह है 'छल बल बचन' के साथ—भवमोचन चितवन—नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी—जननि सुखदाई अजिर बिहारी रूप भुशुण्डि ने देखा और 'जो भुशुण्डि मन मानस हंसा' रूप था वह मनु शतरूपा ने देखा—यह शक्तिसंयुक्त रूप था (पहिला नखशिख)—ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनों से युक्त—प्रेमप्रवणता के कारण शिख से नख तक यह रूप देखा गया—सभी नखशिखों का सार और साथ ही शक्तिमत्ता का पूर्ण वैभव है इसमें—उनकी वामांगिनी हैं आदि शक्ति (लीला, करुणा) छविनिधि (लक्ष्मी) जगमूला (माया)—यही है उस शक्ति का अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत रूप—यह है शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद रूप—'नील सरोरुह नीलमणि नीलनीरधर श्याम' वाले दोहे का महत्व—प्रीतिमार्गियों के लिये मानवी नखशिख है और भीतिमार्गियों के लिये विराट नखशिख है।

८—राम की लीला

(उनका व्यवहार—नारी जनों के प्रति)

सती को 'जोरि पाणि' प्रणाम—प्रभुरूप का दिग्दर्शन—वृन्दा—पातिव्रत्य माहात्म्य। शतरूपा। देवि, माँगु वर जो रुचि तोरे। सभी नारियाँ दोषमुक्त—ताड़का क्रोध की प्रतीक एवं सूर्पणखा काम की प्रतीक—अनुग्रह के साथ निग्रह गौतमनारी—जनकपुर की नारियाँ। जुवती भवन झरोखन्ह लागीं—जगन्त के प्रकरण में नारी सम्मान और नारी संरक्षण—ग्रामवधूटियाँ, शबरी। मानहुँ एक भगति कर नाता—साथ ही नारदोपदेश में 'प्रमदा सब दुख खानि' की बात—नारी का सेव्यरूप और भोग्यरूप—नारी शब्द से तात्पर्य— तारा और मन्दोदरी—एक नारीव्रत, अनसूयोपदेश का तात्पर्य—लौकिक पक्ष में भी और भक्तिपक्ष में भी—नरनारी में प्राकृतिक, मनोवैज्ञनिक और समाजव्यस्था की दृष्टियों से अन्तर तथा उसकी पावनता अपावनता।

९—राम की लीला

(उनका व्यवहार हरिजनों, गिरिजनों अरि जनों के प्रति)

निषादराज—निकट बैठाई, लियेहु उरलाई, । सखा सुजाना—मनुष्य के स्वाभिमान और उज्ज्वलता को ऊँचा उठाने वाले तत्त्व—लक्ष्मण ने भी भ्राता और सखा कहा, फिर तो सब ने अपनाया, मन क्रम बचन

धरम अनुसरेहू, सदा रहेहु पुर आवत जाता, शिक्षक नहीं भ्रातृत्व की वृत्ति—चित्रकूट के कोल किरात, किष्किंधा के बानर (काम प्रधान), बालि वध, अंगद का युवराजत्व, सुग्रीव का 'भय देखाइ' ले आना—प्रभु तरु तर कपि डार पर—साहेब सील निधान—सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू—लंका के राक्षस (क्रोध प्रधान), राक्षसत्व का उन्मूलन—रामेश्वर स्थापना, आशावादी सन्देश "जौ नर होइ चराचर द्रोही" को—काज हमार तासु हित होई—गाँव, पुर, नगर के अनार्य—"अब गृह जाहु सखा सब" का साधनापरक अर्थ—सखा है जीव, गृह है साधना का मुकाम।

१०—राम की लीला

(उनका व्यवहार—स्वजनों, पुरजनों, परिजनों के प्रति)

स्वजन—पितृप्रेम, गुरुप्रेम, बन्धुप्रेम पत्नीप्रेम (कर्त्तव्यों के साधक रूप में) सीय लखनु जेहि विधि सुख लहहीं इ०—पुरजन और परिजन समाज—नहि अनीति कछु नहिं प्रभुताई, जन्मभूमि और उसके निवासी—राम की दिनचर्या, अनुज सखा सन भोजन करहीं इ०—अर्थात् खिलाकर खाय, बड़ों बूढ़ों का आज्ञानुवर्ती हो, देशवासियों को सुखी करे, संस्कृति निर्देशक ग्रन्थों का अनुशीलन करे, ब्राह्म मुहूर्त में उठकर प्रणम्यों को प्रणाम करे, और उनसे प्रेरणा पाकर अपने दैनिक कार्यों में ईमानदारी से जुट जाय, अरिजन-समाज-निग्रह और अनुग्रह दोनों में प्रवीण।

११—राम की लीला

(उनका व्यवहार—भक्तजनों के प्रति)

राम ऐतिहासिक व्यक्ति ही नहीं, गोस्वामीजी के इष्टदेव भी है—इष्टदेव की लीला के अनुशीलन से ही विशेष लाभ—अतएव उस लीला की दिव्यता से चौंकना नहीं चाहिए—लीला शब्द का अर्थ—अध्यात्म पक्ष में रामलीला एक बढ़िया रूपक है—अधि दैव पक्ष में (क) उसकी अलौकिकता, (ख) लीला के सामान्य कृत्यों में भी विपर्यय जनित सौन्दर्य का आनन्द, (ग) निग्रह में भी अनुग्रह की छटा—"सोइ जस गाय भगत भव तरहीं, कृपासिंधु मानुस तनु धरही" मानस में राम और रामभक्तों ही की चर्चा—प्रभु राम का व्यवहार सती के प्रति—मनु शतरूपा के प्रति—कौशल्या के प्रति, ताड़का के प्रति। जाय-जाय सुख दीन्ह—जटायु का चतुर्भुज रूप, विराध, कबन्ध, शुक आदि का शाप मोचन—जयन्त का निग्रह, छाया सीता प्रकरण—प्रभु राम का व्यवहार सूर्पणखा के प्रति, बालि के प्रति, समुद्र के प्रति, विभीषण के प्रति—स्वयंप्रभा और सम्पाती के प्रति, खरदूषण युद्ध और लङ्कायुद्ध में शक्ति-प्रदर्शन—एक से अनेक होने में

और पंच तत्वों का धर्म परिवर्तन कर देने में शक्ति का प्रदर्शन—विवाह का वैभव—देवों के प्रति कृपा क्योंकि दानवी वृत्ति अवाञ्छनीय—उनकी निर्हेतुकी कृपा का सूर्यप्रभा की भाँति सम विषम विहार।

१२—राम का धाम

धाम का अर्थ—रूप के भिन्न-भिन्न ध्यान तदनुकूल भिन्न-भिन्न धाम, निराकार रूप का धाम सम्पूर्ण विश्व—सन्त हृदय तीर्थस्थल, विभूतिमत् श्रीमत् ऊर्जित पदार्थ, उसके विशिष्ट धाम हैं—सुराकार रूप के धाम हैं क्षीरसागर, बैकुण्ठ, नित्य साकेत, जिनका विशद वर्णन मानस में किया ही नहीं गया। इस रूप का विशिष्ट धाम होना चाहिये भक्तों का मानस—नराकार रूप का धाम है सम्पूर्ण भारत—विशेषत: चित्रकूट और अयोध्या, जो "सुराज्य" और "रामराज्य" के प्रतीक हैं—जहाँ सुराज्य या रामराज्य होगा वहीं राम का धाम होगा—सहयोगी जीवन ही राम का धाम है—अयोध्या की नगरनिर्माण व्यवस्था एवं वहाँ के राजा प्रजा का कर्मठ सात्विक जीवन।

उत्तरार्ध

१३—लक्ष्मण और भरत

मीनधर्मी संयोगी भक्त लक्ष्मण और चातकधर्मी वियोगी भक्त भरत—राम अलक्ष्य हैं अतएव उनके सान्निध्य के लिए लक्ष्मण सा भाग्य सब का नहीं किन्तु रामराज्य का मुनीम होना सम्भव है अतएव भरत ही भक्त के प्रकृत आदर्श हैं—विरह और प्रन्यासी भाव—दिल और दिमाग का सन्तुलन—भक्ति भक्त भगवन्त गुरु—लक्ष्मण की उग्र प्रकृति—राम के प्रति परम श्रद्धा ही के कारण वैसा स्वभाव—राम का व्यक्तित्व उनके आदेश से भी अधिक प्रिय—भरत का सौम्यत्व सुग्रीव और विभीषण का विपर्यय—करइ स्वामिहित सेवक सोई—शङ्काओं तथा लोभ क्रोध काम की विषम परिस्थितियाँ—तदीयता की पराकाष्ठा। चित्रकूट सभा का विवेक—लक्ष्मण और भरत के प्रश्न। दोनों के एक दूसरे से प्रश्न। दोनों के एक दूसरे के प्रति उद्गार।

१४—सद्गुरु शङ्कर

दो भावधाराएँ अतएव दो प्रकार के आराध्य। एक ओर है निवृत्ति, कर्म-सन्यास, ज्ञान, शान्ति, व्यक्तित्व की निर्द्वन्द्वता, ऊर्जस्विता, कृति का प्रभाव—दूसरी ओर है प्रवृत्ति, कर्मयोग, भक्ति, आनन्द सामाजिक सुव्यवस्था, परम सौंदर्य, वस्तु का प्रभाव। अग्नि उपासना का विकसित रूप शिव पूजा और सूर्य उपासना का विकसित रूप विष्णु पूजा। प्रतीक पूजा—विश्वात्मा और

विश्वंभर। साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता इष्टाद्वैतवाद तथा ध्येयाद्वैतवाद। आत्मकल्याण अथवा शिवतत्व की रूप कल्पना—जगत् कल्याण अथवा विष्णुतत्व की रूप कल्पना। व्यक्ति-कल्याण-कामी दानवों एवं अघोरियों से विष्णु की अनबन—किन्तु जगदगति तो सर्वकल्याणोन्मुखी है—बुद्धिवादियों की लात खाकर भी विष्णु अडिग—शिव ही राम कथा के आदिप्रवर्तक—गोस्वामीजी की शिवभक्ति। मानस के पात्र शिवभक्त भी हैं—अयोध्याकाण्ड का प्रथम श्लोकः—(१) ऐश्वर्य और वैराग्य शिवत्व और रुद्रत्व, अमृत और विष में भी सन्तुलन रखने वाले; (२) क्रिया शक्ति (दुर्गा) ज्ञानशक्ति (चन्द्रकला) और भावशक्ति (गङ्गा) के साथ सतोगुण (भस्म) रजोगुण (व्याल) और तमोगुण (विष) का विलास सँभालने वाले (३) शर्व (जगत संहारक) होकर भी सर्वगत शिव हमें सम और विषम परिस्थितियों में अडिग रखें—यह है उस श्लोक का भाव।

१५—मानस के अन्य प्रधान नर पात्र

मानस प्रधानतः पुराणग्रन्थ—नवाह पाठ से सम्बन्धित नौ प्रधान भक्त शङ्कर, सीता, दशरथ, लक्ष्मण, भरत, जनक, हनुमान, विभीषण और। भुशुण्डि दशरथ चरित्र की पाँचजन्य संस्कृति—नम्र व्यवहार—उनकी अनासक्ति—राग द्वेष का उदात्ती कृत रूप—सूझ-बूझ का असन्तुलन—प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व में प्राण हानि—जनक चरित्र—चित्रकूट के निर्णय में सहायक—हनुमत् चरित्र की चार विशेषताएँ (पवनकुमार, खलवन पावक, ज्ञानघन, शर चाप धर राम का हृदय आगार में निवास)—नारद चरित्र—वशिष्ठ और विश्वामित्र—सम्मान्य गुरु।

१६—मानस के प्रधान नारी पात्र

नारी चरित्र माँज सँवार कर चित्रित—सती का मोह—सीता का चरित्र—वे विद्यामाया, पराभक्ति, महालक्ष्मी और आदर्श नारी हैं। उनका रूप सौन्दर्य, सौकुमार्य, कष्टसहिष्णुता, राम के प्रति अद्वितीय तदीयता, सामाजिक मर्यादा, कौटम्बिक व्यवहार, श्रम तथा गृहकार्य, चरित्र की रक्षा मनोबल के आधार पर। कहियत भिन्न न भिन्न। कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा ज्ञानवृत्ति, भाववृत्ति और क्रियावृत्ति के तुल्य हैं—व्यवहार कुशल और क्रियाशीला सुमित्रा, भावप्रवण सरलहृदय कैकेयी, विशाल हृदया विवेकमयी कौशल्या—वाल्मीकीय रामायण से बहुत परिमार्जित—क्रोध, लोभ और काम की मूर्तिमन्त रूप ताड़का, मन्थरा और सूर्पणखा—इन विकृत शक्ति, विकृत बुद्धि और विकृत चित्तवाली नारियों के चरित्र का भी परिमार्जन—तारा और मन्दोदरी का उज्ज्वल चरित्र।

१७—गोस्वामीजी और नारी

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः—क्षेत्रभूतास्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्—नारी शब्द का संकुचित अर्थ—बीज में पितृ प्रधानत्व, विस्तार शीलता, उत्क्रमण की जीवधर्मिता निरपेक्ष पूर्णता, अनेक की संख्या में एक ही क्षेत्र की और युगपत आकर्षण, स्वार्थशीलता, भोक्तृत्वगुण आदि—क्षेत्र में मातृप्रधानत्व, सङ्कोचशीलता, बाँधने की प्रवृत्ति अर्थात् मायाधर्मिता, मातृत्वगुण के लिए बीज पर आश्रित, एक समय एक ही के प्रति तदीयता, त्यागशीलता, भोग्यता आदि—क्षेत्र का लक्ष्य है बीज का हित, बीज का लक्ष्य है जगत् का हित—क्षेत्र का धर्म पातिव्रत्य, बीज का धर्म लोक कल्याण—चारित्र्य बल की प्रधानता—अनुचित मेलजोल से हानि—स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुल मात्मानमेव च, स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति—पहिला प्रतिबन्ध विवाह का—दूसरा प्रतिबन्ध धर्म या कर्त्तव्यभिन्नता का—तीसरा प्रतिबन्ध कामोपकरणरूप प्रमदानिन्दा का—वह पूज्य है. कुटुम्बपालिका है, गृहदीप्ति है, महाभागा लक्ष्मी है किन्तु प्रमदारूप में वही उत्पथनेत्री है, स्नेहशून्या है, अष्टाङ्गदुर्गुण सम्पन्न है निरिन्द्रिय (सहज जड़) अमन्त्र (अज्ञ) और अनृत (अपावन) है—गृह-व्यवस्था नारी के लिए, समाज व्यवस्था पुरुष के लिए—पुरुष प्रभुत्वशील, नारी भावशील—उसका विवेक असन्तुलित न होने पाये इसलिए नियन्त्रण आवश्यक—उसकी मर्यादा भङ्ग न होने पावे इसलिए नियन्त्रण आवश्यक—विरक्ति और संयम उसके लिए नहीं किन्तु पुरुषवर्ग के ही लिए विशेष, अतएव उन्हीं के लाभ के लिए नारी-निन्दा का प्रकरण है—सम्मान, संरक्षण और संगत्याग की अधिकारिणी—'स्रक् चन्दन वनितादिक भोगा' का तात्पर्य—उक्तियों का देशकाल पात्र के अनुसार सहृदयतापूर्वक मर्म समझा जाय।

ग—खण्ड (मानस के उपाख्यान)

१८—मानस के उपाख्यान

अहल्या उद्धार, बालि वध और भुसुन्डि चरित्र। मानस की प्रत्येक उपकथा साभिप्राय है—प्रतापभानु की कथा, नारद मोह की कथा, शिव विवाह की कथा उपक्रम रूप से और भुसुन्डि की कथा उपसंहार रूप से—प्रवचनों में उपकथाओं के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' पर अवश्य ध्यान रखा जाय। अहल्योपाख्यान, प्रभु शील देखते हैं समाज चारित्र्य देखता है। बालि वधोपाख्यान, बालि के दो प्रश्न—प्रभु के सभी कृत्य परदे की आड़ से। भुशुन्डि उपाख्यान—शूद्रों को वेद-मंत्र और मंत्र प्रवेशाधिकार। भक्ति ज्ञान विज्ञान विरागा, योग चरित्र रहस्य-विभागा। कलि वर्णन। ज्ञान पुरुष है भक्ति नारी है, ज्ञान दीप है भक्ति मणि है,

मणि प्राप्ति के तीन साधन राम कृपा, भाव सहित उत्खनन, सत्संग। मानस रोग—कलि का युगधर्म, इरिषा परुषाच्छर लोलुपता भरिपूरि रही समता विगत—कलि के तीन गुण।

१९—मानस के उपाख्यान

पुष्प वाटिका

पुष्पवाटिका प्रसङ्ग का लौकिक और आध्यात्मिक अर्थ—पक्षियों तथा 'बाग तड़ाग' का वर्णन, कालिदास की पंक्तियों से तुलना—सिय शोभा लता ओट, सुषमा शील निधान नखशिख। 'गहि पानी' और 'पुनि आउब इहि बिरियाँ काली' के अर्थ—खसी माल। सुनयना = हरि कृपा, भवानी = सात्विक श्रद्धा सुभग सयानी सखियाँ = हित प्रद भावनाएँ, (भाव दृष्टि एवं शास्त्र दृष्टि), नारद वचन = प्रारब्ध की प्रेरणा, कंकण किंकिणि ध्वनि = भजन कीर्तन में गीत वाद्य, लता ओट = शास्त्र वाक्य, पिता प्रण = लोक धर्म अथवा सदाचार मर्यादा, मृग विहंग तरु = पृथ्वी आकाश और अन्तरिक्ष की वस्तुएँ, भवचाप = भव बन्धन, पूर्वानुराग = भगवद् विरह, सीता = जीवात्मा। यह भी हो सकता है आध्यात्मिक पक्ष का अर्थ। राम के नखशिख का भी इसी प्रकार आध्यात्मिक अर्थ।

२०—मानस के उपाख्यान

(मैथिली परिणय)

मिथिला आगमन—आठों सखियों का वर्णन, हिय हरसहिं बरसहिं सुमन, सुमुखि सुलोचनि वृन्द। देखन चले धनुष मख साला। धनुष यज्ञ के घटना-चक्र की विविधता के साथ त्वरा। सखी कहहिं प्रभु पद गहु सीता, करत न चरन परस अति भीता। सत्ता के द्वैत क सहारे भाव का अद्वैत पुष्ट होता है। कोलाहल और खर भर। परशुराम आख्यान, शान्ति प्रिय विप्रत्य के साथ रोष रुष्ट क्षत्रियत्व की असंगति। शैवधनु = संहारक शक्ति, वैष्णव धनु = व्यवस्थापक शक्ति। दूलह राम का घोड़ा—शानदार परिछन—पद प्रक्षालन—भाँवरी एवं सिन्दूरदान, लहकौरि की प्रथा, मैथिली परिणय के चतुरंगी महानाटक का प्रथमाङ्क है नगर-दर्शन, द्वितीयाङ्क है वाटिका प्रसङ्ग, तृतीयाङ्क है परशुराम संवाद सहित धनुषयज्ञ चतुर्थाङ्क है विवाह मण्डप तथा परिणय योजना, जिसका विष्कंभक समझिये बरात अगमन के उल्लास की झाँकी। जो सम्पदा नीचगृह सोहा, सो बिलोकि सुरनायक मोहा। तुम परिपूरन काम जानि सिरोमनि भाव प्रिय। प्रेम और ऐश्वर्य के रसासक्त आख्यानों की प्रेक्षणीयता।

२१—मानस के उपाख्यान

(केवट, शबरी, सुबेल)

केवट प्रसङ्ग—असयानी बानी—पण्डितम्मन्य, मूर्ख—कृपाल प्रभु—देश-काल पात्र का अटपटापन ही हास्य का कारण, वह राग की कोटि का भाव है, हृदय की निश्छलता सब से बड़ी वस्तु। शबरी प्रसङ्ग, कन्द मूल फल सुरस अति, इस नवधा भक्ति की विशेषता है इसमें साम्प्रदायिकता न बाह्य साधनों की अपेक्षा, न विद्या वंश वैभव की कोई शर्त—सुवेल शैल प्रसङ्ग, दो चित्र, सपार्षद रूप का ध्यान और उसकी विशेषता। नेता का मुख्य बल है आत्मबल, फिर है उसका 'रिजर्व फोर्स' (आवश्यकता पर काम आने वाला अतिरिक्त बल) जो दूर रहकर (अव्यक्त होकर) भी घनिष्ठतया सम्बद्ध रहता है—सपार्षद रूप का पंचायतन। कवि गोष्ठी।

२२—मानस के उपाख्यान

(सुन्दरकाण्ड के हनुमान, विभीषण, समुद्र)

हनुमदाख्यान (सात्विक भक्त)—अध्यात्म पक्ष का अर्थ—राम = कल्याण भाव, रावण = ऐश्वर्यभाव, सीता = शान्ति, अशोक = मद का वैभव, हनुमान् = सद्विचार, सुरसा, सिंहिका लंकिनी = सात्विक, तामस, राजस सिद्धियाँ, लंका = मोह के ऐश्वर्य का अहं—'नाम पाहरू दिवस निसि' वाले दोहे का मर्म—विभीषणाख्यान (राजस भक्त)—वैद्य गुरु सचिव की महत्ता—परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस—रावण की लात—देहु जनि खोरि—दाँतों के बीच जीभ—विभीषण की मन कामना—चतुर्विध भक्ति और षड्विधि प्रपत्ति के दृष्टान्त—'कहु लंकेश'—सकुचि—कुशली कौन ? जो भजन करे, ध्यान धरे एवं प्रताप रवि की अनुकूलता लावे—परमात्मा का स्वभाव क्या ? विषयी को भीतिमार्ग से, साधक को (भक्तिमार्गी, ज्ञानमार्गी, वैराग्यमार्गी या योगमार्गी को) प्रतीति मार्ग से और सिद्ध को (मन से प्रेमपूर्ण, सेवापूर्ण, निष्ठापूर्ण, वाणी से नीतिपूर्ण एवं क्रिया से परार्थपूर्ण को) प्रीतिमार्ग से आगे बढ़ाना—समुद्राख्यान (तामस भक्त)—हनुमानजी सिद्ध जीव, विभीषण साधक भक्त जीव, समुद्र विषयी जीव—कुटिलता के आवरण वाले जीव को प्रीति का रस भय के मार्ग से ही मिलता है—प्रभु का आतंक कुटिलता के आवरण का भंजक—अतएव मर्यादा मार्ग—प्रत्यक्ष शक्ति के सन्मुख समुद्र नतमस्तक—' ढोल गँवार शूद्र पशु नारी'' इत्यादि का अर्थ—यह दृष्टान्त वाक्य है जिसमें 'गँवार', 'पशु', 'अधिकारी' तथा 'ताड़न' के अर्थ विचारणीय हैं—संरक्षण अथवा मातृत्व मर्यादा ही 'ताड़न' की व्यञ्जना—नारी शब्द का सीमित अर्थ।

(घ) खण्ड—(मानस के कुछ प्रसंग)

२३—मानस का मङ्गलाचरण

'वाणी विनायकौ' हैं उक्ति और बुद्धि अथवा उच्चार और विचार की

प्रेरक शक्तियाँ—काव्य का पंचांग है वर्ण, अर्थसंघ, रस, छन्द और मंगल—शब्दस्थापना कौशल में वर्णविन्यास चातुरी का महत्व है—अर्थसंघ का उद्देश्य है न केवल ज्ञानवर्धन किन्तु अनेक विध आनन्दवर्धन—वह 'बुध विश्राम' के साथ 'सकल जन रञ्जन' भी हो—मानस में इसी अर्थसंघ के कारण काव्य और शास्त्र का अपूर्व सम्मिश्रण है—मानस के नये नये रस—सब रसों का उदात्तीकरण—छन्दों का सार है सङ्गीतात्मकता अथवा नादसौन्दर्य—श्लोक में अपि और च की विशेषता—काव्य-रचना का असली उद्देश्य है मंगल तत्व अथवा हित—सुरसरि सम सब कहँ हित होई—स्वान्तःसुख प्रकाशित किया जाकर सर्वान्तःसुख हो जाता है—सज्जनों के विमल उर की शोभा मङ्गलमय काव्य मुक्ताहार ही है—पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य के छहों उद्देश्यों का मङ्गल ही में अन्तर्भाव—काव्य का असली उद्देश्य है जीवन का उन्नयन—वर्णानाम् में उक्ति-वैचित्र्य वाली वक्रोक्ति सहित अलंकारवाद, अर्थसंघानाम् में ध्वनिवाद, रसानां में रसवाद, छन्द सामपि में गुणों सहित रीतिवाद (जिसका उद्देश्य है भावानुकूल शब्दध्वनि, वाक्यप्रवाह एवं यतिगति की व्यवस्था) और मङ्गलानाम् में औचित्यवाद समाहित है—कर्तारौ कहा गया न कि दातारौ—काव्य का असली कर्ता है कविप्रतिभा का सूत्रधार—कवि का दर्जा साधक से ऊँचा—सरसरि रूपक की विशेषता—रघुवंश के मंगलाचरण से तुलना—मानस काव्य ही नहीं, साधना ग्रन्थ भी है।

२४—राम जन्म

वैष्णवभाव है संरक्षण क्रिया—उसकी सहायक रूपा ही हैं सृजन और संहार की क्रियाएँ—यदि इन दोनों के वरदान से असन्तुलन बढ़ा या रावणत्व आया तो जगद्व्यवस्था के लिए जगनिवास प्रभु को प्रकट होना पड़ता है—'जग निवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक विश्राम' के चार अर्थ—ब्रह्माकृत स्तुति में अद्वैत वेदान्त—प्रथम छन्द में सुराकार की, दूसरे दो छन्दों में निराकार की और चौथे छन्द में नराकार की ध्वनि—कौसल्याकृत स्तुति में विशिष्टाद्वैत वेदान्त—प्रथम छन्द में पर, द्वितीय में अन्तर्यामी, तृतीय में व्यूह और विभव, एवं चतुर्थ में अर्चावतार के संकेत—रामनवमी का महत्व—नव के अङ्क का महत्व—संसार की विषमताओं में विलसने वाला चरम-अङ्क जो चिर पुरातन होकर भी चिर नवीन है और सब तरह पूर्ण है।

२५—सु-राज्य

स्वाम्यमात्य सुहृद् कोष राष्ट्र दुर्ग बलानि च—राज्य के सप्त अङ्ग हैं—(१) स्वामी (राजा, राष्ट्रपति, मन्त्रिमण्डल, कार्यपालनाधिकारी इत्यादि) (२)

अमात्य (सचिव, विज्ञान सभासद, राजनैतिक दलों के पदाधिकारी आदि) (३) सुहृत् (रानी, अवैतनिक सलाहकार, शासन तथा शासक के सुविधा व्यवस्थापक, निर्हेतुक हितचिन्तक आदि) (४) कोष (५) राष्ट्र (देश) (६) दुर्ग (राजधानी) और (७) बल (सेना, पुलिस, व्यवस्थाप्रबन्धक आदि)—राज्य का उद्देश्य है जनसमाज के कण्टकों का उन्मूलन और 'सुख सम्पदा सुकालु' का प्रवर्तन—राजा को अर्थात् वर्णाश्रम धर्म, युगधर्म विधिधर्म इत्यादि के प्रयोक्ता को विवेकी होना ही चाहिए—'पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित विवेक'। सचिवों को (पदेन परामर्शदाताओं को) अनासक्त रहना ही चाहिए—सामूहिक स्वार्थ के प्रतिनिधि सचिव और निजी स्वार्थ के इच्छुक सचिव में अन्तर—क्षत्रिय वर्ग और ब्राह्मण वर्ग—सचिव वर्ग निःस्वार्थ सलाहकार मात्र रहे—सुहृत् (रानी) के लिए सुमति (सुविचार) शुचिता (सुचारित्र्य) सुन्दरता (सुव्यवहार) आवश्यक है—उसे शान्ति का मूर्तिमन्त रूप होना चाहिए—विवेक और शान्ति का जोड़ा आवश्यक है—राजकोष की सम्पन्नता धन से ही नहीं धर्मार्थ काम से एवं चारित्र्य और परम आस्तिक्य से है—ईश्वर निष्ठा का महत्व—राष्ट्र अथवा देश को सुहावन और पावन, (व्यवहार और विचार में तथा सुव्यवस्थित योजना और सात्विकता वर्धन में) होना ही चाहिए—अवध तहाँ जहाँ रामनिवासू—दुर्ग अथवा राजधानी को शैल के समान समृद्ध तथा केन्द्रीय भाव से सब कहीं जीवन प्रसारक होना चाहिए—सुदृढ़ और सारगर्भ—सुव्यवस्था द्वारा कर अलक्षित रूप से वहाँ आता और लक्षित रूप से निर्झर की तरह प्रवाहित होता है—मनु और कालिदास की उक्तियाँ—बल या सेना आदि का यम नियम पूर्ण सुव्यवस्थित और स्वानुशासित रहना आवश्यक है—विवेक नरेश का प्रतिद्वन्दी है मोहमहीपाल, जिस पर विजय पाना आवश्यक है—क्षुद्रस्वार्थ का जन्म होता है इसी मोह से—सुख (आन्तरिक वस्तु) सम्पदा (बाह्य वस्तु) और सुकाल (दोनों का सन्तुलन रखने वाली परिस्थिति)—सुराज्य के दर्शन पाने हों तो चित्त रूपी चित्रकूट में राम बसाये जायँ।

२६—प्रभु-गीता

प्रभु-गीता साधक जिज्ञासु भक्त के लिये कही गई जब कि रघुनाथ गीता सर्वसाधारण को व्यवहार मार्ग में उन्नत करने के लिए कही गई—शोक, मोह, भ्रम दूर करना हो तो प्रभु की वाणी मन, बुद्धि, चित्त की एक तानता से सुनी जाय—समझाना-बुझाना—माया का 'मैं मेरा तू-तेरा' पन विद्या और अविद्या—ज्ञान और वैराग्य के अर्थ—ईश्वर और जीव का भेद—धर्म ते बिरति योग तें ज्ञाना; ज्ञान मोच्छप्रद वेद बखाना—भक्ति क्या

है ?—ज्ञान से उसकी श्रेष्ठता—सन्तों की अनुकूलता—विप्रचरण अति प्रीती—और श्रुति रीति से स्वकर्म निष्ठा—इसका फल होगा विषयों से वैराग्य और प्रभु में अनुराग—फिर उभय प्रकार की नवधा भक्ति और हृदय में प्रभु का निरन्तर वास— शबरी को कही हुई नवधा भक्ति से तुलना—यह प्रभु-गीता वाद-विवाद वाले दार्शनिकों की उलझनों से मुक्त है।

२७—वर्षा और शरद

पहिले दोहे में वर्षागम का क्रम दूसरे में उसका परिणाम तीसरे में शरदागम के लक्षण और चौथे में उसकी प्रौढ़ता का परिणाम—चारों दोहों में क्रमशः सावन, भादों, क्वार, कार्तिक की घटा—"प्रियाहीन डरपत मन मोरा" के अर्थ—"भगति, विरति, नृपनीति विवेका" की विचार धारा—बाह्य वस्तुओं का मूल्य निर्धारण अपने ही मनोभावों के अनुसार—सन्त सुर सेवा, वर्णाश्रम धर्म, माया जीव ब्रह्म के लक्षण, सन्त खल बुध अबुध भेद, कर्मज्ञान उपासना की बातें, व्यवहार नीति के तत्व, इन अनेक ज्ञातव्य विषयों पर प्रकाश—वर्षा और शरद् के व्यापार परस्पर भिन्न, परन्तु दोनों अपने समयानुसार राम को परम सुहावने लगे—प्रकृति का आलम्बन रूप, मानवीकरण और आध्यात्मिक संकेत—सम भाव वाले श्लोक—धैर्य और झुंझलाहट।

२८—धर्म रथ

भगवद्गीता से धर्मरथ के प्रसङ्ग की तुलना—श्रवण और दर्शन का अन्तर—खण्डात्मक अखण्डात्मक अथवा विश्लेषणात्मक संश्लेषणात्मक ज्ञान—अर्जुन में करुणा और कर्तव्य का द्वन्द्व, विभीषण में साधन और उद्देश्य का द्वन्द्व—राम का उत्तर तथा उनकी उपदेश प्रणाली—पशुबल नहीं, आत्मबल चाहिए—उत्साह और लगन ही धर्मरथ के दो चक्के—धर्म है मानव के दिव्यत्व की प्रवृत्ति—धर्मरथ की अपराजेयता के प्रतीकरूप सत्य और अहिंसा परम रक्षणीय हैं—दोनों है मति और कृति से सम्बन्धित—कुसुम कोमल अहिंसा वज्रादपि कठोर सत्य पर आश्रित—सत्यनारायण की कथा का रहस्य—बल बुद्धि, संयम और परहित व्रत रूपी घोड़े—सारथी सुजान आस्तिक्य भाव अर्थात् नर सेवा को नारायण सेवा मानने वाला—समता के दोनों ओर कृपा और क्षमा की लगामें हों—समता है सन्तुलन, सामञ्जस्य, समग्र दृष्टि—क्षमा उत्पीड़क को पश्चात्ताप सिखाती और कृपा उत्पीड़ित को उपर उठाती है और इस प्रकार दोनों को समता के अनुकूल बनाती है—अस्त्र शस्त्र की सद्गुण सम्पन्नता में विरति (अनासक्ति) ढाल है और विप्र गुरु पूजा (श्रेष्ठों के प्रति श्रद्धा) कवच है जो विषमता के प्रहार से हमारी रक्षा करते हैं—यही है क्षुद्र अथवा असत् के

प्रति विराग और महत् अथवा सत् के प्रति अनुराग—इसी प्रकार राग विराग उदात्तीकृत होगा—संतोष, दान, बोध और शिव सङ्कल्प (शम यम नियम आदि) ही चार अस्त्र है जिनके प्रहार से संसार की विषमता मिटाई जा सकती है—सन्तोष और दान तलवार और फरसा कहे गये क्योंकि उनका प्रभाव अपनी परिस्थिति तक सीमित रहता है—विचारों की बोध वृत्ति ही साँग (शक्ति) है जो बाणों की तरह दूर-दूर तक प्रयुक्त हो सकती है—शिव संकल्पों का आश्रय स्थल हो अमल तथा अचल मन और उनका प्रयोग हो व्यावहारिक ज्ञान रूपी कोदण्ड से—इन्हीं शस्त्रों से विषमता कटती है।

२६—राम-राज्य

राम राज्य—त्रयलोका हर्षित भये—गये सब (त्रिविध) शोका—राम प्रताप विषमता खोई—शोक निवृत्ति की त्रिवाचा पुष्टि। राम प्रताप के प्रभाव से धर्म परायणता—वर्णाश्रम धर्म, स्वधर्म, चतुश्चरण धर्म, निर्दम्भ धर्म। रोग, अज्ञान, दारिद्रय की निवृत्ति—काल, कर्म, स्वभाव, गुण कृत दुःख—चेतन जगत् और जड़ जगत् पर प्रभाव।

३०—रघुनाथ गीता

जीवन विकास का चतुःसूत्री मूल मन्त्र—(१) नर शरीर कुछ करनी के हेतु मिला (२) वह करनी विषय सुखों के लिए नहीं किन्तु भव सन्तरण के लिए हो (३) ऐसी करनी भक्ति के सहारे ही बनेगी (४) निश्छल मनोवृत्ति ही उस भक्ति का यथार्थ स्वरूप है—नेता हित की बात समझावे अवश्य—मानव के लिये मानवी देह ही ध्रुव सत्य—मोक्ष है सीमाओं से मुक्ति—क्रिया का महत्त्व—कृति निन्दक व्यक्ति, मन्दमति और आत्म हन्ता है—नर शरीर का उद्देश्य विषय सुख नहीं—काल कर्म स्वभाव गुण तथा ईश्वर—भवसागर सन्तरण का अर्थ है विषमताओं की सीमा पार कर समता की शान्ति और आनन्द का असीम उपभोग करना—भक्ति सुगम, सुलभ, सुखद—विप्रपद पूजन है ज्ञान का श्रद्धामय रूप और शङ्कर पूजन है वैराग्य का श्रद्धामय रूप—भक्त के दस गुण अनारम्भ, अनिकेत आदि—इन गुणों में राग विराग के क्षेत्र—उपदेश आदेशात्मक भाषा में न हो।

परिशिष्ट

विनय पत्रिका

मानस के भक्तिसिद्धान्त का पूरक ग्रन्थ—राम के समीपियों को साधा गया और अनुकूल अवसर पर सक्रिय सहायता की याचना की गई—प्रारम्भ के

७४ पदों में भरत लक्ष्मण मारुति सीताजी, शंकरजी, गणेशजी, सूर्य, देवी, स्थानदेवता, गङ्गा, यमुना, काशी आदि की स्तुति, फिर दो पदों में आत्म-परिचय, तदनन्तर पत्रिका के मुख्य विषयरूप विनय के अनेकानेक पद, फिर अन्तिम चार पदों में आत्मनिवेदन का सारांश, पत्रिका स्वीकृति की प्रार्थना, दरबारियों के प्रयत्न और स्वीकृतिसूचक 'सही'—साधक अपनी पात्रता सिद्ध करे—असमर्थ है तो उसका स्पष्टीकरण करे—गोस्वामीजी ने अनेक बार रट लगाई—उनमें जनता का हृदय बोला है—असफलताओं का स्वीकरण है हीन ग्रन्थियों का अभिव्यक्तीकरण— वह भी, प्रभु की महत्ता के ध्यान के साथ—शरणागति के छः अंग—अनुकूलता के संकल्प में क्रिया पर जोर—प्रबोध, पश्चात्ताप और प्रतिज्ञा के पुट—प्रतिकूलता के वर्जन में कृपा पर जोर—हमारे प्रयत्न निष्फल रहे, प्रभुकृपा से ही माया के पाश कटेंगे—रक्षा के विश्वास में विरद पर जोर—गोप्तृत्ववरण में भक्त की उत्कण्ठा पर जोर—रिरिया, मचला, निलजई—आत्मानिक्षेप में प्रभु की अनन्यता पर जोर—जाउँ कहाँ तजि चरन तिहारे—कार्पण्य में भक्त के दैन्य पर जोर—मो सम कौन कुटिल—जो जितना दीन (वस्तुतः विवश) है उसे उतना ही आशावादी होने का अवसर—क्रिया में दृढ़ सङ्कल्प, दैन्य का निश्छल आत्म-विश्लेषण, शरणप्राप्ति के लिये व्यग्रतापूर्ण तीव्र उत्कण्ठा, भगवान् के विरद पर दृढ़ विश्वास, अनन्यता की सम्यक् अनुभूति, प्रभु कृपा ही से कार्यसिद्धि होगी इसका एकमात्र निश्चय, यही विनयपत्रिका का सार है—यह प्रधानतः प्रगीतिमुक्तक काव्य है—इसके स्मरणीय पचहत्तर पद ।

मानस महिमा

हिन्दी साहित्य में एक से एक बढ़कर सन्त कवियों ने अपनी रचनाओं का योगदान दिया है। उन सब में कबीर, सूर और तुलसी बहुत प्रसिद्ध हैं। इन तीनों में भी तुलसीदासजी की ख्याति विशिष्ट है। हिन्दी के इन सर्वश्रेष्ठ प्रख्यात कविकुल चूड़ामणि का जीवनवृत्त अभी तक अनेक बातों में स्पष्ट नहीं हो पाया है। उनका जन्म कब हुआ यह अब तक सन्दिग्ध है। 'मूल गोसाईं चरित' के लेखक के अनुसार इनका जन्म हुआ था सम्वत् १५५४ की श्रावण शुक्ल सप्तमी को और निधन हुआ था संवत् १६८० की श्रावण श्यामा तीज शनि को। अपने इस सुदीर्घ जीवन में गोस्वामीजी ने पर्याप्त अध्ययन, मनन, चिन्तन और पर्यटन किया था। इनके नाम से अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जिनमें से १२ कृतियाँ असन्दिग्ध रूप से इन्हीं की कही जाती हैं। इनमें से छः छोटी और छः बड़ी हैं। बड़ी कृतियों में रामचरितमानस और विनयपत्रिका का अपना विशिष्ट स्थान है। विनयपत्रिका साधक भक्तों की परम आराध्य वस्तु है किन्तु रामचरितमानस तो साधक असाधक सभी के लिये आकर्षक और कल्याणप्रद है। उसमें साधना के तत्त्व, लोकव्यवहार की वस्तुएँ, मानवचरित्र की विविध भूमिकाएँ, कथाक्रम के नाटकीय आकर्षक जीवन-दर्शन के तत्वों से परिपूर्ण अनेकानेक प्रवचनोपयोगी उपकरण तथा काव्य के सभी प्रकार के चमत्कार भरे पड़े हैं। इस ग्रन्थ को साध लिया जाय तो समझिये कि सत्साहित्य का सभी अङ्ग साध लिया गया। अन्यथा साहित्यिक कृतियों के विस्तार प्रस्तार की तो कोई सीमा ही नहीं। 'एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय' वाली उक्ति इस दिशा में सोलहों आने सही उतरती है। गीता के लिये संस्कृत के विद्वानों ने कहा कि उस ग्रन्थरत्न का भली भाँति अध्ययन हो जाय तो अनेकानेक शास्त्रग्रन्थों के विस्तार प्रस्तार युक्त अध्ययन की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। "गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः।" ठीक यही बात गोस्वामीजी के रामचरितमानस के लिये भी कही जा सकती है। "मानस जौ मानस-रमा, व्यर्थ शास्त्र विस्तार, सब ग्रन्थों का रस यहीं, यहीं सरस्वति सार।"

महात्मा गान्धी ने 'गीता' और मानस दोनों को ही सर्वोच्च ग्रन्थ रत्न माना है। भक्ति के रस के लिए तो उन्होंने मानस को ही सर्वोत्तम कहा है। गोस्वामीजी के समकालीन स्वधर्मी आचार्य मधुसूदन सरस्वती के समान उद्भट विद्वान् और विधर्मी अब्दुर्रहीम खानख़ाना के समान प्रभावशाली काव्य-मर्मज्ञ ने

मानस के लिये ऊँचे से ऊँचे प्रमाणपत्र दिये हैं। सैकड़ों स्वदेशी एवं बिदेशी मुसलमान और ईसाई सज्जनों ने श्रद्धापूर्वक इसका मनन किया है और आज भी कर रहे हैं। 'कारपेण्टर' नामक अंग्रेज सज्जन तो मानस के आस्तिक्यवाद (थियालाजी आफ तुलसीदास) पर एक छोटासा ग्रन्थ लिख कर ईसाई विद्वत्ता की सर्वोच्च उपाधि (डाक्टर आफ डिविनिटी) से बिभूषित हो गये। निरीश्वर-वादी रूस तक में मानस के अनुवाद का बड़ी धूमधाम से राष्ट्रीय सम्मान किया गया है। हिन्दी जानने वाला ऐसा विरला ही कोई अभागा होगा जिसने मानस का कोई अंश न पढ़ा हो या न सुना हो अथवा जिसे मानस की दो चार चौपाइयाँ भी कण्ठस्थ न हो गई हों।

मानस का रचना-काल, अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही सम्बत् १६३१ ठहरता है। निश्चय ही गोस्वामीजी उस समय प्रौढ़ अनुभव-सम्पन्न हो चुके होंगे और उनकी चिन्तनपूर्ण अनुभूति ही नहीं किन्तु लेखनी भी अच्छी तरह मँज चुकी होगी। इसमें 'व्यास समास स्वमति अनुरूप अनूप हरिचरित्र' गाया गया है। 'कहेउ नाथ हरिचरित अनूपा, व्यास समास स्वमति अनुरूपा'। हरिचरित्र है भगवत् चर्चा जो नर-चरित्र की आड़ से की गई है। चरित्र-चित्रण अनूप बन पड़ा है क्योंकि वह किसी रामायण में वर्णित चरित्र की हूबहू नकल नहीं है। बिबिध रामायणों में प्राप्त रामचरित्र को स्वमति-अनुरूप परिमार्जित करके अनूप बना लिया गया है। यह आवश्यक नहीं है कि मानस के रामचरित्र को इतिहास माना जाय। गोस्वामीजी ने उसे इतिहास कहा भी नहीं। किन्तु वह सत्य अवश्य है क्योंकि जो है और जो हो सकता है वह सब सत्य की परिधि में आता है। यथार्थ भी सत्य की परिधि में है और आदर्श भी। मानस का रामचरित्र एक सुन्दर आदर्शचरित्र है जिसमें गोस्वामीजी की सूझबूझ के कारण कई स्थलों पर अपूर्वता आगई है और वाल्मीकि के पात्र चमकाये जाकर कुछ के कुछ बन गये हैं। वाल्मीकीय रामायण और गोस्वामीजी के मानस के रामचरित्र तथा अन्य चरित्रों की तुलना ध्यानपूर्वक कीजिये तो अनायास पता लग जायगा कि श्लेषात्मक भाषा में गोस्वामीजी ने वाल्मीकीय रामायण को जोकि रामकथा का सर्वप्रधान महत्वपूर्ण स्रोत और आदिकाव्य होते हुए भी आज दिन भी परम प्रभावशाली महाकाव्य माना जाता है, 'स-खर' और 'दूषण सहित' क्यों कहा है। इतिहास के कट्टर भक्तों को यदि मानस के रामचरित की अपूर्वता अटपटी सी जान पड़े तो गोस्वामीजी ने उनके समाधान के लिए कल्प-वाद का सिद्धान्त ला रखा है। वे कहते हैं—"कल्पकल्प प्रति प्रभु अवतरहीं"। अतएव समझ लिया जाय कि किसी कल्प में वैसा चरित्र रहा जो अन्य रामायणों

में है और किसी काल में ऐसा चरित्र रहा जो मानस में है। इस चरित्र को उन्होंने कहीं व्यास शैली से (विस्तार पूर्वक) और कहीं समास शैली से (संक्षेप में) लिखा है जिससे उसकी उपादेयता और रोचकता में किसी प्रकार की बाधा न हो और चमत्कार उतरोत्तर उत्कृष्ट होता जाय । सब मिलाकर वह ग्रन्थ इतना अपूर्व बन पड़ा है कि स्वर्गीय हरिऔधजी के शब्दों में समस्त हिन्दी संसार कह सकता है "कविता कर के तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।"

बीसवीं सदी के वैज्ञानिकताभिभूत कतिपय आलोचकों को मानस की कुछ वस्तुएँ पसन्द नहीं आतीं। वे जब पढ़ते हैं कि कौवा बोला गरुड़ ने सुना तो कह उठते हैं 'यह तो नानी की कहानी है'। वे जब 'अधम ते अधम अधम अति नारी' अथवा 'अब जनि करेसु विप्र अपमाना' सरीखी पंक्तियाँ पाते हैं तो कह उठते हैं कि मानस तो सामन्तवादी परम्परा की वस्तु है जिसकी आज कोई उपयोगिता नहीं रह गई। वे जब देखते हैं "येहि महँ आदिमध्य अवसाना, प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना" तब वे मानस को राष्ट्रीयता-विघात एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ मात्र मान बैठते हैं। यह एकाङ्गी दृष्टिकोण आलोचकों को शोभा नहीं दे सकता। उन्हें देखना चाहिए कि मानस लोकप्रिय रहा है और है कि नहीं, वह लोक-उन्नायक रहा है और है कि नहीं। यदि लोक-प्रियता और लोक उन्नयन की उसकी शक्ति के मर्म को वे पकड़ पायेंगे तो उनकी शङ्काओं का समाधान उन्हें आप ही आप मिल जायगा। मानस का अध्ययनशील सज्जन उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण को एवं उसकी राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय देन को दृष्टि से ओझल कर ही नहीं सकता। हमारा तो निश्चित मत है कि भारत—विशेषतः उत्तर-भारत—जो आज पाकिस्तान नहीं बन पाया उसका सर्वप्रधान कारण है गोस्वामीजी का यह रामचरित-मानस। पराधीनता के युगों में भी हिन्दी भाषा भाषी प्रान्त जो भारतीयताभिमानी बने रहे और आस्तिक्य बल रख कर जो आज स्वतन्त्र हो सके उसकी जड़ें खोजने पर मानस ही में प्रधानतः मिलेंगी। गोस्वामीजी ने अपने मानस के द्वारा जिस राम-ता का अवतार कराया है वह किसी भी देश और किसी भी काल के मानव-समाज को ऊँचा उठाने की क्षमता से सम्पन्न है।

आम के वृक्ष का समग्र सत्य केवल उसके फलों के रस ही में नहीं है किन्तु उसके पत्तों की बनावट उन पत्तों की नसों के विस्तार, उनके रङ्गों के निर्माण आदि में भी व्याप्त है। मानस का सत्य भी साम्प्रदायिक असाम्प्रदायिक, आस्तिक नास्तिक, श्रद्धालु, अश्रद्धालु, सभी के लिए हैं। परन्तु जो राष्ट्रीयता अथवा मानवता के रस का प्रेमी है उसे व्यर्थ ही पत्तों की उलझन के कारण उसका परित्याग करना कहाँ तक समीचीन कहा जायगा। जो ग्राह्य हो वह

ग्रहण किया जाय और जो अपनी बुद्धि से बाहर की बात हो उससे आँख फेर लाजायँ। तभो रस का आनन्द मिलेगा, अन्यथा व्यर्थ की ऊहापोह ही शायद हाथ रह जाय। 'सुनिय कथा सादर मन लाई दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई'। मानस-रचना का प्रधान उद्देश्य है 'स्वान्तः सुखाय', 'स्वान्तस्तमःशान्तये,' द्वन्द्वात्मक विषमता से मुक्ति, जोवन की सार्थकता का उपलब्धि, महा-मानवता की प्राप्त। यह उद्देश्य श्रद्धा एवं सहृदयता के सहारे प्राप्त हो सकता है न कि शुष्क तर्क अथवा कोरे ऐतिहासिक का भौतिक वैज्ञानिक मनोवृत्ति के सहारे। प्रत्यक्ष ही इस बात का पक्का प्रमाण है कि लाखों लोगों ने सहृदयता के सहारे मानस का अनुशीलन किया और जीवन-दर्शन के अनमोल रत्न अनायास प्राप्त कर परम शान्ति एवं परम आनन्द का अनुभव किया है। किया ही क्यो, कर भी रहे हैं।

मानस का कथा 'निज सन्देह मोह भ्रम हरनी' कथा है। अज्ञान का पहिला दर्जा है सन्देह; दूसरा है भ्रम और तासरा है मोह। अतएव मानस का अनुशीलन करने से इन तानों का निःसन्देह हरण होगा ही परन्तु उसके लिए श्रोता अथवा पाठक में पर्याप्त धैर्य चाहिये। 'तबहि होहि सब संसय भङ्गा, जब बहु काल करिय सत सङ्गा।' सत्य का उद्‌घाटन सहज ही नहीं हो जाया करता। कहा गया है कि उसका मुख रहस्यमय चकाचौंध से ढका रहता है। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितंमुखं।' अतएव मानस का मर्म समझने के लिये शङ्का नहीं किन्तु श्रद्धा का सहारा लेना अधिक श्रेयस्कर है। तभी उसकी महत्ता पूरी तरह स्पष्ट होगी।

हमारे पास ज्ञान के साधन हैं मन, बुद्धि और चित्त। इन्द्रियों के पुञ्जीभूत तत्त्व को ही मोटे हिसाब से मन समझ लीजिये। चित्त को ही सामान्य भाषा में हृदय कह दिया जाता है। भौतिक दृष्टि, तात्विक दृष्टि और भावुक दृष्टि क्रमशः इन्हीं तीन ज्ञान-साधनो के कारण हुआ करता है। आधि भौतिक लोक, आध्यात्मिक लोक और आधिदैविक लोक का त्रैलोक्य एक ही सत्य के भीतर समाया हुआ है। गोस्वामीजो का मानस केवल भौतिक सत्य की चर्चा के लिये नहीं है। उसमें भावुक सत्य (दैविक सत्य) और आत्मिक सत्य (तात्विक सत्य) की भी चर्चाएँ है। उनकी रामकथा में इन तीनो दृष्टियों से विचार किया गया है अतएव उनके 'मानस' में इन तीनो घाटो का रस आकर जमा हुआ है जो चौथे घाट से सरयू बनकर उमड़ पड़ा है। अध्यात्मलोक के तत्त्व है शिव और शक्ति। अधिदैव लोक के भाव-कल्पित व्यक्ति है काक भुशुण्ड और गरुड़। अधिभूत लोक के मानव प्राणी हैं याज्ञवल्क्य एवं भरद्वाज। शक्ति को ब्रह्म का तत्त्व-स्वरूप विदित है। उनकी शङ्का यही है कि वह निराकार ब्रह्म साकार कैसे

हुआ। गरुड़ को भावुक इष्टदेव रूप स्वीकार है। उनकी शङ्का यही है कि सर्वशक्ति सम्पन्नता में नागपाश का सोमाबन्धन क्योंकर आ पड़ा। भरद्वाज को राम का मानवी व्यक्तित्व अथवा उनकी ऐतिहासिकता स्वीकार है। उनकी शङ्का यही है क्या मनुष्य को इष्टदेव अथवा परम तत्त्व माना जा सकता है। तीनों भूमिकाओं को एक ही कथा की लपेट में समझाते चलना गोस्वामजी के ही समान कुशल कवि का कार्य था। उनकी इस संश्लिष्ट कथा में प्रधान अंश तो याज्ञवल्क्य प्रोक्त कथा का था। कहिहउं सोइ संवाद बखानी, सुनहु सुजन सादर रति मानी। अतएव वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले राष्ट्रवादियों अथवा अन्तर राष्ट्रीय मानवतावादियों के लिए तो यह विशेष रूप से कही ही गई है, ऐसा समझना चाहिए।

मानस के 'सांग रूपक' की ओर गोस्वामीजी का पूरा ध्यान रहा है। जो कथा शिवमय पूर्ण पुरुष के मानस में व्यक्त हो उठी हो और जो कल्पना, अनुभूति तथा चिन्तन एवं सत्संग, शास्त्रसंग आदि के सहारे कवि-मानस में भर उठी हो उसकी रसपूर्ण उमंग को भी मानस न कहा जाय तो क्या कहा जाय। मानस ही अमृतोपम सरस मानसरोवर का एक नाम है जिससे सरयू नदी निकली है। सामान्य सरोवर में चार दिशाओं के चार घाट और जल तक पहुँचने के लिये कुछ सीढ़ियाँ हुआ ही करती हैं। कवि-कल्पना के मानसरोवर में भी चार घाट बँधे और सात सीढ़ियाँ बनीं। 'सुठि सुन्दर सम्वाद वर विरचे बुद्धि विचारि। तेइ एहि मानस सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥' 'येहिमहँ सुभग सप्त सोपाना, रघुवर भगति केर पन्थाना।' उन सोपानों को काण्ड कहना अर्थ का अनर्थ करना है।

गोस्वामीजी भारतीय परम्परा के श्रद्धालु साधक थे ही इसलिये उन्होंने मन्त्र तन्त्र ज्योतिष सभी का सहारा लेकर अपने मानस को पुष्ट एवं प्रभावपूर्ण किया है। यदि फुलित ज्योतिष सत्य है तो रामजन्म के लग्नवार तिथि आदि में जन्म लेने वाला जातक निश्चय ही वैसा ही प्रभावशाली होगा। अतएव उन्होंने "नौमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा।" देशकाल का यह योग जुटाकर मानो उन्होंने वाणी के इस रूप में राम का ही अवतार करा दिया। यदि मन्त्रशास्त्र सत्य है तो 'सीताराम' महामन्त्र अथवा रामनाम के महामन्त्र के अक्षरों से काव्यपंक्तियाँ संयुक्त कर दी जायँ। उनका प्रभाव निश्चय ही बढ़ उठेगा। मानस की प्रायः प्रत्येक पंक्ति ऐसे ही वर्णों से संयुक्त है। यदि तन्त्रशास्त्र सत्य है तो ज्ञानदाता तथा शक्तिदाता आदि-गुरु के रूप में शंकर की सहायता प्राप्त की ही जा सकती है। और यदि उनकी कृपा हो गई तो वाणी को प्रभावशालिनी बनने में क्या देर लग सकती है। गोस्वामीजी ने तो तीन-

तीन बार स्पष्ट कहा कि वे कवि नहीं, फिर भी उन्होंने कहा कि रामचरितमानस बन गया और वे कवि कहलाने लगे। 'रामचरितमानस कवि तुलसी'। यह कैसे बना? इसके लिये वे कहते हैं 'शंभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी, रामचरितमानस कवि तुलसी'। शंकर के प्रसाद से सुमति हुलस गई और रामचरित मानस बन गया। कहने का अर्थ यह है कि वह किसी मानव का रचा ग्रन्थ नहीं है किन्तु दैवी प्रेरणा का स्वतः उद्भूत परिणाम है। अर्थात् वह एक प्रासादिक काव्य है जिसका 'भाषाभणिति प्रभाउ' 'फुर' होना ही चाहिये।

गोस्वामीजी ने वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन के अनेक घात प्रतिघात देखे थे। उन्होंने बड़ी अच्छी प्रतिमा पाई थी जिसका मेल उन्होंने विस्तृत अध्ययन और व्यापक मनन चिन्तन के साथ भी करा दिया। उनमें अपने आराध्य विषय के साथ साधक की सी ध्यान रसमग्नता भी थी और उस मग्नता की एक सच्चे सिद्ध के समान अनासक्त भाव से वर्णनक्षमता भी थी। 'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरिसम सबकहँ हित होई।' और 'सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान। सहज बैर बिसराय रिपु, जेहि सुनि करहिं बखान' के तथ्यों का आधार लेकर उन्होंने जितनी गहराई से चिन्तना की उतने ही ऊँचे तत्व मानस की थाली में भर कर संसार को लुटाये। उस थाली से जितने रत्न लिये जायँ वे फिर अपनी नई चमक दमक से वहाँ प्रकट हो हो जाते हैं और वह अक्षय निधि कभी रिक्त होती ही नहीं। उनके मानस का रस ऐसे लोगों को प्राप्त नहीं हो सकता जो श्रद्धा के संबल से रहित हैं, सत्संग से वंचित हैं और जिन्हें रघुनाथ प्रिय नहीं हैं। "जे स्रद्धा संबल रहित, नहिं सन्तन्ह कर साथ। तिनकहँ मानस अगम अति, जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ।।" जो अधिकारी सज्जन इस रस का पान करते हैं उन्हें गोस्वामीजी ने सर्वथा धन्य कहा है। मानस कथा-माहात्म्य बताते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय रघुबीर बिहारु।।
रामचरन रति जो चहै, अथवा पद निर्वान।
भाव सहित सो यह कथा, करउ स्रवनपुट पान।।

मन कामना सिद्धि नर पावा। जो यह कथा कपट तजि गावा।।
बिरति बिवेक भगति दृढ़ करनी। मोह नदी कहँ सुन्दर तरनी।।
बुध बिस्राम सकल जनरंजिनि। रामकथा कलि कलुष बिभंजिनि।।
भवभंजन गंजन संदेहा। जनरंजन सज्जन प्रिय एहा।।

जो एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता ।।
होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी ।।

स्मरण रहे कि गोस्वामीजी के राम केवल व्यक्तित्व विशिष्ट मानव राम नहीं है किन्तु परात्पर परब्रह्म हैं जिनके पदों का अनुरागी होने ही से जीव बड़भागी या सुमंगल भोगी बन सकता है। मानस की महत्ता इसी में है कि वह सहृदय पाठक अथवा श्रोता को ऐसा ही बड़भागी बना सकता है और इस प्रकार उसका मानव-जीवन, चाहे वह वैयक्तिक हो चाहे राष्ट्रीय हो चाहे अन्तरराष्ट्रीय हो, सब प्रकार सार्थक कर सकता है।

मानस की महिमा के सिलसिले में वह प्रसंग अवलोकनीय है जिसे 'सर-सरि-रूपक' कहा जाता है। गोस्वामीजी ने निष्पक्ष आलोचक की भाँति ग्रन्थारम्भ में दिये हुए लम्बे रूपक द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि कितनी गहन चिन्ता और कितनी उपादेय सामग्री संकलित हो जाने के बाद उनके मानस से यह कथा रूपी सरिता उमड़ी है। इसका रस कितना लाभ दायक है और कौन लोग इस रस के सच्चे अधिकारी हैं। हम इस रूपक का संकेत ऊपर कर आये हैं। यहाँ पुनर्वार उसकी कुछ विशेष चर्चा अनुपयुक्त न होगी। उनकी पंक्तियां हैं।—

"अस मानस मानस चख चाही,
भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही।
भयउ हृदय आनन्द उछाहू,
उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू ।।
चली सुभग कविता सरिता सी
राम विमल जस जल भरिता सी"

भाव यह है कि उनका काव्य किसी ऐतिहासिक का कहा हुआ आख्यान मात्र नही है किन्तु आनन्दातिरेक के कारण उमड़ा हुआ प्रेम प्रवाह है—उस प्रेम का प्रवाह जो राम के विमल यश के प्रति उनके मन में हुआ था। यह प्रेम क्यों हुआ ? इस लिये कि अपनी प्रतिभा की आँखों से उन्होंने ऐसे मानसरोवर के दर्शन कर लिये थे कि जिसमें राम सुयश का उत्कृष्टतम रूप सुरक्षित था। उस दर्शन के कारण उनकी प्रतिभा उस ओर आकृष्ट होकर उसमें अवगाहन भी कर चुकी थी और बौद्धिक विमलता भी प्राप्त कर चुकी थी। पर जब तक इस प्रकार की विमल बुद्धि न हो ले तब तक ऐसी मस्ती आ ही नहीं सकती जो इतने उत्तम काव्य का सृजन कर जाय।

मानस चक्षुओं से उन्होंने जिस मानस (मानसरोबर) के दर्शन किये थे उसकी व्याख्या सुनिये। जैसे मेघ समूह समुद्र से जल लाकर भूमि पर बरसाते

हैं और वह गहरी जगहों पर एकत्र हो जाता है उसी प्रकार सज्जनगण (साधुजन) वेदों पुराणों से राम सुयश रूपी मीठा जल (वर वारि) लाकर सुमति (सद्बुद्धि) पर बरसाते हैं और वह भावुक हृदयों में प्रविष्ट होकर वहीं एकत्र हो जाता है। समुद्र का जल तो प्रायः अपेय रहता है। उसे सुस्वादु कथा रस से पूर्ण करके सुस्वादु बनाकर देना सन्त जनों ही का काम है। भगवत सुयश के रूप में जो जल सुस्वादु बना दिया जाता है वह मधुर मनोहर मङ्गलकारी हो जाता है। मधुर है हृदय के लिये रसप्रद, मनोहर है बुद्धि के लिये आकर्षक और मङ्गलकारी है आत्मा के लिये कल्याण देने वाला। मनोहर है उसका रूप-सौन्दर्य, मधुर है उसका गुणसौन्दर्य और मंगलकारी है उसका परिणाम सौन्दर्य। सगुण लीलाओं का गान ही उस जल की स्वच्छता अथवा मनोहरता है, अवर्णनीय प्रेम भक्ति का पुट ही उसकी मधुरता एवं शान्तिप्रद शीतलता है और सुकृतों की वृद्धि तथा भक्तजनों की सञ्जीवनी समृद्धि ही उसकी मङ्गलकारिता है। यदि सुनने वालों के मनोमल का नाश न होने लगे, उन्हें शान्ति न मिलने लगे और उनके सुकृतों में वृद्धि न होने लगे तो समझिये कि उस जल के त्रैगुण्य में कहीं कुछ न्यूनता है। गोस्वामीजी ने जिस प्रकार के सञ्चित जल के दर्शन किये थे उसमें ऐसी कोई न्यूनता थी ही नहीं।

यों तो प्रायः सभी भावुक हृदय वे गहरे अगाध स्थल हैं जहाँ ऐसा जल एकत्र होकर संचित रह सकता है परन्तु जिस हृदय में यह जल सञ्चित होकर ही न रह जाय किन्तु सरयू की तरह जगत् कल्याण के लिये प्रेम-प्रवाह के रूप में बह निकले (स्मरण रहे कि सरयू नदी मानसरोवर से ही निकली है) उसे सामान्य जलाशय नहीं किन्तु मानसरोवर का सुस्थल समझना चाहिये। राम-कथा के नामाङ्कित अधिकारी वक्ताओं के हृदय इसी प्रकार के मानसरोवर हैं। उनकी मेधा ही वह भूमि है जिस पर पड़ा हुआ यह पावन जल कानों के मार्ग से उनके हृदय तक पहुँचता और वहीं स्थिर होकर अपना विशुद्ध त्रैगुण्य प्राप्त करता है। चारुता ही उसकी मनोहरता है। शीत रुचि ही उसकी मधुरता है और सुखदता ही उसकी मङ्गलकारिता है। भूमि पर पड़ने से जल का डाबर हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। मनुष्य मनुष्य की सुमति और मेधा का भी तो अपना-अपना स्तर होता है। अतएव उसके सम्पर्क से विशुद्ध जल में भी कुछ त्रुटि आ सकती है। श्रवण द्वारा प्राप्त वही जल यदि मनन और निदिध्यासन द्वारा थिरा लिया जाय और चिरा लिया जाय (चिरकालीन अथवा आत्मा का सनातन संगी बना लिया जाय) तो वह विशुद्ध "सुखद सीतरुचि चारु" हो ही जायगा। सच्चा मानसरोवर रहा है ऐसे रामकथा प्रवर्तकों का मन।

बुद्धि का विचार ऐसे मानसरोवर के चार मनोहर घाटों की कल्पना करेगा ही। भारतभूमि का मानसरोवर मान्धाता की पहाड़ियों के पास स्थित है जहाँ कहा जाता है कि तीनों दिशाओं से तो पानी भरा करता और बाढ़ आने पर एक दिशा से सरयू के रूप में बह निकलता है। रामकथा के समर्थ प्रवर्तकों के मन में भी राम सुयश का जल तीन दिशाओं से आया और सम्मिलित होकर चौथी दिशा से कथारूप में बह चला है। ज्ञान के साधन हैं इन्द्रियाँ, हृदय (भावानुभूति) और बुद्धि (चिन्तन)। इन तीनों के क्षेत्र हैं अधिभूत लोक, अधिदैवलोक और अध्यात्म लोक। सत्य का यही त्रैलोक्य है जहाँ तक हमारी पहुँच हो सकती है। कर्मदृष्टि भावदृष्टि और ज्ञानदृष्टि से राम कथा के सम्यक् दर्शन हो जायँ तभी समझिये कि रामसुयश का रस सच्चे अर्थों में हमारे हृदय में पहुँचा। गोस्वामीजी की कल्पना ने ज्ञानदृष्टि से आध्यात्मिक लोक के शिवशक्ति तत्त्व को वक्ताश्रोता के रूप में चुना, भावदृष्टि से अधिदैविक लोक के काकभुशुण्डि तथा गरुड़ सरीखे दिव्य जीवों को वक्ता श्रोता के रूप में चुना और व्यवहार दृष्टि से आधिभौतिक लोक के याज्ञवल्क्य और भरद्वाज सरीखे मानवीय ऋषियों को वक्ताश्रोता के रूप में चुना और तीनों द्वारा प्रदत्त रस सम्मिलित करके चौथे घाट पर अपने को स्थापित कर दिया। इसी प्रकार समझ लीजिये कि अन्य अधिकारी वक्तागणों का हृदय भी चौथे घाट पर स्थापित है।

यों तो भगवान् सुयश रस प्राप्ति के लिए किसी ऐतिहासिक कथा प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं। मानसरोवर के घाट भी किन्हीं खास सीढ़ियों की अपेक्षा न रखते होंगे। परन्तु यदि ऐसे किसी कथा प्रबन्ध की सुभग सीढ़ियाँ बना ली जायँ तो रसप्राप्ति विशेष सुगम हो जाती और उस ओर मन विशेष रम जाता है। रामसुयश वक्ताओं ने रामकथा को सात काण्डों में सजा कर मानो सात सीढ़ियाँ बना दीं जिनसे होकर मानस में जल पहुँचे अथवा मानस का जल ग्रहण किया जा सके। ज्ञान की भी सात भूमिकाएँ हैं और भक्ति अथवा प्रपत्तियोग की भी सात भूमिकाएँ हैं। व्यवहार में राज्य के सप्ताङ्ग ही माने गये हैं। स्वर, वर्ण आदि भी सात ही सात हैं। गोस्वामीजी ने मानस के उस दिव्य रस की प्राप्ति के लिये साधन रूप सप्त सोपानों की चर्चा की है और उनका नाम 'काण्ड' न रखकर साधना परक 'अविरल ज्ञान सम्पादनो नाम' आदि बताया है। मतलब यह है कि बालकाण्ड पढ़कर 'विमल सन्तोष' की भावना जागनी ही चाहिये। अयोध्याकाण्ड पढ़कर या सुनकर अथवा मनन करके 'विमल विज्ञान वैराग्य' की भावना जागनी ही चाहिये इत्यादि। 'इहि

महँ सुभग सत सोपाना' 'रघुवर भगति केर पन्थाना'—यह है गोस्वामीजी की सोपान विषयक कल्पना ।

भगवद् यश या तो अगुण परमात्मा का होगा जिसे मानसरोवर के जल की अगाधता समझिये, या सगुण परमात्मा (राम सीय) का होगा जिसे उसकी सुधा सदृश आकर्षकता समझिये। वह निश्चय ही काव्य का आवरण लेकर वक्ताओं के मन से उदित हुआ है अतः उसमें अन्य उपादानों के साथ काव्याङ्ग भी होंगे। काव्याङ्ग के रूप में सुभाषा, सुभाव और अनुपम अर्थों युक्त विविध छन्द भी उसमें होंगे जिसमें किसी एक चतुष्पद छन्द की प्रधानता भी रहेगी। उन्हें ही आप पराग मकरन्द और सुवास से युक्त बहुरंग कमल कुल और पुरइन के पत्ते समझिये। वे छन्द ही कैसे जो सुकृत पुञ्ज रूपी भौरों और ज्ञान विराग विचार रूपी मरालों को अपनी ओर आकृष्ट न कर लें। फिर, उसमें काव्य की आत्मा रूप ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, जाति, युक्ति नवरस आदि होने चाहिये। इन्हें ही आप मीन, मणि-सीप तथा अन्य जलचर मान लें। स्मरण रहे कि ये सब काव्य के अङ्ग होंगे जो उस हरिसुयश रस में पल रहे और उससे पुष्ट हो रहे हैं। सुयश रस तो इनसे भिन्न वस्तु हैं। काव्यानन्द तो साधन मात्र है। साध्य तो है हरि सुयश रस। हाँ, उपमा को गोस्वामीजी ने बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। उन्होंने उसे उस सलिल का मनोरम बीचि-विलास कहा है। उपमा न केवल एक व्यापक अलङ्कार है किन्तु वर्ण्य विषय को हृदयंगम करा देने का—उसके प्रत्यक्ष दर्शन करा देने का—एक उत्तम साधन है, ठीक उसी तरह जैसे बीचि विलास जल का प्रत्यक्ष दर्शन करा देता है। मानस की उपमाओं का है भी ऐसा ही महत्व। अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान विज्ञान विचार, जप-तप योग विराग, सुकृती साधुओं के नामों का गुणगान—ये तरह तरह के जलचर और जल विहङ्ग हैं जो उस काव्य के आवरण में उस जल द्वारा पल रहे हैं। उनकी गति अन्यत्र भी हो, परन्तु तृप्ति पाते हैं वे यहीं आकर।

इस रस को पाने के लिए सन्तगण इसके चारों ओर श्रद्धापूर्ण भाव से आसन जमाये रहते हैं। सन्त सभा ही मानों अमराई हैं और श्रद्धा ही बसन्त ऋतु है। यही नहीं, सद्विचार (भक्ति निरूपण) सत्कर्म (विविध विधान) और सद्भाव (क्षमा दया) भी उससे पलने वाले लताद्रुम हैं। यों भी समझिये कि सत्कर्म (सम यम नियम) उस अमराई के फूल हैं ज्ञान उसका फल समूह और भक्ति (हरिपद) ही उन फलों का रस है। अनेक प्रकार के कथा प्रसङ्ग ही उस अमराई में बिहार करने वाले शुक पिक आदि हैं। इन कथा प्रसङ्गों के साथ हरि सुयश रस का आनन्द लेने वाले सज्जनों की पुलकावली को ही आप

अन्य अनेक वाटिका, बाग, बन आदि समझें जिनमें सुख के सुविहङ्ग निवास करते हैं। उन्हीं सज्जनों के सु-मन को आप माली समझें जो चारु लोचनों के स्नेह जल से सींचकर उस पुलकावली को हरा-भरा रखता है।

पूरा रूपक बड़ा लम्बा परन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण है जो मानस के स्वरूप (जस मानस) उसकी उत्पत्ति अथवा निर्मिति (जेहि विधि भयउ) और उसकी उपयोगिता (जग प्रचार जेहि हेतु) पर अच्छा प्रकाश डालता है। हमने तो यहाँ केवल कुछ अंशमात्र दिए हैं। यह मानस उनके लिए नहीं है जिनके पास श्रद्धा, सत्सङ्ग और राम प्रेम के साधन नहीं हैं। जो इस मानस का मज्जन करेगा वह 'महाघोर त्रय ताप' भी न जलेगा क्योंकि इसका जल "त्रास पियास मनोमल हारी" है।

"राम सप्रेमहिं पोखत पानी।
हरत सकल कलि कलुष गलानी॥
भव स्रम सोसक तोसक तोसा।
समन दुरित दुख दारिद दोसा॥
काम कोह मद मोह नसावन।
विमल विवेक विराग बढ़ावन॥
सादर मज्जन पान कियें ते।
मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥"

अपनी शक्ति और साधना के बल पर तथा प्रभू की कृपा से इतनी ऊँची भूमिका का मानस गोस्वामीजी ने अपने मनमें बसा लिया था। उसीका प्रवाह उनके इस राम कथा काव्य में बह चला है। इसलिए यह कोई गर्वोक्ति नहीं किन्तु यथार्थता है यदि वे कह रहे हैं कि :—

जिन्ह एहि वारि न मानस धोए।
ते कायर कलि काल बिगोए॥
तृसित निरखि रविकर भववारी।
फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥

मानस की सूक्तियाँ

मानस की सैकड़ों पंक्तियाँ सर्वसाधारण की जिह्वा पर बस गई हैं और वे उनके द्वारा जब तब दुहरा दी जाया करती हैं। उनमें सार्वभौम सत्य इस तरह भरा है कि वे अनायास ही लोकोक्तियों का काम दे रही हैं। चाहे वह तत्व दर्शन की बात हो चाहे व्यवहार दर्शन की बात हो—चाहे वह चिन्तन का काव्यमय निष्कर्ष हो चाहे अनुभूति का—चाहे वह कल्पनापूर्ण सूक्ति हो चाहे आलङ्कारिक या ध्वनि गर्भ सूक्ति हो—सब के सुन्दर नमूने मानस में मिल जायेंगे। 'मानस मन्थन' नामक ग्रन्थ में मैंने यथामति ऐसी सभी पंक्तियों का संग्रह किया है जो गोस्वामीजी का सिद्धान्त-पक्ष किसी न किसी प्रकार व्यक्त कर रही हों। लोकोक्तियाँ और सूक्तियाँ प्रायः उन्हीं पंक्तियों के अन्तर्गत हो जाती हैं। इस प्रसङ्ग में हम उनमें से कुछ ऐसी छाँटी हुई पंक्तियाँ देंगे जिनसे गोस्वामीजी के सिद्धान्तों पर प्रकाश भी पड़ जायगा और जिन्हें कण्ठस्थ कर लेना प्रवचनकारों तथा सामान्य वक्ताओं के लिए भी लाभप्रद होगा।

इस संसार में हमारे विचारने योग्य तीन ही तो प्रधान तत्व हैं। एक है हम स्वतः अर्थात् मानव-जीव। दूसरा तत्व है हमारा अर्थात् मानव-जीव का अन्तिम लक्ष्य या अन्तिम ध्येय। इसे ही ब्रह्म, ईश्वर या भगवान चाहे जो कह लीजिए। तीसरा है हम और हमारे अन्तिम लक्ष्य के बीच का व्यवधान तथा उस व्यवधान को मिटाने के साधन। व्यवधान ही को माया तत्व समझिये और उसे मिटाने का प्रधान साधन गोस्वामीजी के मतानुसार है भक्ति, यद्यपि कुछ आचार्यों ने ज्ञान को भी प्रधान साधन कहा है। यही संक्षेप में समग्र तत्व-दर्शन है जिसका विस्तार अनेक ग्रन्थों में अनेक प्रकार से किया गया है।

(क) **साधक**—गोस्वामीजी ने जीवों को तीन कोटि का माना है। 'विषयी साधक सिद्ध सयाने, त्रिविध जीव जग वेद बखाने'। साधकों के लिए आवश्यक है कि वे असन्तों से दूर रहा करें और सन्तों की सङ्गति किया करें। सन्त कौन हैं, असन्त कौन हैं, असत्सङ्ग का क्या परिणाम होता है और सत्सङ्ग का क्या परिणाम होता है इस पर गोस्वामीजी ने खूब कहा है। कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

बन्दहुँ सन्त असज्जन चरना। दुख प्रद उभय बीच कछु बरना॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दुख देहीं॥
उपजहिं एक सङ्ग जल माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं॥

सुधा सुरा सम साधु असाधू । जनक एक जग जलधि अगाधू ।।
भल अनभल निज निज करतूती । लहत सुजस अपलोक विभूती ।।
सन्त असन्तन्ह के असि करनी । जिमि कुठार चन्दन आचरनी ।।
काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगन्ध बसाई ।।

तातें सुर सीसन्ह चढ़त, जग बल्लभ श्रीखण्ड ।
अनल दाहि पीटत घनहिं, परसु बदन यह दण्ड ।।

पर उपकार वचन मन काया । सन्त सहज सुभाव खगराया ।।
सन्त सहहिं दुख परहित लागी । पर दुख हेतु असन्त अभागी ।।
भूरज तरु सम सन्त कृपाला । परहित नित सह विपति कसाला ।।
सन इव खल पर बन्धन करई । खाल कढ़ाइ विपति सहि मरई ।।

× × × ×

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी । अहि मूषक इव सुनु उरगारी ।।
पर-सम्पदा विनासि नसाहीं । जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं ।।
दुष्ट उदय जग अनरथ हेतू । जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू ।।
सन्त उदय सन्तत सुखकारी । विस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी ।।
साधु चरित सुभ सरिस कपासू । निरस विसद गुनमय फल जासू ।।
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा । बन्दनीय जेहि जग जसु पावा ।।

× × × ×

कुपथ निवारि, सुपंथ चलावा । गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा ।।
देत लेत मन संक न धरई । वल अनुमान सदा हित करई ।।
विपति काल कर सत गुन नेहा । स्रुति कह सन्त मित्र गुन एहा ।।

× × × ×

सन्त विटप सरिता गिरि धरनी । परहित हेतु सबन्हि कै करनी ।।
सन्त हृदय नवनीत समाना । कहा कविन्ह पै कहइ न जाना ।।
निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुख द्रवहिं सन्त सु पुनीता ।।

× × × ×

खल अघ अगुन साधु गुनगाहा । उभय अपार उदधि अवगाहा ।।
तेहि ते कछु गुन दोष बखाने । संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ।।

जड़ चेतन गुन दोसमय, विस्व कीन्ह करतार ।
सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि विकार ।।

हानि कुसंग सुसंगति लाहू । लोकहु वेद विदित सब काहू ।।
गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा । कीचहिं मिलइ नीच जल संगा ।।

× × × ×

को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई ।।
बरु भल वास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता ।।
कवि कोविद गावहिं अस नीती। खल सन कलह न भलि नहिं प्रीती ।।
उदासीन नित रहिय गोसाईं। खल परिहरिय स्वान की नाईं ।।

× × × ×

मति कीरति गति भूति भलाई। जो जेहि जतन जहाँ लगि पाई ।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ ।।
बिनु सतसंग विवेक न होई। राम कृपा विनु सुलभ न सोई ।।
सत संगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला ।।
सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परसि कुधातु सोहाई ।।
विधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनिमनि सम निज गुन अनुसरहीं ।।

× × × ×

सुरसरि जल कृत बारुनि जाना। कबहुँ न सन्त करहिं तेहि पाना ।।
सुरसरि मिले सो पावन कैसे। ईस अनीसहिं अन्तर जैसे ।।

× × × ×

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ।।

× × × ×

बिनु सत सङ्ग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग ।।
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग जप ग्यान विरागा ।।
सन्त संभु स्रीपति अपवादा। सुनिय जहां तहं असि मरजादा ।।
काटिय तासु जीभ जो बसाई। कान मूदि नतु चलिय पराई ।।
तुलसी देखि सुवेसु, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुन्दर केकिहिं पेखु बचन सुधासम असन अहि ।।
नारिनयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ।।
लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम समान रघुराया ।।
हेतु रहित जुग जग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी ।।
मोरे मन प्रभु अस विस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा ।।
राम सिन्धु घन सज्जन धीरा। चन्दन तरु हरि सन्त समीरा ।।
विशेष विवरण के लिए हमारा सन्त असन्त शीर्षक लेख देखा जा सकता है।

(ख) साध्य – मानव जीव तो अनेक है परन्तु उन सबका अन्तिम ध्येय एक ही है जिसे असीम सत्ता या शक्ति असीम बोध या ज्ञान, और असीम शान्ति या प्रेमानन्द का सम्मिलित रूप अथवा सच्चिदानन्द कह सकते हैं। मनुष्य में देह है दिमाग है, दिल है मन है बुद्धि है चित्त है, सत्ता का अस्तित्व है सत्ता का बोध है और उस सत्ता में सन्तोष अथवा प्रसन्नता है। इन्हीं तीनों का नाम है अणु सच्चिदानन्द। इस अणु में स्वाभाविक प्रवृत्ति है पूर्णता की ओर जाने की। उस पूर्ण का यह अंश ही तो हुआ जिसे हम अणु कहते हैं। अणु और पूर्ण का जो अन्तर है उसी का नाम समझिये माया क्योंकि माया—शक्ति के कारण—प्रभु की विश्वरचनाशक्ति के कारण—ईश्वरांश जीव अपने को अणु और बद्ध समझने लगता है तथा "हर्ष विषाद ज्ञान अज्ञान जीव धर्म अहमिति अभिमान" के अनुसार सङ्कीर्ण जीवधर्मी बन जाता है। यही नहीं, वह अपने को अनेक भी मानने लगता है।

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥
ग्यान अखण्ड एक सीतावर। मायावस्य जीव सचराचर।
जो सब के रह ग्यान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
माया वस्य जीव अभिमानी। ईस वस्य माया गुनखानी॥
पर बस जीव स्वबस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्री कन्ता॥
मुधा भेद जद्यपि कृतमाया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

गोस्वामीजी ने उसी परात्पर साध्य का नाम रखा है राम। वस्तुतः निर्गुण निराकार तत्त्व है किन्तु भक्तों की भावना के अनुसार उसका एक व्यक्तित्व भी बन जाता है जिसे हम इष्ट देव कह सकते हैं। जीव के मानव जीव के हृदय को निर्गुण निराकार की असीमता से अपना सम्बन्ध स्थापन करने में प्रायः सन्तोष नहीं हुआ करता है। उसे तो किसी सगुण साकार की असीमता से अपना सम्बन्ध स्थापित करके उसे ही अपना परम आदर्श तथा अपना अन्तिम या चरम ध्येय मान कर चलने में विशेष सन्तोष होता है। ऐसे ही भक्तों के लिए इष्ट देव की उपयोगिता है। वैष्णव सम्प्रदाय वालों ने निर्गुण राम के इष्ट देव वाले सगुण रूप के साथ बैकुण्ठ या क्षीर-सागर या अक्षय साकेत के वास, हरि विष्णु नारायण आदि नामों तथा आयुध सहित चतुर्भुज या द्विभुज मूर्ति का संयोग करा दिया है। यह अपनी-अपनी भावना की बात है। मुख्य बात यह है कि वह इष्ट देव भक्तों का प्रेमी, संसार का पालक, जीवों का कल्याणकारी, परम न्यायी परन्तु साथ ही परम करुणा-

धार, असीम शक्ति का स्रोत, पर धाम बिहारी होकर भी घट-घट वासी और एक ही भक्ति भीनी पुकार पर भक्त के पास दौड़ कर पहुँच जाने वाला, इत्यादि-इत्यादि हैं। सभी धर्म और सम्प्रदाय वाले लोग ऐसे इष्टदेव की आकांक्षा करेंगे, भले ही वे उसके नाम रूप लीला धाम की भिन्न शब्दों में चर्चा करलें। प्रत्येक धर्म के प्रत्येक इष्टदेव का मूल तत्त्व तो वही सच्चिदानन्द है जिसे गोस्वामीजी ने राम नाम से सम्बोधित किया है। अतएव उनके राम से किस धर्मानुयायी का विरोध होगा ?

इष्टदेव तो अधिदैव लोक की सत्ता है। इस भौतिक मानव लोक में क्या हम उसकी झाँकी नहीं देख सकते ? क्यों नहीं। मानव में तभी तो हमें महामानव मिल जाते हैं। समझ लीजिये कि उन्हीं में आपके इष्टदेव की विशिष्ट शक्ति उतर पड़ी है। इसे ही कहते हैं इष्टदेव का अवतार। मानवता का अभीष्ट चरम विकास या मानव का देवत्व में उदात्ती-करण कहिये अथवा आपके आदर्श पूर्णत्व का या आप के इष्टदेव का मानव रूप में अवतार कहिये, बात एक ही है। केवल कहने-कहने का भेद है। अयोध्या के त्रेतायुगीन श्रीराम में गोस्वामीजी ने इसी प्रकार अपने इष्टदेव का अवतार देखा था। निराकार, सुराकार और नराकार राम को एक करके गोस्वामी ने उन्हें ही भारतीय जीवों का परम साध्य कहा है—परम आराध्य बताया है। अयोध्या के राम इस राष्ट्र के महापुरुष होने के नाते पूज्य हैं ही। निराकार राम सभी मानव जीवों के पूज्य हैं। सुराकार राम को मानना न मानना अपनी-अपनी साम्प्रदायिक भावना पर निर्भर है। लोग चाहें तो उस अंश के सम्बन्ध में अपनी-अपनी रुचि के इष्टदेवों की भावना करलें। गोस्वामीजी तो कहते हैं कि "प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताकौ काज सरो।" गोस्वामीजी का किसी से कोई विरोध नहीं। परन्तु उनका इतना कहना अवश्य है कि उन्होंने राम का भी त्रैविध्य मान रखा है वह ध्रुव सत्य है और उस पर शंका करना केवल मूढ़ लोगों को ही शोभा दे सकता है। विशेष विवरण के लिये हमारे तुलसी दर्शन आदि ग्रन्थ देखे जायँ।

इस :"साध्य" : के सम्बन्ध में गोस्वामीजी की कुछ पंक्तियाँ सुनिये :—

सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवध पति सोई।
जगत प्रकास्य प्रकाशक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥

× × ×

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक्य सुपासी॥
सो सुखधाम राम असनामा। अखिल लोक दायक विश्रामा॥

× × ×

विश्व रूप रघुवंश मनि, करहु वचन विश्वासु।
लोक कल्पना बेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥

× × ×

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।
बन्दउ सब के पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥

× × ×

जब जब होय धरम की हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

× × ×

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल विलगु नहिं जैसे॥

× × ×

जाके हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहं प्रकट सदा तेहि रीती॥
हरि व्यापक सरवत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना।
अग जग मय सब रहित विरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

× × ×

सीय राम मय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
भृकुटि विलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

स्मरण रहे कि सीता उन्हीं सच्चिदानन्द भगवान की वह अनादि शक्ति है जिसे एक रूप में माया और दूसरे रूप में भक्ति कहा जाता है। दोनों का सम्मिलित नाम भागवत की भाषा में है 'लीला'।

अब 'इष्टदेव' राम की कुछ विशिष्ट झाँकियाँ भी देखियेः—

जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू।
गई बहोरि गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥
रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सयबार हिये की॥
जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिर सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली॥
सोइ करतूति विभीसन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥
ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राज सभा रघुबीर बखाने।

प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से, साहब शील निधान ।।

(स्मरण रहे कि क्रिया दुष्टता—करतूति—क्षम्य हो सकती है किन्तु भाव दुष्टता अर्थात् अघ क्षम्य नहीं होता। प्रभु तो हिये की सुरति करते हैं किये का बुरा नहीं मानते।)

× × ×

मनक्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहँइ रघुराई ।।

× × ×

प्रनत पाल रघुनायक, करुना सिंधु खरारि।
गये सरन प्रभु राखिहहिं—तब अपराध बिसारि ।।

× × ×

निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ।।
गिरिजा रघुपति कै यह रीती। सन्तत करहिं प्रनत पर प्रीती ।।

× × ×

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्तखगे राम कर, समुभि परइ कहु काहि ।।

× × ×

चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि मन बानी ।।
अस बिचारि जे तग्य विरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी ।।
स्वपच सँवर खस जमन जड़, पांवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात ।।

× × ×

राम नाम कर अमित प्रभावा। वेद पुरान उपनिसद गावा ।।

× × ×

सीम कि चाँपि सकइ कोइ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू ।।
गरल, सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई ।।
गरूअ सुमेरु रैनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही ।।
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानियहि राम के नाते ।।

भाव यह कि संसार में जो भी पूज्य और ग्राह्य है वह अपने आराध्य इष्ट देव अपने सच्चिदानन्द के अनुकूल हो तो ग्राह्य समझा जाय अन्यथा यदि उस परम तत्व की उपलब्धि में वह बाधक हो रहा हो तो उसका त्याग ही उचित होगा। विकास का यही तो राजमार्ग है।

(ग) साधना—माया के विषय में गोस्वामीजी ने कहा है :—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ॥
गोगोचर जहँ लगि मनु जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा ॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बलु ताके ॥
ध्यान मान जहँ एकहु नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥

× × ×

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥
रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानु कर वारि।
जदपि मृसा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥
एहि विधि जग हरि आस्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जो सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई ॥

× × ×

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ ॥

× × ×

सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं ॥

× × ×

अति प्रचण्ड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया ॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना ॥
काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता ॥
सो नर इन्द्र जाल नहिं भूला। जापर होइ सो नट अनुकूला ॥

× × ×

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोइ अवतरहि मोरि यहु माया ॥

इन सब उक्तियों का अभिप्राय यह है कि आदि शक्ति अथवा विश्व-रचना सामर्थ्य भी माया ही है। उसे असत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह तो ब्रह्म से 'गिरा अर्थ जल बीचि सम' अभिन्न है। उस आदि-शक्ति द्वारा रचित यह विश्व, यह अनेकता भी माया है। किन्तु यह असत्य है, मृषा है, स्वप्न तुल्य है, इन्द्रजाल है। स्वप्नावस्था की बस्तुएँ स्वप्न में एकदम सत्य लगती हैं। उसी प्रकार जाग्रत अवस्था की ये सब वस्तुएँ हमें जाग्रत अवस्था में एकदम सत्य प्रतीत होती हैं। यह भ्रम तो तभी दूर हो सकता है जब हम कभी तुरीय अवस्था में पहुँच जायँ अर्थात् असली एकत्व के साक्षात् अनुभवपूर्ण दर्शन पा जायँ। इस विश्व संसार ही का नाम है संसरण, आवागमन भागाभाग, हाय-

हाय आदि। यही भवसागर है जिसके पार जाने की इच्छा प्रत्येक जीव में स्वाभाविक रहती है, परन्तु जिसके पार जाना अत्यन्त कठिन रहता है। माया का तीसरा अर्थ है मैं-मोर तैं-तोर का द्वन्द्व। यह द्वन्द्व उत्पन्न होता है संसार के इन्द्रजाल के कारण। जीव तो चैतन्य अंश है अतएव उसमें 'अहमिति अभिमाना' जाग्रत होना—मैं हूँ की स्फूर्ति होना—स्वाभाविक रहता है। इसी द्वन्द्व का नाम है मोह अथवा भ्रम जिसका असली जिम्मेदार है जीव। परन्तु क्योंकि जीव भी ब्रह्म का अंश ही है इसलिये इस मोह अथवा भ्रमरूपी अविद्या माया का उद्‌गम भी ब्रह्म ही मान लिया जाता है। ब्रह्म को हरएक बात का आदि-स्थान और मूल कारण मानते हुये भी समझदारी इसी में है कि मोह की उत्पत्ति के लिए जीव अपने को जिम्मेदार समझे और इस मोह को, भ्रम को, द्वन्द्व को दूर करा देने में अपने इष्ट देव को परम सामर्थ्यवान तथा अपना परम सहायक माने।

निर्गुण ब्रह्म तो न किसी को मोह देता है न किसी को ज्ञान देता है। न वह सुख देता है न दुख देता है। यह सब तो जीव का अपना किया हुआ है। सार्वभौम कर्म-चक्र में पड़ कर जीव जैसा करता है वैसा भरता है। 'इष्ट देव' अलबत्ता जीव को सहायता पहुँचाने और परमानन्द धाम तक ले जाने के लिए सदैव तत्पर रहता है। बशर्ते कि जीव सच्चे हृदय से उसकी सहायता माँगे। सहायता माँगने का मार्ग ही भक्ति मार्ग समझिए। यदि जीव अपने ही प्रयत्न से अपना मोह दूर करने के लिए आगे बढ़ेगा तो वह होगा उसका ज्ञान मार्ग। दोनों ही मार्गों में प्रयत्न अथवा कर्म की महत्ता तो स्वयं सिद्ध है। ज्ञान मार्ग में अपना ही प्रयत्न रहता है और भक्ति मार्ग में इष्टदेव का भी सहारा मिल जाता है। यही नहीं किन्तु अनेक दृष्टियों से भी गोस्वामीजी को भक्तिमार्ग ही सर्वोत्तम साधना पथ जान पड़ा। भक्ति की प्रेमपूर्ण सरसता के बिना ज्ञान शुष्क रहेगा और मोक्ष का सुख कहीं ठहर नहीं सकेगा। वास्तविक ज्ञान और भक्ति मार्ग में कोई अन्तर मानना भी न चाहिए। इस साधना पथ के लिए आवश्यक है कि मनुष्य सजनता को बढ़ाने वाला लोक व्यवहार अपनाये और हाय हाय से दूर रखने वाले मूल मन्त्रों को ग्रहण करे। इस विषय पर गोस्वामीजी की कुछ सूक्तियाँ सुनिये :—

कोउ न काहु सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।

× × ×

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ॥

तुलसी जसि भवितव्यता, तैसइ मिलइ सहाइ।
आपु न आवइ ताहि पँह, ताहि तहाँ लेइ जाइ॥

× × ×

होइहि सो जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावइ साखा।

× × ×

जनम मरन सब सुख दुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा॥
काल करम बस होइ गुसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥
सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥

× × ×

कादर मन कर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥

× × ×

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुरलभ सब ग्रन्थन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताय।
कालहिं करमहिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाइ॥

यद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥
करम प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥
तदपि करहिं सम विषम विहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

× × ×

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।
विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर करहिं प्रलापु॥

× × ×

जग बहुनर सरि सर सम भाई। जो निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई॥
सज्जन सुकृत सिंधु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई॥

× × ×

बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरन्ह सदा तृन धरहीं॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू। सन्तत धरनि धरत सिर रैनू॥
जिन्ह के लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं लावहिं पर तिय मन डीठी॥
मंगन लहहिं न जिन कै नाहीं। ते नर वर थोरे जग माहीं॥

× × ×

सम्भावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥
य बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं॥

बचन परमहित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे ॥

× × ×

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥

× × ×

जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति कि रीति भलि।
विलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि ॥

× × ×

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू।

× × ×

तात कुतरकु करहु जनि जायें। बैर प्रेमु नहिं दुरइ दुरायें ॥

× × ×

हित अनहित पसु पंछिहु जाना। मानुष तनु गुन ज्ञान निधाना ॥
सुर नर मुनि सबके यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥

× × ×

आरत कहहिं विचारि न काऊ। सूझ जुहारिहिं आपन दाऊ ॥

× × ×

का बरखा जब कृषी सुखाने। समय चुके पुनि का पछताने ॥

× × ×

अति सङ्घरसन करै जो कोई। अनल प्रगट चन्दन तें होई ॥

× × ×

टेढ़ जानि सङ्का सब काहू। बक्र चन्द्रमहिं गसै न राहू ॥

× × ×

दुइ कि होहिं इक सङ्ग भुवाला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला ॥

× × ×

सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख, जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर, अवसि होइ हित हानि ॥

× × ×

नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करइ छन माहीं ॥

× × ×

सुमति कुमति सब के उर रहई। नाथ पुरान निगमु अस कहहीं ॥
जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥

धन्य जनमु जगती तल तासू । पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू ।।

× × ×

गुरु पितु मातु स्वामि सिखपालें । चलेहुं कुमग पग परहि न खालें ।।

× × ×

जरउ सो सम्पति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ ।
सनमुख होत जो राम पद, करइ न सहस सहाइ ।।

× × ×

मात पिता भ्राता हितकारी । मित प्रद सबु सुनु राजकुमारी ।।
अमित दानि भर्ता बैदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही ।।
धीरजु धरम मित्र अरु नारी । आपत काल परखियहि चारी ।।

× × ×

दीपसिखा सम जुवति तनु, मन जनि होसि पतङ्ग ।
भजहि राम तजि काम मदु, करहि सदा सत सङ्ग ।।

× × ×

नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं । प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं ।।

× × ×

सासति करि पुनि करहिं पसाऊ । नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ ।।

× × ×

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सोनृप अवसि नरक अधिकारी ।।

× × ×

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान कहुँ एक ।
पालइ पोसइ सकल अङ्ग, तुलसी सहित विवेक ।।

× × ×

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहु वरु बचन न जाई ।।
सिवि दधीचि बलि जो कछु भाखा । तनु धनु तजेउ बचनु पनु राखा ।।
जिमि सरिता सागर पह जाहीं । यद्यपि ताहि कामना नाहीं ।।
तिमि सुख सम्पति बिनहिं बोलाये । धरम सील पहिं जाहिं सुभाये ।।

× × × ×

तप बल तें जग सृजइ विधाता । तप बल बिस्नु भये जग त्राता ।।
तप बल संभु करहिं संहारा । तप तें अगम न कछु संसारा ।।

× × × ×

प्रगट चारि पद धर्म के, कलि महँ एक प्रधान ।
ग्रेन केन विधि दीन्हे, दान करइ कल्यान ।।

जोग जुगुति तप मन्त्र प्रभाऊ। फलहिं तबहिं जब करिय दुराऊ ।।

× × × ×

नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरिसम होंहि कि कोटिक गुंजा ।।
धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना ।।

× × × ×

परम धरम स्तुति विदित अहिंसा। परनिन्दा सम अघ न गिरीसा ।।
सब कै निन्दा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं ।।

× × ×

बिनु सन्तोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं ।।

× × ×

भानु पीठि सेइय उर आगी। स्वामिहिं सर्व भाव छलु त्यागी ।।

× × × ×

परहित सरिस धरमु नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।।
निरनय सकल पुरान वेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोविद नर ।।

× × ×

बोले बिहँसि महेस तब, ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहिं छन होइ ।।

× × ×

भगतिहि ग्यानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा ।।
ग्यान क पंथ कृपान कै धारा: परत खगेस होइ नहिं बारा ।।

× × ×

सब कर मत खग नायक एहा। करिय राम पद पंकज नेहा ।।

× × ×

जो इच्छा करिहउ मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुरलभ नाहीं ।।

× × ×

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोगु न मख जप तप उपवासा ।।
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सदाई ।।

× × ×

मुनि दुरलभ हरि भगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरन्तर, सुनहिं मानि विस्वास ।।

× × ×

रामहिं केवल प्रेमु पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा ।।

बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहु जीव न लह बिस्राम॥

\+ + +

भगति सुतन्त्र सकल गुनखानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता। सत संगति संसृति कर अन्ता॥

\+ + +

बिरति चर्म असि ग्यान मद, लोभ मोह रिपु भारि।
जय पाइय सो हरि भगति, देखु खगेस बिचारि॥

\+ + +

गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई॥

× × ×

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तेहि राखइ जननी अरु गाई॥
पौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सत सम दास अमानी॥
जनहिं मोर बलु निज बल ताही। देहुँ कहें काम क्रोध रिपु आहीं॥
यह बिचारि पण्डित मोहिं भजहीं। पायेहु ग्यान भगत नहिं तजहीं॥

× × ×

तब लगि कुसल न जीव कहँ, सपनेहु मन बिस्राम।
जब लगि भजत न राम कहँ, सोक धाम तजि काम॥

× × ×

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अन्तर मल कबहुँ न जाई॥

× × ×

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान।
ग्यानवन्त अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ बिसान॥
राका पति सोड़श उअहिं, तारागन समुदाय।
सकल गिरिन्ह दव लाइय, बिनु रबि रात न जाइ॥

× × ×

बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भवतरिय, यह सिद्धान्त अपेल॥

× × ×

मोह मूल बहु सूल प्रद, त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक, कृपासिंधु भगवान॥

भक्ति के साधनों की गोस्वामीजी ने जगह-जगह चर्चा की है। परन्तु "सरल सुभाव न मन कुटिलाई, जथा लाभ सन्तोष सदाई"। गोस्वामीजी के मत में बड़ा प्रयासहीन साधन है। उन्होंने शबरी के प्रति कही हुई नवधा भक्ति को भी प्रमुखता दी है, जिसका हमने शबरी के उपाख्यान में संकेत कर दिया है। भक्ति के वे ही नौ साधन प्रकारान्तर से लक्ष्मणजी को भी समझाए गये हैं। यहाँ शबरी के प्रति कही हुई वह नवधा भक्ति दुहरा देना अप्रासङ्गिक न होगा।

नवधा भगति कनहुँ तोहि पाही। सावधान सुन धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति सन्तन्ह कर सङ्गा। दूसरि रति मम कथा प्रसङ्गा॥
गुरु पद पङ्कज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन करइ, कपट तजि गान॥
मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पञ्चम भजनु सो वेद प्रकासा॥
छठ दस सीलु विरति बहु कर्मा। निरत निरन्तर सज्जनु धर्मा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते सन्त अधिक कर लेखा॥
आठवँ जथा लाभ सन्तोसा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोसा॥
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हरस न दीना॥
नव महँ एकहु जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥

यहाँ "मैं" का अर्थ यदि अपना-अपना इष्टदेव या भगवान मान लिया जाय, जो वस्तुतः वहाँ है ही, तो यह नवधा भक्ति निश्चय ही एकदम असम्प्रदायिक तथा सार्वभौम हो जाती है। इसी का सारभूत दोहा है :—

सो अनन्य अस, जाके मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त॥

यह दोहा भली भाँति मनन करने योग्य है। यहाँ "मैं" का प्रासङ्गिक अर्थ है भक्ति।

हमने गोस्वामीजी की एक नई नवधा भक्ति का संकेत अपने "तुलसी दर्शन" नामक ग्रन्थ में किया है। वह भी अवलोकनीय है। संक्षेप में वह है मन से प्रभु प्रेम, वाणी से राम नाम और क्रिया से सत्सङ्ग तथा लोक सेवा।

१—भक्ति स्वाभाविक रुचि के अनुकूल है। २—उसके साधन अकष्टकर हैं। ३—उसमें प्रत्यूह कम है। ४—वह मङ्गल मूल और सुखखानि है। ५—वह सब साधनों का फल भी है। ६—वह सब साधनों का आचार भी है। ७—उसके साधन भी साध्यवत् सुखद हैं। ८—वह परम प्रीति प्राप्ति क।

एक मात्र पथ है। ९—वह सीधा मार्ग शीघ्रातिशीघ्र गन्तव्य स्थल तक पहुँचा देने वाला मार्ग है। १०—उसके बिना इस लोक और परलोक की सुख शून्यता ही रहेगी और ११—वह, इन्हीं सब कारणों से बड़े-बड़े आचार्यों द्वारा, एक मत से समर्थित है। ऐसे तर्क देते हुए गोस्वामीजी ने भक्ति मार्ग से अर्थात् केवल हठयोगाश्रित या केवल बुद्धियोगाश्रित साधना मार्ग से श्रेष्ठ बतया है।

भक्ति को कितना भी सुगम बताया जाय फिर भी वह साधन इतना आसान नहीं है। जिसमें मछली की सी संयोग क्षमता नहीं है, वह भक्ति का रस क्या जाने—"जग जस भाजन चातक मीना, नेम प्रेम निपुन नवीना।" परन्तु गोस्वामीजी ने चातक के उदाहरण को विशेष महत्त्व दिया है क्योंकि अड़चनों को झेलते हुए अपने लक्ष्य की ओर तन्मयता के साथ बढ़ते जाना चातक ही में देखा जाता है। दोहावली की चातक चौतीसी प्रसिद्ध ही है। मानस में भी देखिये—

जलदु जनम भरि सुरति विसारउ। जाँचत जलु पविपाहन डारउ।
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेमु सब भाँति भलाई।
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे।

मनुष्य को अपने बल का गर्व तो करना ही न चाहिये। साधना पथ में क्रिया को पूरा महत्त्व देते हुए भी वह कृपा के महत्व को न भूले और भगवान् की उसी कृपा की प्राप्ति के लिये उनके सामने प्रार्थना के रूपमें नतमस्तक होकर नित्य पहुँचा करे। विनय अथवा प्रार्थना की ऐसी कुछ सूक्तियाँ सुन लीजिये :—

दीन दयालु विरद सम्भारी। हरहुनाथ मम सङ्कट भारी॥

× × ×

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहउं निरवान।
जनम जनम सिय राम पद, यह बरदान न आन॥

× × ×

मो सम दीन न दीनहित, तुम समान रघुवीर।
अस विचारि रघु बंस मनि हरहु विषम भव भीर॥

× × ×

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहिं राम॥

× × ×

स्रवन सुजस सुनि आयस प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुवीर॥

× + ×

बार बार वर मांगउँ, हरषि देहु स्री रङ्ग।
पद सरोज अनपायिनी, भगति सदा सत सङ्ग॥

सन्त-असन्त

बंदउँ बिधि पद रेनु, भवसागर जेहिं कीन्ह जहँ।
संत सुधा ससि धेनु, प्रगटे खल बिष बारुनी ॥

एक ही पिता के दो पुत्रों में एक संत हो सकता है और दूसरा खल हो सकता है। भवसागर एक ही है, जिसे विधाता ने बनाया; परन्तु उसी से सुधा, शशि और कामधेनु सरीखे संत-तत्त्व भी प्रकट हुए और विस वारुणी सरीखे खल-तत्त्व भी प्रकट हुए। सन्तत्त्व और असन्तत्त्व के लिए कुल की नहीं किन्तु करतूति की प्रधानता है। देखिये न—

उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं ॥
सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू ॥
भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक विभूती ॥

दोनों के सामान्य व्यवहार भी एक से हो सकते हैं; परन्तु उन दोनों के परिणाम में जमीन-आसमान का अन्तर हो जाता है। दोनों ही दूसरों को दूसरे के लिए दुःख सहने की क्षमता रखते हैं। दुःख देने की क्षमता रखते हैं; दोनों में ही जीवन का उज्ज्वल और श्याम पक्ष बराबर-बराबर रह सकता है, फिर भी परिणाम की दृष्टि से एक परम यशस्वी होता है और एक परम निन्दनीय। देखिये—

बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दुख देहीं ॥
भूरज तरु सम सन्त कृपाला। पर हित नित सह बिपति बिसाला ॥
सन इव खल परबंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई ॥
सम प्रकास तम पाख दुहुँ नाम भेद विधि कीन्ह।
ससि पोषक सोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह ॥

दुःखप्रद वह भी है, जो मिलते ही दारुण दुःख की नींव डाल दे और वह भी है, जो बिछुड़ने से मर्मान्तक पीड़ा दे। अन्य के लिये दुःख-सहिष्णु सन्त भी है और भोजपत्र का वृक्ष भी, इसी तरह बराबर-बराबर अँधेरे उजेले वाला कृष्णपक्ष भी है और शुक्लपक्ष भी; परन्तु फिर भी एक अनर्थकारी अतएव अपयश-भाजन है और दूसरा उपकारकारी अतएव सुयश-भाजन है।

सुमति और कुमति की भाँति संतत्व और खलत्त्व प्रत्येक हृदय में

निवास करता है ; परन्तु जहाँ सन्तत्व की प्रधानता है, वहाँ सच्ची समृद्धि की प्रधानता है और जहाँ खलत्व की प्रधानता हो जाती है, वहाँ समझिये कि विपत्ति की भी प्रधानता होगी ही।

सुमति कुमति सब कें उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना॥

सुमति का तकाजा यह है कि मन, वाणी, क्रिया से परोपकार पर ध्यान रखा जाय। सन्त और असन्त के परखने की कसौटी यही है।

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥

मनुष्य में जड़ और चेतन—तन और आत्मा—दोनों का ही मेल है। जड़त्व यदि प्रबल हुआ तो आसुरी अथवा खलत्व की प्रवृत्ति जागेगी। चेतनत्व प्रबल हुआ तो दैवी प्रवृत्ति अथवा संतत्व की वृत्ति जागेगी। जड़त्व की प्रबलता में मनुष्य अपने हो साढ़े तीन हाथ के शरीर को सब कुछ मान बैठता है और अपने से भिन्न व्यक्तियों को अपने सुख का साधन बनाने के लिये उनके साथ भाँति-भाँति के विपरीत व्यवहार करने लगता है और परिणाम में भाँति-भाँति के दु:ख भी उठाता है। फिर तो जिस शरीर के सुख के लिये उसने इतनी खटपट उठायी थी, उसको भी घोर संकट में डालकर वह दूसरों का अपकार करता फिरता है। यही उसका स्वभाव बन जाता है।

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी।

चेतनत्व की प्रबलता में मनुष्य अपनी ही प्रतिच्छाया प्रत्येक मनुष्य में ही नहीं, किंतु प्रत्येक प्राणी और जड़-चेतन सभी वस्तुओं में देखने लगता है। 'पर-उपकार' ही उसका 'सहज' स्वभाव बन जाता है।

खल-वृत्ति वाला मनुष्य दोष ही ढूँढ़ा करता है और संत वृत्ति वाला मनुष्य गुणों की ही खोज में रहता है।

'जो जेहि भाव नीक पै सोई।'

जड़ चेतन गुन दोषमय विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

यही नहीं, अपने-अपने स्वभाव के अनुसार दोनों की मनोवृत्तियाँ भी इस ढङ्ग की बन जाती हैं कि एक दैवी-सम्पत्तियों वाला बन जाता है और दूसरा आसुरी सम्पत्तियों वाला। गीत में कहा गया है—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

इन सम्पत्तियों का इतना असर होता है कि जिन व्यक्तियों में ये पहुँचती हैं, उनमें तो ये असर करती ही हैं; परन्तु जो ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में आता

हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहु बेद विदित सब काहू॥

इसलिये—

बुध नहिं करहिं अधम कर संगा।

बुद्धिमान् जन अधम का सङ्ग नहीं करते।

अतएव नितान्त आवश्यक है कि संतों और असंतों की परख जान ली जाय—उनके लक्षणों को समझ लिया जाय। गोस्वामीजी सन्तों की वन्दना करते हुए उनके स्वभाव का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ॥

+ + + +

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ॥
षट विकार जित अनघ अकामा। अकल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कवि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मद हीना। धीर भगति पथ परम प्रवीना॥

+ + + +

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं।
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥

+ + + +

दम्भ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहितरत लीला॥

+ + + +

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान विख्याता॥
विषय अलम्पट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूत रिपु बिमद विरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥

गोस्वामीजी ने भगवान् के मुख से संतों के लक्षण विस्तार-पूर्वक दो स्थलों पर कहलवाये हैं। एक तो अरण्यकाण्ड में नारद के प्रश्न पर और दूसरे उत्तरकाण्ड में भरत के प्रश्न पर। नारद से भगवान कहते हैं कि संतों के जिन गुणों के कारण में उनके वश में रहता हूँ, वे अमुक-अमुक हैं। भरत से भगवान् कहते हैं कि संत जिन गुणों के कारण मुझे परम प्रिय लगते हैं, वे अमुक-अमुक

हैं। उन दोनों की प्रमुख तालिका ऊपर दे दी गयी है। प्रथम तालिका में—

सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥

और दूसरी तालिका में—

विषय अलम्पट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥

तथा—

मन बच क्रम मम भगति अमाया।

ऐसे दस लक्षण विशेष रूप से दर्शनीय है। यों तो कह ही दिया गया है कि उनके "लक्षण अगणित श्रुतिपुराण विख्याता हैं।"

संत ही सच्चा मित्र हो सकता है; क्योंकि मित्रता का अर्थ ही है अपने स्वार्थ को अपेक्षा अपने किसी घनिष्ठ के स्वार्थ को अधिक महत्त्व देना। अतएव जो वास्तविक मित्र होगा, वह निश्चय ही सन्त भी होगा। सन्त ही सच्चा भक्त भी हो सकता है। भक्ति का अर्थ ही है—अपने समूचे स्वार्थ को प्रभु के चरणों में अर्पित कर देना और प्रभु की इच्छा को ही सर्वोपरि मान लेना। अतएव जो भक्त होगा, वह निश्चय ही सन्त भी होगा। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि जो अपना हितैषी है, चाहे वह सामान्य पाटकीट (रेशम का कीड़ा) हो—

पाट कीट ते होइ, तेहि ते पाटम्बर रुचिर।
कृमि पालत सब कोइ, परम अपावन प्रान सम॥

चाहे माता-पिता गुरु के समान महनीय व्यक्ति हों—

मातु पिता गुरु प्रभु कर बानी। बिनहिं विचार करिय सुभ जानी।

यह उसी अंश तक सन्त की श्रेणी में है। जिससे जिस अंश में परहित हो रहा है, वह उसी अंश में सन्त है। मित्र के लक्षण गोस्वामीजी ने किष्किंधा काण्ड में कहे हैं और भक्त के लक्षण तो जगह जगह कहे हैं। विशेषतः वे स्थान देखे जाएँ, जहाँ बाल्मीकि ने भगवान् को उनके रहने लायक भवन बताये हैं। स्वतः भगवान् ने लक्ष्मण और शबरी को अपनी नवधा भक्ति कही है तथा विभीषण की कुशल-चर्चा पर अपना स्वभाव बताया है।

संतों या सन्तजनों के लक्षणों के सम्बन्ध में मुख्य कसौटी वही है, जो पहले बताई गयी है। जहाँ उनके स्वार्थ का प्रश्न होगा, वहाँ वे वज्र के समान कठोरता के साथ नीति-धर्म का पालन करेंगे और जहाँ दूसरों के स्वार्थ का प्रश्न होगा, वहाँ वे कुसुम से भी कोमल हो जायँगे। उनका उदय सदैव सबके लिए सुखकारी होता है।

संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥

संत हृदय नवनीत समाना । कहा कविन्ह पै कहइ न जाना ।।
निज परिताप द्रवइ नवनीता । परहित द्रवहिं संत सुपुनीता ।।

× × ×

संत उदय संतत सुखकारी । बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी ।।

परन्तु कठिनता यह है कि सच्चे संत बहुत कम ही मिला करते हैं। कबीर ने भी तो कहा है—'साधु न चलहि जमाति ।' गोस्वामीजी कहते हैं—

जग बहु नर सरि सर सम भाई । जे निज बाढ़ि बढ़हिं जलु पाई ।।
सज्जन सकृत सिंधु सम कोई । देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई ।।

× × ×

प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं । ऐसे नर निकाय जग अहहीं ।।
बचन परम हित सुनत कठोरे । सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे ।।

× × ×

जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी । नहिं लावहिं परतिय मनु डीठी ।।
मंगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं । ते नर बर थोरे जग माहीं।।

अथवा

नारि नयन सर जाहि न लागा । घोर क्रोध तम निसि जो जागा ।
लोभ पास जेहिं गर न बँधाया । सो नर तुम्ह समान रघुराया ।।
यह गुन साधन ते नहिं होई । तुम्हरिहिं कृपा पाव कोई कोई ।।

वे कम होते हुए भी इतने उदार होते हैं कि अपने से छोटों को ठुकराना तो दूर रहा, सिर-माथे पर ही रखते हैं। वे दुःख सहकर भी दूसरों के छिद्र दुराते हैं—

बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं । गिरि निज सिरन्ह सदा तृन धरहीं ।।
जलधि अगाध मौलि बह फेनू । सन्तत धरनि धरत सिर रेनू ।।

× × ×

साधु चरित सुभ सरिस कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू ।।
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा । वंदनीय जेहिं जग जस पावा ।।

इसलिये आग्रहपूर्वक उनसे सम्पर्क बढ़ाना चाहिये ।

सत्सङ्ग के बिना कभी कोई शुभ कार्य बनता नहीं । सत्सङ्ग सुलभ हो तो समझिये कि ईश्वर की बड़ी कृपा है, इसलिये वह एक क्षण के लिये भी मिल जाय, उसका एक परमाणु भी मिल जाय, तो समझिये कि बड़े भाग्य हैं।

जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना ।।

मति कीरति गति भूति भलाई। जो जेहिं जतन जहाँ लगि पाई ।।
सो जानब सत संग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ ।।

× × ×

सत संगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला ।।

× × ×

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन ।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान ।।

× × ×

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ।।

× × ×

तबहिं होहिं सब संयम भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा ।।
भगति सुतन्त्र सकल गुन खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ।।
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अन्ता ।।

× × ×

बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग ।।

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग जप जाग बिरागा ।।

परन्तु दुर्लभ होते हुए भी, प्रबल इच्छा हो तो वह सत्संग 'सबहि सुलभ' भी हो सकता है—

मुद मंगलमय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू ।।
राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा ।।
विधि निषेधमय कलिमल हरनी। करमकथा रबिनंदिनि बरनी ।।
हरिहर कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी ।।
बट बिस्वासु अचल निज धर्मा। तीरथराज समाज सुकर्मा ।।
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा ।।
अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देत सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ।।

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग ।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग ।।

मज्जन फल पेखिअ ततकाला। काक होहिं पिक बकहु मराला ।।

गोस्वामीजी कहते हैं कि सामान्य व्यक्तियों के ऊपर सङ्ग का असर हुए बिना रह नहीं सकता। सुसङ्ग मिला तो वे अच्छे हो जायेंगे और कुसङ्ग मिला तो बुरे हो जायँगे। सामान्य वस्तुओं तक में यह असर देखा जा सकता है।

गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलइ नीच जल संगा॥
साधु असाधु सदन सुक सारी। सुमिरहिं रामु देहिं गनि गारी॥
धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवनदाता॥

ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलच्छन लोग॥

इस प्रसङ्ग में—

सुरसरि जलकृत बारुनि जाना। कबहुँ न सन्त करहिं तेहि पाना॥
सुरसरि मिलें सो पावन कैसे। ईस अनीसहिं अन्तर जैसे॥

वाला दृष्टान्त भी भलीभाँति मननीय है।

सामान्य जन की कौन कहे, यदि खल भी सुसङ्ग में पड़ जाय तो कुछ-न-कुछ भलाई कर ही बैठता है। भले ही अपने स्वभाव से लाचार होने के कारण पीछे उसकी पोल खुल जाय, परन्तु सज्जनता का बाहरी बाना रखकर वह कुछ तो अपने को पुजा ही लेता है। यदि कोई दिखावे में साधुता का बाना न भी रखता हो किन्तु हो वस्तुतः साधु तो उसका तो जगत् में सम्मान होगा ही और उसका सङ्ग सबके लिये लाभप्रद रहेगा ही।

खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू॥
लखि सुबेषु जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ॥
उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥
कियेहुँ कुवेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥
हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहुँ बेद बिदित सब काहू॥

खल लोग भी सन्तों का वेष धारण करके समाज में विचरण कर सकते हैं और सन्त लोग 'कुबेष' धारी होकर अपरिचित बने रह सकते हैं। किसको अपनाया जाय और किसको त्यागा जाय, यह तो पहिचान या परख होने पर ही निश्चित किया जा सकता है। 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।' अतएव जिस प्रकार सन्तों के विस्तृत लक्षण जान रखना जरूरी है, उसी प्रकार असन्तों के भी लक्षण विस्तृत रूप में जान रखना जरूरी है।

समानचित्त गोस्वामीजी ने जिस प्रकार सन्तों की वन्दना की है, उसी प्रकार खलो की भी वन्दना की है और इसी वन्दना में उन्होंने खलों के बड़े खास खास लक्षण बता दिये हैं। वे कहते हैं—

बहुरि बन्दि खलगन सति भाएँ। जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ॥
पर हित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे॥

हरि हर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से।।
जे पर दोष लखहिं सहसाखी। पर हित घृत जिनके मन माखी।।
तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा।।
उदय केतु सम हित सबही के। कुम्भकरन सम सोवत नीके।।
पर अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।।
बंदउँ खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ परदोषा।।
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहस दस काना।।
बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही। संतत सुरानीक हित जेही।।
बचन बज्र जेहि सदा पिआरा। सहस नयन पर दोष निहारा।।

उदासीन अरि मीत हित, सुनत जरहिं खल रीति।
जानि पानि जुग जोरि जनु, बिनती करइ सप्रीति।।

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब मोरा।।
बायस पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा।।

मजा यह है कि वन्दना करते हुए भी वे यह नहीं कहते कि खल लोग उनके साथ अपनी खलता छोड़ दें।

भर्तृहरि ने चार प्रकार के मनुष्य बताये थे। एक वे, जो स्वार्थ का त्याग कर दूसरे का हित करें, दूसरे वे जो स्वार्थ को साधते हुए दूसरे का हित करें। तीसरे वे जो स्वार्थ के लिए दूसरे का हित नष्ट करें और चौथे वे जो बिना स्वार्थ के भी दूसरों का अहित करते रहें। तीसरे दर्जे वालों को उन्होंने मानव-राक्षस कहा है और चौथे दर्जे वालों को क्या कहा जाय, यह वे भी नहीं समझ पाये। गोस्वामीजी ने दो दर्जे और बढ़ा दिये हैं। पाँचवाँ दर्जा उनका है, जो दूसरों का अहित करने में ही अपना स्वार्थ मानें। 'परहित हानि लाभ जिन्ह केरें। उजरें हर्ष विषाद बसेरें।' और छठा दर्जा उनका है जो दूसरों का अहित करने में अपना सर्वस्व और यहाँ तक कि जीवन भी अर्पित कर देंगे। 'परहित घृत जिन्ह के मन माखी।' मक्खी घी में पड़कर स्वयं भले ही मर जाय, परन्तु घी तो बिगाड़ेगी ही। इससे भी तगड़ा उदाहरण है—'जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं' का। कौनसा स्वार्थ है ओलों का कि जो आकाश का ऊँचा निवास त्याग कर फसल का जबरदस्ती नुकसान करने में ही वहाँ पहुँच जायँ, भले ही उसे चौपट करने में उन्हें स्वतः भी गलकर नष्ट हो जाना पड़े। यह है आदत की लाचारी। यह है सच्चा खलत्व। हमने सुभाषित में पढ़ा था कि एक मनुष्य इसलिये जबरदस्ती जंगली बाघ का भक्ष्य बना था कि उसे खा कर बाघ को नरमाँस की चाट लग जाय और वह फिर उस गाँव के सब आद-

मियों को, जिनसे कदाचित् उसकी शत्रुता हो गयी होगी, एक-एक करके खा डाले। नीरो ने कब परवा की कि इतिहास उसके मुँह पर खूब कालिख पोत कर उसे जन्म-जन्म तक गालियाँ देता रहेगा; उसने तो यही देखना चाहा कि मनुष्य अपने बाल-बच्चों समेत किस प्रकार जल-भुनकर और तड़प-तड़प कर मर सकते हैं।

गोस्वामीजी लिखते हैं—

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥

ऐसा आदमी यदि बिलैया-दण्डवत करे—बड़ी नम्रता दिखाये—तो भी उससे बहुत सतर्क रहना चाहिये।

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई॥

राक्षस-वर्ग इन्हीं में से तो रहता है। गोस्वामीजी कहते हैं—

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे ताकहिं परधन परदारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के ए आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी॥

जैसे भरत के प्रश्न पर प्रभु ने सन्तों का वर्णन किया है, वैसे ही असन्तों का भी किया है। वे कहते हैं—

सुनहु असन्तन केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदय परिताप बिसेषी। जरहिं सदा पर सम्पति देखी॥
जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥

\+ \+ \+

बयरु प्रकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

\+ \+ \+

बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा॥

परद्रोही परदार रत, परधन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय, देह धरें मनुजाद॥

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न॥
काहू कै जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुख भए मानहुँ जग नृपती॥

\+ \+ \+ \+

ऐसे अधम मनुज खल कृत जुग त्रेता माहिं
द्वापर कछुक बृन्द बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥

कलियुग का तो यह हाल है कि—

लघु जीवन संबत पंच दसा। कल्पांत न नास गुमान असा ।।
कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा ।।
इरिषा परुषाच्छर लोलुपता। भरि पूरि रही समता बिगता ।।
तनु पोषक नारि नरा सगरे। पर निंदक जो जग मों बगरे ।।

यही नहीं, और भी कहा गया है—

मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा। पण्डित सोइ जो गाल बजावा ।।

\+ + + +

सोइ सयान जो परधनहारी। जो कर दम्भ सों बड़ आचारी ।।

\+ + + +

जो कह झूठ मसखरी जाना। कलिगुग सोइ गुनवन्त बखाना ।।

\+ + + +

जे अपकारी चार, तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार, तेइ बकता कलिकाल महुँ ।।

\+ + + +

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकट की नाईं ।।

\+ + + +

मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं। उदर भरइ सोइ धरमु सिखावहिं ।।

\+ + + +

ब्रह्मग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि मोह बस करहिं विप्र गुरु घात ।।

× × ×

आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं। जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं ।।

अतएव कलियुग में तो खलों से बहुत ही सतर्क रहने की आवश्यकता है; परन्तु उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनसे दुश्मनी मोल लेना अपनी आफ़त मोल लेना होगा। और उनसे दोस्ती हो नहीं सकती ; क्योंकि वे जिस पत्तल पर खाते हैं, उसमें छेद किये बिना मानते नहीं ; जिस सीढ़ी से ऊपर चढ़ते हैं उसे ठुकराकर गिराये बिना उन्हें चैन नहीं। इसलिये उनसे उदासीन रहना ही सर्वोत्तम है। कुत्ते को पुचकारिये तो मुँह चाटेगा और दुतकारिये तो सम्भव है काट खाय। आप चुपचाप उससे उदासीन होकर अपनी राह चले जाइये तो वह भूँक-भाँक कर चुप रह जायगा। देखिये—

जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहिं हठि ताहि नसावा।।
धूम अनल सम्भव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई।।
रज मग परी निरादर रहई। सब कर पग प्रहार नित सहई।।
मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई।।
सुनु खगपति अस समुझि प्रसङ्गा। बुध नहिं करहिं नीच कर सङ्गा।।
कवि कोविद गावहिं अस नीती। खल सन कलह न भलि नहिं प्रीती।।
उदासीन नित रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं।।

शठ लोग सत्सङ्गति पाकर सुधर सकते हैं, किन्तु सज्जन दुर्भाग्यवश कुसङ्गति में पड़ जायें, तो भी सत् स्वभाव सहसा छोड़ते नहीं—

सठ सुधरहिं सतसङ्गति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई।।
बिधि बस सुजन कुसङ्गति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं।।

महात्मा गान्धीजी के तथा अन्य ढेरों उदाहरण इस सम्बन्ध में दिये जा सकते हैं।

परन्तु फिर भी सज्जनों तक को अपने सन्तत्वपर गर्व करके कुसङ्ग के रास्ते झाँकते न रहना चाहिये। मनकी वृत्ति तो है, न जाने कब कैसी हो जाय। गोस्वामीजी पहले ही कह गये हैं—

बोले बिहँसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जब रघुपति करहिं जस सो तस तेहि छन होइ।।

जीवन का अधःपतन की ओर उन्मुख होना सरल है, परन्तु ऊपर की ओर चढ़ना कठिन है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह दुष्टों को पहचान कर उनसे बचता जाय और सज्जनों को पहचान कर उनसे मेल-जोल बढ़ाता जाय।

संक्षेप में गोस्वामीजी ने उन दोनों के स्वभाव और उन दोनों के परिणाम को एक उदाहरण से स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं-—

सन्त असन्तन कै असि करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी।।
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई।।
ताते सुर सीसन्ह चढ़त, जग बल्लभ श्रीखण्ड।
अनल दाहि पीटत घनहि, परसु बदन यह दण्ड।।

एक उदाहरण क्यों, उनके दिए हुए अनेकानेक उदाहरण, अनेकानेक दृष्टान्त, अनेकानेक उपमान, जिनका दिग्दर्शन ऊपर हो चुका है, इतने मार्के के हैं कि उनका स्पष्टीकरण करके प्रवचनकार व्यासलोग सन्त-असन्त और सत्सङ्ग-के बड़े स्पष्ट और भव्य चित्र श्रोताओं के हृदयों पर अङ्कित कर सकते हैं।

जलज-जोंक के, सुधा-सुरा के, भूर्जतरु-सन के, विटप के, नवनीत के, कपास के, प्रयाग के, रज और धूम के, सुरसरि जल और वारुणी के, मनमाखी और हिम-उपल के, श्वान के, पारस के, कुठार और चन्दन के, उपमान तो विशेष रोचक ढङ्ग पर समझाये जा सकते हैं। बीच-बीच में प्रसङ्गानुसार बाहर के भी दृष्टान्त बड़े मजे में दिये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—'उजरे हर्ष' के प्रसङ्ग में वह कथा सुनायी जा सकती है, जिसमें एक मनुष्य को शङ्कर ने यह वरदान दिया था कि वह जो माँगेगा, वह उसे मिल जायगा; परन्तु उसके पड़ोसियों को बिना माँगे ही उसका दूना मिल जाया करेगा।

मानस में वार्तालाप-सौष्ठव

मनुष्य-समाज में जितनी कलाएँ प्रचलित हैं उनमें वक्तृत्व-कला का अपना निराला महत्व है। महाकवि भारवि ने ठीक ही कहा है—"भवन्ति ते सभ्यतमाः विपश्चितां, मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।" वे विद्वानों में भी सभ्यतम हैं, जो मनोगत भाव को वाणी में निविष्ट कर लेते हैं। यों तो बातें सभी कर लेते हैं परन्तु बात-बात में अन्तर रहा करता है। एक मनुष्य वही बात इस भोंड़ेपन से कह देता है कि मुगलाई होती तो हाथी के पैरों से कुचलवा दिया जाता। दूसरा मनुष्य वही बात इस चतुरता से कह देता है कि राजसी युग होता तो हाथी पुरस्कार में पा जाता। "बातें हाथी पाइयाँ बातें हाथी पांव।" जिसने वाक्-कौशल प्राप्त कर लिया है वह विभिन्न मनुष्यों और विभिन्न परिस्थितियों में भी अपना सिक्का जमाता जाता और सफलता पर सफलता प्राप्त करता जाता है। शिष्ट मनुष्य वह है जो वाक् कौशल का धनी है। चतुर मनुष्य वह है जो अवसर की बात अवसर पर कहता है। अन्य कवियों ने भी दोहों में इसी का समर्थन किया है :—

"नीकी पै फीकी लगै बिन अवसर की बात," और "फीकी पै नीकी लगै कहिये समय विचारि,।" इसमें से पहली सुहाती नहीं और दूसरी अच्छी लगती है।

रामचरित-मानस में सुन्दर शब्द-भाण्डार, प्रभावशाली मुहावरेबन्दी, प्रासादिक वाक्य-पुञ्जों और चुभती हुई चटकदार उपमाओं तथा दृष्टान्तों की भरमार तो है ही, और ये सब वस्तुएँ उक्ति-कौशल की सहायक हैं,—परन्तु उसमें जो वार्तालाप दिये गये हैं वे उक्ति-सौष्ठव के असली शिक्षक हैं। सम्भाषण-शिष्टता यदि किसी को सीखनी है—वक्तृत्व के मनोविज्ञान का यदि किसी को पण्डित होना है—तो उसे चाहिये कि वह मानस के वार्तालापों का मनन करे। हम यहाँ इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप कुछ वार्तालापों की संक्षिप्त चर्चा मात्र कर देना चाहते हैं।

सबसे पहले उमा और सप्तर्षियों का वार्तालाप ही ले लीजिए! ऋषियों के प्रश्न पर पार्वतीजी कहती हैं :—

कहत मरमु मन अति सकुचाई। हंसिहहु सुनि हमारी जड़ताई।
मनु हठि परा न सुनइ सिखावा। चहत वारि पर भीति उठावा॥
नारद कहा सत्य सोइ जाना। बिनु पङ्खन हम चहहि उड़ाना॥
देखहु मुनि अविवेक हमारा। चाहिअ सदासिवहि भरतारा॥

सप्तर्षियों का बड़प्पन रखते हुए और अपनी नम्रता तथा शालीनता का निर्वाह करते हुए किस उत्तमता से ये वाक्य कहे गये हैं कि विपक्षी की बहस का हौसला एक बार तो ढीला पड़ ही जाय। विपक्षी के दृष्टिकोण को मान देते हुए अपना दृष्टिकोण नम्रतापूर्वक प्रस्तुत कर देना ही सब से बड़ा वाक्-कौशल है। फिर भी जब सप्तर्षियों ने बहस का क्रम चलाना ही चाहा तब पार्वतीजी ने उनके तर्कों का उत्तर देते हुए किस खूबी के साथ आगे की बहस बन्द कर दी यह देखते हो बनता है।

"मैं पा परउं कहइ जगदम्बा। तुम्ह गृह गवनहु भयउ विलम्बा।।"

फिर ज़रा एकतनु नामक कपटी मुनि की धूर्तता भरी बातें देखिये। प्रतापभानु को अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ वह किस प्रकार अपने मन की बात उनके मुख से कहलवा ले रहा है। मानो वह स्वगत कथन करता हुआ अपने मन का नकली ऊहापोह इन शब्दों में व्यक्त कर रहा है।

सुनु नृप विविध जतन जग मांही। कष्ट साध्य पुनि होहिं कि नाहीं।।
अहइ एक अति सुगम उपाई। तहां परन्तु एक कठिनाई।।
मम आधीन जुगुति नृप सोई। मोर जाब तव नगर न होई।।
आजु लगे अरु जब तें भयऊँ। काहू के गृह ग्राम न गयऊँ।।
जौ न जाउं तब होइ अकाजू। बना आइ असमञ्जस आजू।।

कपटी मुनि तो राजा के यहाँ जाना ही चाहता था परन्तु प्रस्ताव उसने राजा के मुख से कराया और वह भी इस ढङ्ग पर कि मानो उस प्रस्ताव की स्वीकृति से उन पर उसका बड़ा अहसान होगा। मन्थरा और कैकेई का संवाद भी इस सम्बन्ध में बड़ा दर्शनीय है। मैं विपक्ष के ही हित की बात कर रहा हूँ और उसमें मेरा रत्ती भर स्वार्थ नहीं है उलटे मुझे उसमें व्यक्तिगत अड़चन ही होगी, यह विपक्षी के मन में जमा देना अपने स्वार्थ-साधन का बड़ा चतुर ढङ्ग है।

कोई भारी भरकम पुरस्कार माँगने का तरीका मनु की बातों में देखिये—कैसी सुन्दर भूमिका बाँधी है उन्होंने। कहते हैं :—

एक लालसा बड़ि उरमाँहीं। सुगम अगम कहि जात सो नाहीं।।
तुमहिं देत अति सुगम गुसाईं। अगम लागि मोहिं निज कृपनाईं।।

देने वाला आप ही प्रसन्न होकर कह उठेगा "मांगो माँगो, कितना बड़ा वर माँगना चाहते हो।"

जनक के पूछने पर विश्वामित्र ने जब राम का आध्यात्मिक परिचय देना प्रारम्भ किया—'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी'। तब राम ने मुसकुरा दिया—'मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी'। उनकी इस एक मुस्कुराहट ने विश्वा-

मित्र को प्रकृतिस्थ कर दिया और वे कह उठे "रघुकुल मनि दसरथ के जाये, मम हित लागि नरेश पठाये।" मुस्कुराहट का एक कृत्य विश्वामित्र की बहक दूर करने में सौ वाक्यों का काम कर गया।

वार्तालाप के ढङ्ग का और प्रसङ्ग देखिये :—

लषन हृदय लालसा विशेखी। जाइ जनकपुर आइय देखी॥
प्रभुभय बहुरि मुनिहिं सकुचाहीं। प्रकट न कहहिं मनहिं मुसकाहीं॥
राम अनुज मन की गति जानी। भगतबछलता हिय हुलसानी॥
परम विनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुरु अनुशासन पाई॥
नाथ लषण पुर देखन चहहीं। प्रभु संकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जो राउर आयसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लेइ आवउँ॥

कौन हृदयहीन होगा जो इतने पर भी आदेश न दे। देखना तो लक्ष्मण ही चाहते थे। परन्तु राम ने किस कौशल के साथ अपने को भी नत्थी कर लिया। अपने लिये कहना भी न पड़ा और आदेश अनायास मिल गया।

वचन-चातुरी का बढ़िया प्रसंग है परशुराम संवाद वाला। विपक्षी तक ने इसके लिये "जयति वचन रचना अति नागर" कहकर भरपूर दाद दी है। अपने बल-पौरुष के अहं की जो ग्रन्थि परशुराम के मन में अनुचित सीमा तक बढ़ कर बंध गयी थी उसे उकसा-उकसा कर शिथिल कर देना लक्ष्मण और राम के समान ही कुशल वक्ताओं का काम था। यह गलत है कि लक्ष्मण ने वे सब बातें क्रुद्ध होकर कहीं थीं। वे तो उस समय क्षमामन्दिर हो रहे थे "छमहु छमामन्दिर दोउ भ्राता।" वह पूरा प्रसंग वाक्-कौशल का अनूठा नमूना है।

अयोध्याकाण्ड में तो व्यास-शैली के उत्तमोत्तम संवादों की भरमार है। जहाँ मतलब की बात कह देने भर की आवश्यकता है वहाँ वार्तालाप में समास-शैली का प्रयोग होता है। वहाँ संक्षिप्तता ही बरती जाती है। जहाँ उस बात को गले उतार देने की आवश्यकता है वहाँ व्यास-शैली का प्रयोग होता है। उस बात के पोषण में उत्तमोत्तम तर्क बढ़ा-चढ़ाकर दिये जाते हैं। कैकेई-मन्थरा संवाद की चर्चा हमने पहले ही की है। कैकेई-दशरथ संवाद, राम-कौशल्या संवाद, राम-सीता संवाद, राम-लक्ष्मण संवाद, सभी अपनी छटा में अपूर्व हैं। भरत का विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न लोगों से संवाद तो व्यास-समास दोनों ही शैलियों का अनूठा नमूना है। वाक्-कौशल के लिये बातों की ऊपरी बनावट ही काम नहीं देती उसके लिये अनुकूल मनःस्थिति का होना प्रथम आवश्यक बात है। इस मनःस्थिति में बुद्धि और भावना दोनों का सहयोग चाहिये। बुद्धि का सहयोग है तो बात पते की होगी—सत्य को स्वीकार करती

हुई चलेगी। भावना का सहयोग होगा तो बात अनुद्वेगकर होगी—प्रिय को स्वीकार करती हुई चलेगी। 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्'। मनःस्थिति की जितनी गहराई से बात निकलेगी वह उतनी ही प्रभावोत्पादक होगी और आप ही आप उतनी ही कलात्मक बन जायगी। अयोध्याकाण्ड के अनेक संवादों में यही कला छिटकी हुई मिलेगी।

कोई भी बात कही जाय तो पहले यह देख लिया जाय कि उसका प्रभाव क्या पड़ेगा। उस प्रभाव का विचार रखकर परिस्थिति को पहले अनुकूल बनाना पड़ता है तब बात कही जाती है। दशरथ-मरण का संवाद राम का सुनाना था। इस दुःखद समाचार को सह सकने की अनुकूल परिस्थिति बनाकर ही वशिष्ठ ने यह बात कही थी। "कहि जगगति मायिक मुनिनाथा, कहे कछुक परमारथ गाथा। नृप कर सुरपुर गमन सुनावा।"

सुमित्रा के वाक्-कौशल का एक नमूना देखिये। चित्रकूट-प्रसंग में सुनयना ने विधि-बुद्धि की आलोचना करते-करते 'जहं तहं काक उलूक बक, मानस सकृत मराल' तक कह डाला। काक उलूक बक की श्रेणी में स्वभावतः ही कैकेयी का नम्बर आ सकता था, अतएव आलोचना अब इस क्रिया में आगे न बढ़े इसलिये झट सुमित्रा ने मूल बात की ओर बातों का रुख मोड़ दिया। 'सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा, विधिगति बड़ि विपरीति विचित्रा'। बात बदल गयी। बातें फिर जब बहुत लम्बायमान होने लगीं तो सुमित्रा ने कालमान की ओर संकेत कर दिया। 'देवि दण्डजुग जामिनि बीती'। बस बातें वहीं समाप्त हो गयीं। बातों का रुख घुमा देना भी एक बड़ा वाक्-कौशल है। सबसे बड़ा वाक्पटु प्रायः वह माना गया है जो सामने वाले को बोलने का अधिक से अधिक अवसर देता है परन्तु साथ ही यह देखता रहता है कि बातें उसकी भावना के अनुकूल ही विकसित हो रही है और वे किसी प्रकार मर्यादा से बाहर नहीं जा रही हैं।

किसी को शिष्टता के साथ बिदा करना हो तो राम की इस वाणी पर ध्यान दिया जाय जो उन्होंने गुरु वशिष्ठ से कही। बिदा का एक शब्द भी नहीं है इसमें।

'सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू ॥
उचित होइ सोइ कीजिय नाथा। हित सबही कर रउरें हाथा ॥
अस कहि अति सकुचे रघुराऊ। मुनि पुलके लखि शील सुभाऊ ॥"

सेवा अथवा सहायता की खूबी इसी में है कि वह अहसान जनाकर न की जाय। वाक्-कौशल का अभाव यहीं गुड़ को गोबर और उसका सद्भाव

गोबर को गुड़ बना सकता है। सुतीक्ष्ण का वाक्-कौशल देखिये कि वे किस तरह राम के पथ-प्रदर्शक बनकर अगस्त्य के आश्रम तक गये हैं और राम इन्कार तक न कर सके। मुनि कहते हैं "बहुत दिवस गुरु दरसन पाये, भये मोहि एहि आस्रमु आये। अब प्रभु संग जाउं गुरु पाहीं, तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं।" कितना सुन्दर तरीका है सेवा का। समझदार स्वामी के मन में ऐसी सेवा का जो असर हो सकता है वह घोषित की हुई सेवा से अनेक गुन बढ़कर है।

एक और प्रसंग देखिये। समुद्र तट पर कालरूप सम्पाती सामने आ खड़ा हुआ। वानर घबरा उठे। क्या किया जाय, कैसे बचा जाय। उस समय अंगद का वाक्-कौशल काम आया। उन्होंने सोचा सम्पाती गृद्ध है अतएव इसके किसी ऐसे सजातीय की चर्चा छेड़ दी जाय जो हम लोगों का सहायक रह चुका है। "कह अंगद बिचारि मन माहीं, धन्य जटायू सम कोउ नाहीं। राम काज कारन तनु त्यागी, हरिपुर गयेउ परम बड़भागी"। तीर एक दम निशाने पर लगा और सबके प्राण ही न बचे किन्तु सबका उपकार भी हो गया। उसी के आगे जाम्बवन्त का वाक्-कौशल देखिये। हनूमान कनकभूधराकार होकर पूछ रहे हैं। "क्या मैं रावण को मारकर त्रिकूट उखाड़ लाऊँ ?" जाम्बवन्त तड़ाक से यह नहीं कह उठते कि यह तो राम ही के बलबूते की बात होगी। वे कहते हैं "भाई, तुम केवल इतना ही करो कि सीता को देख आओ। फिर तो राम जी अपनी लीला का विस्तार कर लेंगे।" हनुमान को समुचित उपदेश भी मिल गया परन्तु इस खूबी से कि उनके बल-पौरुष की कोई प्रत्यक्ष आलोचना होने ही नहीं पाई।

सुरसा और हनूमान के संवाद में और रावण तथा सीता के संवाद में जिस समास शैली का तथा रावण और हनूमान के संवाद में एवं हनूमान द्वारा कथित विरह-निवेदन में जिस व्यास शैली का प्रयोग हुआ है वह देखते ही बनता है। और फिर, सीता की विपत्ति कहते कहते जब उन्होंने देखा कि राम का रुख कुछ दूसरा हो गया है तब किस खूबी से बात पलट दी हनुमान जी ने। "सीता कै अति विपति विशाला, बिनहि कहे भलि दीनदयाला॥ सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना, भरि आये जल राजिव नयना। वचन काय मन मम गति जाही, सपनेहु बूझिय विपति कि ताही। कह हनुमान विपति प्रभु सोई, जब तब सुमिरन भजनु न होई। केतिक बात प्रभु जातुधान की, रिपुहिं जीति आनिबी जानकी।"

राम ने आगे चल कर बड़े प्रेम से पूछा कि हे कपि! तुमने रावण-पालित अतिबक लङ्का दुर्ग का किस प्रकार दहन किया ? हनूमान के लिये

उत्तर देना अनिवार्य हो गया परन्तु उस उत्तर को अति संक्षिप्त ढङ्ग से पूर्वापर क्रम भङ्ग करते हुए जिस शिष्टता और नम्रता से हनूमानजी ने दिया है उससे उनकी शालीनता बरसी पड़ रही है। यह है सेव्य के समक्ष सेवक का अनुकरणीय व्यवहार। यह है उक्ति सौष्ठव, जो उच्च मनःस्थिति के कारण अनायास बन पड़ता है परन्तु जिसमें सूक्तिकौशल आप ही आप निखर उठता है। जो अच्छाइयाँ बन पड़ी हों उन्हें प्रभु का प्रसाद मानना और जो बुराइयाँ हों उनके लिये एक मात्र अपने को ही दोषी मानकर चलना जीवन का बड़ा सुनहला नियम है। यह नियम उक्ति में सौष्ठव तथा शालीनता आप ही ले आता है।

सामने वाले की उक्ति की अच्छाई और मान्यता को स्पष्ट शब्दों में मान देकर यदि अपनी बात आगे बढ़ाई जाय तो प्रतिपक्षी (सामने वाले) का कुछ आत्मतोष हो जाने के कारण वह इस स्थिति में आ जाता है कि आगे की बातों को शुद्ध हृदय से ग्रहण कर ले। विभीषण के विषय में जब राम ने सुग्रीव से सलाह ली अथवा समुद्र के विषय में जब उन्होंने विभीषण की सलाह सुनी अथवा इसके पूर्व चित्रकूट में भरत के विषय में जब लक्ष्मण ने राजमद की बात कही, उन प्रसंगों में राम की उक्तियों पर ध्यान दीजिये। "सखा नीति तुम नीकि विचारी," "सखा कही तुम नीकि उपाई, सबतें कठिन राजमद भाई" आदि। प्रतिपक्षी की सहृदयता उकसाकर उसे मौन बना देने का कितना सुन्दर ढङ्ग है यह।

जब कोई ऐसी बहस पर उतारू हो जाय जो विषयान्तर को ले जाने वाली हो तो सामने वाले को सन्तोष देकर अपने विषय पर आ जाना भी राम का अनूठा वाक्कौशल था जो उन्होंने केवट के प्रसंग में दिखाया। कौन उससे माथापच्ची करे। कह दिया "सोइ करु जेहि तब नाव न जाई।"

कभी-कभी ऐसी ऊटपटाँग बातें भी की जाती हैं जिनसे अनायास ही सामने वाले के मन की थाह मिल जाय। सुवेल शैल पर राम ने चन्द्रमा के कलंक की बात अपने साथियों से पूछी। सुग्रीव ने कहा शशि में भूमि की झाँई प्रकट हुई है, विभीषण ने कहा कि राहु का मुक्का पड़ा इसलिये चन्द्रमा की छाती पर काला दाग हो गया है, अंगद ने कहा विधाता ने चन्द्रमा में एक छेद कर दिया क्योंकि उसे रति-मुख-निर्माण हेतु उसका सारभाग चाहिये था. हनुमान ने कहा यह तो प्रभु की श्याम मूर्ति ही शशि के उर में बसी है। किसके मन में कौन विचारधारा कार्य कर रही है इसका अनायास ही उन्हें पता लग गया और युद्ध में नियुक्त करने के पहिले यह पता लगा लेना कितना आवश्यक था! ठेठ प्रश्न पर मनोभावों का क्या ऐसा स्पष्ट उत्तर मिल सकता था?

लंका-विजय के बाद विभीषण राम से कहता है 'प्रभो नगर में पदार्पण कीजिये !' तब राम उसकी भावना को पूर्ण मान्यता देते हुए किस प्रकार अपना अभीष्ट प्रकट कर देते हैं—"तोर कोष गृह मोर सब, सत्य वचन सुनु भ्रात। भरत दसा सुमिरत मोहिं, निमिष कल्प सम जात।" इसके पूर्व धर्मरथ के प्रकरण में जब विभीषण ने रथ के अभाव में विजय के प्रति चिन्ता व्यक्त की थी तब भी राम ने उसकी भावना का सम्मान करते हुए नये प्रकार के रथ की चर्चा चलाकर किस प्रकार उसे निरुत्तर कर दिया था ? यह है वचन-विदग्धता; यह है उक्ति सौष्ठव।

अब एक उक्ति और सुन लीजिये। शङ्कर की बरात जा रही थी। विष्णु को मजाक सूझा। कहते हैं "बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज,। बर अनुहारि बरात न भाई, हँसी करइहउ पर पुर जाई ?" उद्देश्य तो था कि पर पुर जाकर खूब हँसी कराई जाय। परन्तु कहते हैं कि क्या पर पुर जाकर अपनी हंसी कराओगे ? स्वीकारात्मक बात को नकारात्मक ढङ्ग से कहने का यह व्यङ्गपूर्ण कौशल हास्यरस को अनूठे अमृत से सिक्त कर देता है और उसकी स्वादीयता की अनेक गुना अधिक वृद्धि कर देता है।

वार्तालापों के अतिरिक्त स्वतः गोस्वामीजी के उक्ति-सौन्दर्य को देखा जाय तो उस ओर भी कमाल ही मिलेगा। वे कहते हैं न, कि काव्य वह है जिसे सुनकर विपक्षी भी "वाह वाह" कह उठें। देखिये नमूना "सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन्ह पै कहइ न जाना, निज परिताप दहइ नवनीता, पर हित द्रवहि सन्त सुपुनीता।" इससे भी बढ़ कर दोहा जो उन्होंने मथुरावासियों के व्यङ्ग पर कहा था, यह सुनकर कि मथुरा में राम राम नहीं कृष्ण कृष्ण कहा जाय, "मथुरा में भी राम हैं, नहीं कहै जो कोय, पाछिल आगिल छाँड़ि कै वाके मुँह में सोय।" कितना तीखा उत्तर है परन्तु कितने उक्तिकौशल से भरा हुआ। 'बरनत छवि जहं तहं सब लोगू' में जहँ तहँ पर विचार कीजिये, नव तुलसिका-वृन्द में 'नव' शब्द पर विचार कीजिये, "पुनि आउब इहि बिरियाँ काली" के काकु और व्यङ्ग पर ध्यान दीजिये, "जेहि अघ बधेउ व्याध इव बाली, पुनि सुकण्ठ सोइ कीन्ह कुचाली" में अर्थ-कौशल पर ध्यान दीजिये, 'नील सरोरुह नीलमणि नील नीरधर श्याम' में उपमाओं का भाव-गाम्भीर्य और 'सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छविगृह दीपसिखा जनु बरई' आदि अनेकानेक प्रसगों में सौन्दर्यबोध का ढङ्ग देखिए। सभी उदाहरण एक से एक अपूर्व मिलेंगे।

मानस के राम

गोस्वामीजी का रामचरित मानस वस्तुतः राम का रहस्य समझाने ही के लिए कहा गया है। उसका मूल प्रश्न है "राम कवन" राम कवन मैं पूछहुँ तोहीं, कहहु बुझाय कृपानिधि मोही' राम मनुष्य हैं कि राम कोई देव हैं कि राम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। राम मनुष्य हैं तो उन्हें ब्रह्म क्यों माना जाय और ब्रह्म हैं तो फिर मनुष्य क्यों और कैसे बन गये ? फिर, निर्गुण ब्रह्म और सगुण साकार मनुष्य के बीच क्या राम की और भी कोई सत्ता है। उनका वह सत्तामय देवत्व क्यों स्वीकार किया जाय। इत्यादि इत्यादि अनेक प्रश्न इस मूल प्रश्न के साथ चल रहे हैं। इन सब का समुचित उत्तर देने ही के लिए मानस की रचना हुई है। इसलिए "येहि महँ आदि मध्य अवसाना, प्रभु प्रतिपाल राम भगवाना।" इस ग्रन्थ के आदि मध्य और अवसान अर्थात् आदि से अन्त तक यही प्रतिपादित किया गया है कि त्रेतायुगीन अयोध्या के रघुनायक राजा राम ही साकार इष्टदेव रूप से कृपासिन्धु प्रभु हैं और निराकार तत्त्व रूप से भगवान हैं। भजहु राम रघुनायक कृपा सिन्धु भगवान।

इतिहास के राम तो इतिहास के साथ चले गये, उनके कृत्यों की स्मृति-मात्र शेष रह गई है। उस स्मृति में बहुत सी अच्छाइयाँ हैं परन्तु किसी किसी के विचार से कुछ बुराइयाँ भी हैं। ताड़का वध करके नारी हत्या का पाप क्यों लिया गया, सूर्पणखा को विरूप क्यों किया गया, बालि को छिप कर क्यों मारा गया, सीता की अग्नि परीक्षा करा कर के फिर उनका निर्वासन क्यों किया गया ? ऐसी बड़ी-बड़ी तथाकथित बुराइयों के अतिरिक्त कई लोगों को अनेक छोटी-छोटी बुराइयाँ भी दिखने लगती हैं। उन्होंने हिरन क्यों मारे ? वे परम शक्तिशाली थे तो नाग पाश में क्यों बँध गये ? उन्होंने ब्राह्मणी अहिल्या को अपने चरण क्यों छुलाये ? इत्यादि-इत्यादि। अनेक लोगों ने अनेक प्रकार की रामायणें लिख कर राम कथा के इतने पाठ भेद कर दिये हैं कि राम का जीवन चरित्र कहीं कुछ तो कहीं कुछ हो गया है। बुराइयाँ दिखाई पड़ने का यह भी एक बड़ा कारण है। परन्तु बुराइयों की इन उलझनों के रहते हुये भी राम के अन्य कार्य इतने महत्त्वपूर्ण रहे हैं कि राम न केवल एक महान पुरुष ही मान लिये गये किन्तु एक इष्ट देव के रूप में सर्वथा पूज्य भी होगये। उनका

नाम तो परब्रह्म परमात्मा का प्रतीक बन गया। राम शब्द उनसे पूर्व भी प्रचलित था परन्तु उसके अर्थ की यह व्यापकता तो उनके बाद ही आई।

परब्रह्म परमात्मा के लिए आखिर कोई नाम तो चाहिए। राम सुन्दर-सा भारतीय नाम है इसलिए कबीर आदि भारतीय सन्तों ने इसे तो स्वीकार कर लिया परन्तु असीम को रूप की सीमा में बाँधना उन्हें ठीक न जँचा इसलिये भावना-शील भक्तों के हृदयस्थ सुराकार राम और इतिहास के पन्नों पर उतरे हुये त्रेतायुगीन नराकार राम की उन्होंने उपेक्षा कर दी। राम तत्व केवल चिन्तन का विषय रह गया। परन्तु सर्व साधारण को तो चाहिए थी जीवन प्रदायिनी प्रेरणा और हृदय की सरसता। इसलिए उन्होंने राम के मानवी रूप और दैवी रूप को न भुलाया। मानवी रूप से भी अधिक उन्हें दैवी रूप प्रिय हुआ क्योंकि मानवी रूप तो अपने देश (स्थान या क्षेत्र) और अपने काल (सन् संवत् या युग) की सीमा में बँध जाता है किन्तु दैवी रूप हर एक समय हर एक स्थान पर हर एक के लिए सुलभ हो सकता है। देश-विदेश का अथवा भूत-भविष्य-वर्तमान का उसमें कोई बन्धन ही नहीं, जन्म और मृत्यु का, किसी भी प्रकार की अशक्ति और अपूर्णता का, उस दैवी रूप के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इतिहास के राम ने त्रेता ही में कुछ काम कर दिखाये होंगे परन्तु भावना के राम तो सब कहीं सब समय सब किसी को सब प्रकार की सहायता दे सकते हैं।

ऐतिहासिक राम के महद्गुणों पर रीझ कर भावुकों ने उनका उदात्तीकरण (Sublimation) किया और उन्हें इष्टदेव बना डाला। इष्टदेव भी ऐसा वैसा नहीं, सर्व समर्थ इष्टदेव, जो परब्रह्म परमात्मा के समग्र भाव को अपने में समेट ले। यह आजकल के लोगों की विचार धारा है। उनका यह सिद्धान्त विकासवादी सिद्धान्त है—नीचे से उपर को चढ़ने वाला। गोस्वामीजी और उनके से विचारकों का कहना है कि परब्रह्म परमात्मा स्वतः ही भक्तों के हित के लिये अनेकानेक इष्टदेवों का रूप धारण कर लेता है और इष्टदेव ही कभी ऐतिहासिक नर शरीर में उतर पड़ता है। यह अवतारवादी सिद्धान्त है—ऊपर से नीचे को ओर उतरने वाला। दोनों ही विचारधाराओं में तत्व एक ही है परन्तु दोनों का अपना अलग-अलग मूल्य है। राम का उदात्तीकरण मानने वाले लोग रामचरित की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों देखेंगे और दोनों पर नुक्ताचीनी करते हुए आगे बढ़ेंगे। उनके चिन्तन के प्रधान विषय होंगे ऐतिहासिक राम। राम का किस प्रकार उदात्तीकरण हो गया, यह जानना तो

उनके कौतूहल का विषय होगा । अतएव उनके बुद्धि तत्व को भले ही कुछ चमत्कार मिल जाय परन्तु हृदय तत्व को जीवन्त प्रेरणा न मिल सकेगी । मनुष्य का सुधार तो होता है जब उसके हृदय तत्व को जीवन्त प्रेरणा मिले । राम का अवतार मानने वाले लोग उनकी सर्व शक्तिमत्ता, उनकी पूर्णता, उनकी निष्कलङ्कता, उनकी उद्धार-क्षमता आदि को तो पहिले ही मानकर चलेंगे इसलिए नरावतार के चरित्र में कोई बुराइयाँ दिखाई भी पड़ीं तो "राम की लीला राम ही जाने" कह कर वे लोग उन बुराइयों की ऊहापोह में कुतर्क का पल्ला न पकड़ेंगे । वे उनके कारण अपनी श्रद्धा अथवा अपना विश्वास न छोड़ेंगे । जिसने राम की चारित्रिक अपूर्णता को मान्यता दी वह उनसे प्रेरणात्मक पूर्णता का तत्व पा ही नहीं सकता । जिसने उन्हें प्रेरणात्मक पूर्णतत्व माना उसे फिर उनकी चारित्रिक अपूर्णताओं में कोई रस ही न रह जायगा और वह उन्हें 'प्रभु की लीला" कह कर एक ओर टाल देगा । वह तो राम के उन्हीं गुणों और चरित्रों का बारम्बार चिन्तन करेगा जो उस प्रेरणात्मक पूर्णतत्व के सहायक हों । उन्होंने बन्धुओं के प्रति कैसा सौहार्द दिखाया, दीना-हीना शबरी तक को किस प्रकार अपनाया, शत्रु बन्धु विभीषण को भी किस उदारता से शरण दी, आदि । ऐसी भावना वाले व्यक्ति ही राम के चरित्र का मनन कर के वास्तविक लाभ उठा सकते हैं । ऐसे व्यक्तियों के लिए ही गोस्वामीजी ने रामचरित मानस लिखने का प्रयास किया है ।

सत्य तो बड़ा व्यापक तत्त्व है । उसको जानने के साधन हमारे पास तीन ही हैं । या तो हमारी इन्द्रियाँ, या हमारा मन (हृदय अथवा चित्त) या हमारी बुद्धि । इन्द्रियों द्वारा हम आधिभौतिक जगत का, ऐतिहासिक जगत का, सत्य देखते हैं । बुद्धि द्वारा हम आध्यामिक जगत का, ज्ञानात्मक जगत का सत्य देखते हैं । बुद्धि चिन्तन करेगी निर्गुण निराकार ब्रह्म का । इन्द्रियाँ देखना चाहेंगी स्थूल नराकृति व्यक्ति को जो हमारे समग्र जीव के लिए आदर्श बन सके । मन की कल्पना और मन की भावना चाहेगी वह व्यक्ति-विशिष्ट देव जो नराकार हो कर भी सुराकर ब्रह्म हो, ससीम होकर भी असीम हो । अतएव राम का समग्र रूप तो तब ही खिल सकता है जब उनका आधिभौतिक रूप (नराकार) औधिदैविक रूप (सुराकार) और आध्यात्मिक रूप (निराकार) सभी कुछ स्पष्ट किया जाय । यह न किया गया तो वर्णन एकाङ्गी होगा और श्रद्धा को पूर्ण सन्तोष न मिलेगा । गोस्वामीजी को मानस में राम का यह त्रैविध्य स्पष्ट करना पड़ा है । उन्होंने बहुत प्रभावशाली शब्दों में यह व्यक्त किया है कि उनके इष्ट देव राम यदि एक ओर सर्व व्यापी परब्रह्म हैं और इस प्रकार

प्रत्येक भावुक भक्त के हृदय के अपने-अपने इष्टदेव से अभिन्न हैं (उन्हें शिव, बुद्ध, अल्लाह, गॉड जो भी मान लिया वह सब ठीक ही है) तो दूसरी ओर वे ही ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में अवतीर्ण हो कर त्रेता में अपनी विविध लीलाएँ कर चुके हैं। और इष्टदेव के रूप में तो वे आज भी अपना निर्हेतुक कारुण्य प्रवाहित कर रहे हैं, अद्वितीय औदार्य के साथ परम अभयप्रद शरण्यत्व देने को तत्पर हो रहे हैं।

ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में राम न केवल भारतीय राष्ट्र के किन्तु विश्व की समग्र मानव जाति के प्रेरणास्पद कहे जा सकते हैं। कम से कम इस भारतीय राष्ट्र का कोई भी व्यक्ति हो, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान हो या क्रिस्तान हो, राम को ऐतिहासिक महापुरुष के नाते तो मान्यता देगा ही और उनसे प्रेरणा पाने का हकदार है ही। उनका नाम स्मरण किया जाय, उनकी जयन्ती मनाई जाय, उनकी जीवन गाथा पढ़ी जाय यह राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय उन्नयन के लिये आवश्यक है और इसमें धर्म अथवा सम्प्रदाय का कोई भेद आड़े नहीं आना चाहिए। परन्तु साधना के क्षेत्र में राम का वह रूप विशेष प्रभावशाली होता है जिसका नाम रखा गया है इष्टदेव। 'इष्टदेव' भले ही कल्पना की वस्तु हो परन्तु आदर्श के रूप में वही सर्वश्रेष्ठ प्रेरणास्पद रहा करता है। अतएव साधना के क्षेत्र में उसी का सर्वोपरि मान होगा, भले ही रुचि भिन्नता के कारण एक ही इष्ट देव को पूरा राष्ट्र एक समान मान्यता न दे। कल्पना भी तो सत्य का एक अङ्ग है और प्रभाव की दृष्टि से इष्टदेव की कल्पना तो इतिहास के व्यक्तित्व की अपेक्षा कहीं अधिक सत्य मानी जानी चाहिए। गोस्वामीजी ने इसीलिए मानवी राम की अपेक्षा दैवी राम को अधिक प्राथमिकता दी है और उन्होंने इसीलिये समग्र राम चरित को इसी दृष्टि कोण से समझाने का प्रयत्न किया है।

राम अपने निराकार रूप में ऐसे सर्वव्यापक तत्त्व हैं जिनसे किसी का कोई विरोध हो ही नहीं सकता। वे ही तो सब प्रकार के इष्ट देवों में रम रहे हैं। विष्णु कोटि सम पालन कर्ता, रुद्रकोटि सम जग संहर्ता। व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुण नाम न रूप' वे ही तो हैं। 'राम स्वरूप तुम्हारे वचन अगोचर बुद्धि पर अविगत अकथ अपार, नेति-नेति नित निगम कह।' ऐसे राम को मानने वाले तो निज प्रभुमय देखहिं जगत, कासन करहिं विरोध। उन्हें एकदम निर्गुण भी कैसे कहा जाय इसलिए उनकी स्तुति में कहा जाता है 'जय निर्गुण जय जय गुन सागर'। यह अखिल विश्व ब्रह्माण्ड ही उनका रूप मान लिया जा सकता है। जगमय प्रभु की बहु कल्पना।

मानस के राम अपने सुराकर रूप में ऐसे इष्टदेव हैं जिनमें सर्व व्यापक ब्रह्मतत्व की समूची शक्ति निहित है और जो उस समूची शक्ति समेत नराकार रूप में अवतीर्ण हो गये हैं—उतर पड़े हैं। वे सर्व समर्थ हैं इसलिए पञ्च तत्वों के धर्म बदल देना, एक होकर भी अमित रूप में प्रकट होजाना, मनुष्य को मन चाहे वर दे देना आदि उनके लिए सामान्य बातें हैं। वे ही अन्तिम प्राप्य हैं अतएव विधि निषेध धर्म अधर्म सब वहीं जाकर समाप्त हो जाते हैं। वे किसी का अपमान भी करते हैं तो उसके तथा संसार के हित के लिए, किसी का वध भी करते हैं तो उसके और संसार के हित के लिए। जगत और जगत के जीवों के प्रति हितैषिता अथवा करुणा तो उनमें निर्हेतुक रूप से भरी पड़ी है। ऐसी करुणा के कारण वे नर चरित्र की लीला किया करते हैं जिनसे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ कर मनुष्य अपना विकास करलें अपना कल्याण करलें। मनुष्य को उनकी ओर अभिमुख होना चाहिये तभी वह उनकी परम करुणा का, उनकी परम शरण्यता का, सुरस चख सकता है। उनकी माया से जीव बन्धन युक्त और उनकी भक्ति से जीव बन्धन मुक्त हुआ करते हैं। यही तो उनकी लीला है। माया न हो तो लीला का आनन्द ही उड़ जाय। उन्होंने जीव को विवेक दे रखा है जिसके सहारे वह माया के बन्धन से मुक्त हो जाय। फिर भी यदि मनुष्य विवेक पूर्वक भक्ति को नहीं अपनाता तो यह जीव का दोष है न कि उन सुराकार इष्टदेव का। मनुष्य उनकी ओर एक कदम आगे बढ़े तो वे हजार कदम आगे बढ़ कर अपनाने को तैयार रहते हैं। 'रहति न प्रभु चित चूक किये की, करत सुरति सय बार हिये की। अति कृपालु रघुनायक सदा दीन पर नेह। 'कोमल चित अति दीनदयाला कारन बिनु रघुनाथ कृपाला।' 'गये सरन प्रभु राखिहहिं तब अपराध बिसार।' 'सनमुख होइ जीव मोहिं जब हीं, जनम कोटि अघनासहिं तब हीं।' यह है गोस्वामीजी के इष्ट देव का रूप। वे वैष्णवभाव सम्पन्न है किन्तु हैं धनुर्धारी द्विभुजरूप। इसका भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। जिसे दूसरा इष्टदेव रुचता हो उसे खुली छूट है। वह अपने इष्ट देव में मानस के राम के गुणों का अध्यास कर ले। परन्तु गोस्वामीजी ने राम का जो नर चरित लिखा है उसे उनके इस सुराकार रूप से प्रभावित बना कर ही लिखा है इसलिए उसको इस दृष्टिकोण से समझते समझाते हुए और इस दृष्टिकोण से उसमें आवश्यक फेर फार करते हुए ही वे आगे बढ़े हैं। अतएव गोस्वामीजी की राम-कथा अथवा मानस की राम कथा बिलकुल वही नहीं है जो वाल्मीकीय रामायण की या अन्य रामायणों की राम कथा है।

मानस के राम का न तो जन्म होता है न मरण। उनका तो केवल

प्राकट्य होता है। "जग निवास प्रभु प्रगटे, अखिल लोक विश्राम।" उनके काम और क्रोध सभी परम उदात्तीकृत हैं। पद-पद पर उनका प्रत्येक कार्य लोक कल्याण की भावना से होता है। जो उनके सम्पर्क में आया वही उनके निश्छल प्रेम और निर्हेतुकी करुणा से अभिभूत हो गया। सुर नर मुन वन्य बानर भालु और निशाचर तक उनकी ओर आकृष्ट हुए और बहुतों ने आत्म समर्पण किया। उन्होंने अनेक दृष्टिकोणों से मानवता का आदर्श मनुष्यों के सामने रखा और इस प्रकार मनुष्यों को ऊँचे उठने का सुन्दर साधन दिया। आदर्श कुटुम्बी वे हुए, आदर्श मित्र वे हुए, आदर्श राजा वे हुए। आदर्श शक्ति, आदर्श शील, आदर्श सौन्दर्य, सब उनमें था।

मानस के राम अपने नराकार रूप में केवल एक महामानव ही नहीं किन्तु सार्वकालीन आदर्श बन कर निखरे हैं। उनका चरित गोस्वामीजी ने इतनी भावुकता के साथ लिखा है कि वह बरबस मन को खींच लेता है और अनायास उसे ऊँचा उठा देता है। जिस जमाने में इतनी विश्रृङ्खलता थी कि क्षत्रियों और ब्राह्मणों के भी संघर्ष हो रहे थे उस ज़माने में पहिले तो राम ने विश्वामित्र के आश्रम में जाकर ब्राह्मण क्षत्रिय के बीच प्रेम की ग्रंथि बाँधी, फिर मिथिला जाकर क्षत्रिय क्षत्रिय के बीच प्रेम सम्बन्ध स्थापित कर उत्तर भारत को एक किया। फिर बनबास के लिए उत्तरा खण्ड की ओर न जाकर दक्षिण को ओर बढ़े जहाँ अपने व्यवहार से निषादों का भी हृदय जीतकर द्विजों और अन्त्यजों को प्रेम सूत्र में बांधा। फिर आगे बढ़ कर किष्किन्धा में आर्यों और अनार्यों [वा–नरों] का एका स्थापित किया। लङ्का पहुँच कर उन्होंने भारतीयों और अभारतीयों को एक बनाया। किष्किन्धा और लङ्का को स्वायत्त शासन देकर उन्होंने राजनीति को एक अनोखा मोड़ दिया और अन्त में रामराज्य का आदर्श शासन स्थापित करके विश्व के लिये एक सार्वकालिक कल्याणमय ध्येय सामने रख दिया। ये हैं उनके जीवन चरित्र के सात खण्ड। इनके विवरणों को जिस खूबी से मानस में अङ्कित किया गया है वह देखते ही बनता है।

चरित विषयक सामान्य पाठभेदों को गोस्वामी जी ने कल्पवाद के अपने सिद्धान्त द्वारा सरलता पूर्वक मिटा दिया है। वे कहते हैं प्रत्येक कल्प में रामावतार हुआ है इसलिये समझ लिया जाय कि किसी कल्प में राम ने ऐसा किया होगा, किसी कल्प में वैसा किया होगा। चरित्र के विशेष विशेष पाठ भेदों में से कुछ को तो उन्होंने उड़ा ही दिया है, यथा सीता निर्वासन की घटना, शम्बूक वध की घटना, आदि। जिनका उल्लेख किया, यथा बालि वध, की घटना,

सूर्पणखा विरूपकरण की घटना, सीता की अग्नि परीक्षा की घटना, आदि, उन्हें इस तरह सँवार कर लिखा है कि उनमें कोई बुराई रह ही नहीं गई। कुछ का समाधान उन्होंने राम के देवीभाव से करा दिया। और यह सब करके भी अन्त में लिख दिया :—

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ।।
चरित राम के सगुन भवानो। तरकि न जाहिं बुद्धि बल बानी ।।
अस बिचारि जे तग्य बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी ।।

मुख्य बात यह है कि चरित्र का जो अंश अपने को रुच जाय उससे प्रेरणा प्राप्त कर जीवन को ऊंचा उठाते रहना चाहिये और जो न रुचे उस पर बहुत तर्क वितर्क करना व्यर्थ समझ कर उसको वहीं छोड़ देना चाहिये। श्रद्धा पूर्वक चरित्र का अनुशीलन करने से सब शंकाओं का आप ही आप समाधान हो जाता है और ऐसा ही अनुशीलन मनुष्य का वास्तविक कल्याण कर सकता है।

भारत के ऐतिहासिक महापुरुषों में राम और कृष्ण का अपना विशिष्ट स्थान है। दोनों ही शक्ति शील सौन्दर्य में परमपूर्ण हैं। परन्तु कृष्ण के जीवन में पद पद पर ऐकान्तिकता है। दुनियाँ उनकी ओर खिची परन्तु वे सब से अनासक्त रहे। राम के जीवन में पद पद पर सामूहिकता है। दुनिया उनकी ओर खिची और वे सब को लेकर चले। व्यक्तिगत साधना में कृष्ण का इष्टदेवत्व भले ही अद्वितीय हो परन्तु राष्ट्रगत साधना के लिये राम का इष्टदेवत्व अपना विशिष्ट महत्व रखता है।

राम का नाम

हनुमन्नाटक में एक सुन्दर श्लोक है:—

कल्याणानां निधानं कलिमल मथनं पावनं पावनानाम्
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि पर पद प्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्राम स्थान मेकं कविवर वचसां जीवनं सज्जनानाम्
बीजं धर्म द्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥

अर्थात्—राम नाम विविध कल्याणों का घर है, कलि के मल को (विषमता आदि को) मथन कर डालने वाला है, पावनों में भी परम पावन है, पर पद प्राप्ति के लिये प्रस्थित मुमुक्षु की थकावट दूर कर नयी स्फूर्ति प्रदान करने वाला कलेवा स्वरूप है, श्रेष्ठ कवियों की वाणी का अद्वितीय विश्राम स्थल है, सज्जनों का तो जीवन ही है और धर्म रूपी वृक्ष का बीज है। यह संसार के सभी मनुष्यों की विभूति के लिये ख़ूब फूले फले।

गोस्वामीजी ने मानस में भी एक सुन्दर श्लोक कहा है :—

ब्रह्माम्भोधि समुद्भवं कलिमल प्रध्वंसनं चाव्ययम्
श्री मच्छंभुमुखेन्दु सुन्दर वरं संशोभितं सर्वदा
संसारामय भेषजं सुमधुरं श्री जानकी जीवनम्
धन्यास्ते कृतिनः पिवन्ति सततं श्री रामनामामृतम् ॥

अर्थात्—शोभा धाम राम नाम रूपी अमृत बड़ा अपूर्व है। पुराणों में बताये हुए अमृत की उत्पत्ति हुई थी सामान्य समुद्र से, स्थिति रही चन्द्रमा आदि में और उसका परिणाम हुआ अमरत्व—ऐसा अमरत्व, जिसके साथ राग-द्वेष, क्षयवृद्धि वार्धक्य विपत्ति आदि सभी का वैषम्य लगा हुआ रहता है। किन्तु रामनाम रूपी अमृत निकला है ऐसे ब्रह्मरूपी समुद्र से जिसकी व्यापकता के आगे भौतिक समुद्र नगण्य ही है। सामान्य समुद्र से जो अमृत निकला था उसके साथ सुरा और विष के मल भी थे और वह तो जैसे ही निकला वैसे ही उड़ा लिया गया। अब उसकी एक बूँद भी नहीं बची। किन्तु रामनाम रूपी अमृत न केवल स्वतः निर्मल है किन्तु कलि के मल को भी ध्वस्त कर देने वाला है और मजा यह है कि वह अव्यय है—कभी खत्म हो नहीं होता। कितना भी खींचिये फिर भी पूरा का पूरा बना रहेगा। पुराणों का अमृत ऐसे चन्द्रमा में झलकता है जिसकी घट-बढ़ होती रहती है और जो महीने में एक दिन के लिये

तो मिट ही जाता है। किन्तु यह रामनाम रूपी अमृत सदैव एक समान शोभाशाली शंभु के मुखेन्दु पर संशोभित रहा करता है—अजर अमर और अमिट होकर। काल के भी महाकाल सदाशिव सदा इसका जप किया करते हैं। वह अमृत तो दुःख शोक तथा वैषम्य मिटाने में अक्षम रहा है परन्तु यह अमृत सबसे भयंकर समझे जाने वाले संसार रूपी रोग को ही मिटाने की अव्यर्थ महौषधि है। कड़ी दवाइयाँ कड़वी रहा करती हैं परन्तु यह सुमधुर औषधि है। संसार की ऐश्वर्य लक्ष्मी रूपा जानकीजी का तो यह जीवन प्राण हैं। मतलब यह कि सभी प्रकार की समृद्धियों का प्राण स्वरूप है। वे सुकृती निश्चय ही धन्य हैं जो सदैव इस नाम अमृत का पान किया करते हैं।

सुकृतियों ही को रामनामामृत पान करने का सौभाग्य मिला करता है और उन्हें चाहिये कि वे भी इसका पान सतत करते रहें—एक ही आध बार नहीं।

नाम वन्दना के प्रकरण में गोस्वामी जी ने रामनाम महिमा पर बड़ी महत्वपूर्ण बातें कही हैं। महात्मा गांधी जी ने एक जगह लिखा है "नाम की महिमा के बारे में तुलसीदास ने कुछ भी कहने को बाकी नहीं रखा है। द्वादशाक्षरमंत्र, अष्टाक्षर इत्यादि सब इस मोह जाल में फँसे हुए मनुष्य के लिये शान्तिप्रद हैं इसमें कुछ भी शंका नहीं है। जिससे जिसको शान्ति मिले उस मंत्र पर वह निर्भर रहे। परन्तु जिसको शान्ति का अनुभव ही नहीं है और जो शान्ति की खोज में है उसको तो अवश्य रामनाम पारस मणि बन सकता है। ईश्वर के सहस्र नाम कहे हैं उसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं गुण अनन्त हैं। इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है। परन्तु देहधारी के लिये नाम का सहारा अत्यावश्यक है। और इस युग में मूढ़ और निरक्षर भी राम नाम रूपी एकाक्षर मंत्र का सहारा ले सकता है। वस्तुतः राम उच्चारण में एकाक्षर ही है। और ॐकार और राम में कोई फरक नहीं है। परन्तु नाम महिमा बुद्धिवाद से सिद्ध नहीं हो सकती है। श्रद्धा से अनुभव साध्य है।"

नाम का रहस्य समझने के लिये उसके दोनों पक्षों पर ध्यान देना होगा। एक पक्ष है उसकी ध्वनि अथवा उसका स्वर और दूसरा पक्ष है उसका अर्थ अथवा उसका व्यंजन। "राम" शब्द से जिस अर्थ की व्यंजना होती है उसकी कोई सीमा नहीं। निर्गुण निराकार ब्रह्म के तत्व को भी वही नाम व्यक्त करता है, सगुण साकार ईश्वर के तत्व को भी वही नाम व्यक्त करता है, और परम आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम मानव के तत्व को भी वही नाम व्यक्त करता है। "राम" कहते ही हमारे बुद्धि और हमारे हृदय की आँखों के सामने

"राम-ता" साक्षात् खड़ी हो जाती है। यह रामता है राम के रूप और गुणों का अपने-अपने ढंग पर समझा हुआ पुंजीकृत भाव। 'राम' शब्द से मैं एक पुंजीकृत भाव समझूँगा—एक अर्थ लूँगा और आप दूसरा अर्थ लेंगे। हम दोनों की समझ में अर्थ साम्य भले ही हो परन्तु वह साम्य ही होगा उसमें तद्रूपता न होगी। इसीलिये महात्माजी ने कहा है कि अपने अपने राम जुदा होते हैं। मुझको मेरा राम तार सकता है और आपको आपका राम। 'तुलसी अपने राम को, रीझ भजै कै खीझ खेत परे पैं जामि हैं उल्टे सीधे बीज।' रत्न तो एक ही होता है परन्तु पारखी के भेद से उसके मूल्य में भी भेद हो जाया करता है। अपनी तन्मयता के आधार पर जो उसमें जितने मूल्य का निरूपण करेगा उसके लाभ के लिये उससे उतना ही मूल्य प्रकट हो जायगा; क्योंकि राम नाम रूपी मणि है तो परम मूल्यवान ही। क्या-क्या नहीं प्रकट हो सकता उससे।

गोस्वामीजी ने जिस रामता को अपने राम-नाम से प्रकट कराया है वह है एक ऐसे शरणागत वत्सल प्रभु की झलक जिसमें सर्वसमर्थता और निर्हेतुकी कृपा अथाह रूप से भरी पड़ी है। जिसकी विशाल भुजाएँ पतित से पतित लोगों को भी अपनाने के लिये सदैव फैली हुई हैं। जो सदैव आशावाद का सुधासिक्त सन्देश देता और हर कहीं, हर समय, हर किसी की पूरी-पूरी सहायता के लिये तत्पर रहता है। जो मनुष्य भी होकर इतना उत्तम व्यवहार दिखा चुका है कि जीवन में सबके लिये अनुकरणीय आदर्श कहा जा सकता है। जो सर्वथा निष्पाप है और दूसरों के पाप ताप मिटाता रहता है। मतलब यह कि मनुष्य के लिये जैसा आदर्श चाहिये, जैसा ध्येय चाहिये, जैसा इष्टदेव चाहिये वह सब बात उसमें है। अब यह साधक पर निर्भर है कि वह 'राम' शब्द से इन अर्थों को कहाँ तक अपनाले और उनसे कितना लाभ उठाले। जितनी ही शुद्धता और तन्मयता से वह 'राम राम' कहेगा उतनी ही स्पष्टता के साथ यह रामता उसकी बुद्धि पर छाती जायगी और हृदय में उतरती जायगी।

त्रेता के राम तो त्रेतायुग में आये और गये परन्तु राम-नाम आज भी प्रभावशाली रूप से जाग्रत होकर करोड़ों का कल्याण कर रहा है। उसमें अब भी शक्ति है कि रामता को घट-घट में उतार दे। जब तक लोगों का उस नाम के प्रति आकर्षण रहेगा तब तक भविष्य में भी उसकी यह शक्ति बनी रहने वाली है। वह अनेकानेक निराश्रितों का आश्रय रहा है, निराशों का आशास्तम्भ रहा है, विपत्ति ग्रस्तों को उत्साह देता रहा है और सम्पत्तियुक्तों को सात्विक सन्तोष

एवं शान्ति का आनन्द देता रहा है। कृति की दृष्टि से इस प्रकार वह नरावतार राम से भी बढ़ गया। हमारी उपयोगिता की दृष्टि से तो वह निर्गुण निराकार राम से भी बढ़कर ठहरता है। निर्गुण निराकार राम यद्यपि घट-घट के अणु-परमाणु में व्याप्त हैं फिर भी सामान्य मनुष्य उसकी झलक नहीं पाते और दीन दुखारी बने रहते हैं। नाम ही वह मथानी है जो दूध के भीतर रमने वाले व्यापक घी की झलक प्रत्यक्ष करके साधक की इच्छा-पूर्ति कर देती है। वह ऐसी मथानी है कि उससे ही घी टपकने लगता है। मानो उसी में घी भरा हो। लोगों की मनोकामना तो यह मथानी ही तृप्त करती है न कि वह अदृश्य क्षीर-सागर। तब फिर 'सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय।'

तत्त्व की असलियत क्या है यह हम लोग कह ही नहीं सकते। हमें तो अपनी इन्द्रियों आदि के द्वारा उसका जो ज्ञान होता है उसी की चर्चा कर सकते हैं। अतएव हम लोग यही कह देते हैं कि तत्त्व वस्तुतः ज्ञान-स्वरूप है। ज्ञान भी प्रति मनुष्य में भिन्न होने के कारण सार्वजनिक नहीं हो सकता जब तक कि वह शब्द द्वारा व्यक्त न हो। ज्ञान को पकड़ रखने का, उसके स्थिरीकरण का, उसे दूसरों के पास तक पहुँचाते रहने का, सर्वप्रधान माध्यम है शब्द। इस शब्द की महिमा पर अधिक सोचा जाय तो जान पड़ेगा कि यह केवल माध्यम ही नहीं किन्तु ज्ञान का उत्पत्ति-स्थान भी है। अतएव ऐसा सोचने वाले लोग कह सकते हैं कि असली तत्त्व जो है वह वस्तुतः केवल शब्द-स्वरूप है। शब्द ही ब्रह्म है, शब्द ही आदि-तत्त्व है, शब्द ही ॐ है, शब्द ही से सम्पूर्ण सृष्टि का आविर्भाव हुआ है।

इस बात को कुछ विशेष रूप से समझाने की आवश्यकता है। वस्तुज्ञान हमें प्रधानतः इन्द्रियों के द्वारा ही होता है। इन इन्द्रियों में कान और आँखें ही व्यापक रूप से वस्तुज्ञान ग्रहण करती हैं अतएव विश्व को हमने या तो नामों में देखा या रूपों में। 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी, अकथ अनादि सुसामुझि साधी।' अब विचारणीय प्रश्न यह है कि नाम (शब्द) और रूप क्या एक-दूसरे से एकदम पृथक हैं और मनुष्यों ने अपनी सुविधा के लिये किसी वस्तु, किसी रूपाकृति को कोई एक नाम दे डाला ? एक मनुष्य को कह दिया रामलाल, दूसरे को कह दिया श्यामलाल या अब्दुल गफूर और चाहा तो अपने घोड़े को भी रामलाल, श्यामलाल या चीता, बाज, बाघ अथवा और कोई नाम दे दिया ! सामान्य दृष्टि से तो यही जान पड़ता है कि रूपाकृति पहले बनीं और उसके ज्ञान की सुविधा के लिये किसी ध्वनि-विशेष का उसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया और उसी ध्वनि-विशेष को कह दिया गया शब्द या नाम। परन्तु

रूपात्मक जगत का विश्लेषण करते चलिये तो आप परमाणुवाद और उससे भी सूक्ष्म विद्युत अणुवाद से बढ़ते-बढ़ते इस सिद्धान्त पर पहुँच जायँगे कि विद्युत अणु (एलेक्ट्रान) भी केवल एक तालयुक्त गतिमात्र हैं। 'व्हाइब्रेशन' और 'रोटेशन' अथवा गति और ताल ही नाद और बिन्दु हैं। उन्हीं का सम्मिलित नाम है ॐ जो एक शब्द ही है। अतएव शब्द ही रूप का आदि-जनक हुआ ऐसा अनायास सिद्ध हो जायगा। शब्द गति है—काल का प्रतीक है और रूप स्थिति है—देश का प्रतीक है। गति में शक्ति का आविर्भाव रहता है और स्थिति में उसका तिरोभाव। अतएव शक्ति की दृष्टि से भी नाम विशेष महिमा-मय हुआ। रूप का जनक होने और शक्ति का स्रोत होने के कारण नाम का ध्वनिभाव में भी अपना निराला महत्व है। यह है नाम का वह दूसरा पहलू जिसको हमने नाम का स्वर कहा था।

शब्द की नादशक्ति को मन्त्रयोगियों और लयगोगियों ने खूब सोचा समझा है। मीमांसकों और शब्दशास्त्रियों (वैयाकरणों, निरुक्तकारों आदि) ने भी इस पर खूब विचार किया है। उनका स्फोटवाद, उनका अनाहतवाद वाला सुरतिशब्दयोग, उनका बीजमन्त्र विवेचन और मन्त्रशक्तियों का रहस्योद्घाटन, सब इसी विचारधारा के अन्तर्गत है। एक ही ॐ अनेक बीजाक्षरों में विकसित हो गया और प्रत्येक बीजाक्षर अपनी विशिष्ट शक्ति से समन्वित देखा गया। अक्षर का असली अर्थ है वह शक्ति जो क्षर न हो। बीजाक्षर ऐसे ही अक्षर हैं। इस दृष्टि से र आ और म के अक्षरों का अपना विशिष्ट महत्त्व हो जाता है। उनका नाद बिशिष्ट शक्तियों का प्रदायक है। र है अग्निबीज जो एक ओर तो आसक्ति को भस्म करने की शक्ति रखता है और दूसरी ओर जीवन की उष्णता को चैतन्य करता है। आ है आदित्य बीज जो प्रकाश का स्रोत होने से परमज्ञान विकासक कहा जा सकता है, म है चन्द्रबीज जो आह्लाद और शान्ति का स्रोत होने के कारण भक्ति का परमवर्धक कहा जा सकता है। सत् का रूप है र चित् का रूप है आ और आनन्द का रूप है म। वैराग्यवर्धक तथा कर्म प्रेरक है र ज्ञान-बर्धक है आ और भक्तिवर्धक है म। अतः समझ लीजिये कि अ उ म ही विक-सित होकर एक दूसरे दृष्टिकोण से र आ म बन गया। संसार में तीन ज्योतियाँ ही प्रधान है और वे हैं सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि की। मजा यह कि इन तीनों ज्योतियों से सम्बन्धित तीन ही वंश भारत में प्रधान हुए और वे हैं सूर्यवंश, चन्द्रवंश, अग्निवंश। इन तीनों में एक-एक महापुरुष हुए। जिनकी रामसंज्ञा हुई—राजा राम, बलराम और परशुराम। गोस्वामीजी ने जिस रामनाम की वन्दना की है वह इन रूपाकृतियों पर यों ही आरोपित किये जाने वाले रामनाम

की नहीं किन्तु उस रामनाम की जो कृशानुभानु हिमकर का हेतु है पालन सृजन और संहारशक्ति से सम्पन्न है तथा ॐ का समकक्ष है ।

वन्दहुँ नाम राम रघुबर को । हेतु कृशानु भानु हिमकर को ।।
विधि हरिहर मय वेद प्रान सो । अगुन अनूपम गुन निधान सो ।।

उस राम के र आ म अथवा रा और म अलग-अलग नहीं किन्तु वह ॐ ही की तरह एकाक्षरी मन्त्र है जिसकी महिमा गोस्वामीजी के अनुसार, महादेव ने बखानी, महादेवी ने समझा, प्रथमवन्दनीय गणाधिप ने जानी, शुकसनकादि नारद प्रह्लाद ध्रुव हनुमान अजामिल गज गणिका आदि ने अनुभव की । तथा जो आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी ज्ञानी सभी प्रकार के भक्तों द्वारा अनुभूत हो सकती है ।

आधुनिक विज्ञान भी शब्दों की नादशक्ति को स्वीकार करता है । र के उच्चारण से जो विद्युत् रेखायें बनेंगी वे कुछ वक्र सी होंगी तथा अद्भुत स्फूर्तिदायिनी होंगी । आ के उच्चरण से बनने वाली रेखाएँ सीधी होंगा, प्रलम्ब होंगी और विशेष प्रकाशदायिनी होंगी । म के उच्चारण से बनने वाली रेखाएँ आड़ी होंगी जो शान्ति तथा समाधान के से भाव जाग्रत करेंगी । तिरछी खड़ी और आड़ी रेखाओं का यह योग आधुनिक विज्ञान द्वारा भी रामनाम के महत्त्व को प्रकट करता है । नाद सौन्दर्य के साथ इसकी ध्वनि बारम्बार हृदय में गूँजती रहे तो निश्चय ही वह अपना असर दिखायेगी । इसीलिये गोस्वामीजी ने लिखा "भाव कुभाव अनख आलसहू । नाम जपत मंगल दिसि दसहू ।।"

नाम का प्रभाव तब विशेष रूप से होता है जब उसमें श्रद्धा और विश्वास का पूरा योग हो । आचार्यों ने नाम सम्बन्धी दस अपराध गिनाये हैं जिनसे बचकर नाम जप करने का विधान रखा गया है । ये अपराध सिर न उठा सकें इसकी भी दवा नाम जप ही है । जप करते-करते ये अपराध आप ही क्षीण होने लगते और श्रद्धा विश्वास आप ही बढ़ने लगते हैं । "नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघं, अविश्रान्त प्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणिहि ।" नामापराध हैं (१) सत्पुरुष निन्दा (२) नामों में भेद-भाव (३) गुरु निन्दा (४) शास्त्र निन्दा (५) हरिनाम में अर्थवाद की कल्पना (६) नाम का सहारा लेकर पाप करना (७) व्रत दान यज्ञादि के समान नाम को भी सामान्य साधन मानना (८) अश्रद्धालु को नामोपदेश करना (९) नाम का माहात्म्य सुनकर भी उसमें प्रेम न करना और (१०) अहंता, ममता आदि विषयों में लगे रहना । गोस्वामीजी ने इनकी व्यापक चर्चा नहीं की है । वे तो यही कहते हैं कि मान मोह मद त्याग कर भजन करो, दृढ़ नेम (नियम) से भजन करो, 'छाँड़ि कपट जञ्जाल' भजन

करो 'तजि कुतर्क संसय सकल' भजन करो ।

मानस-कथित रामनाम वन्दना में एक मार्के की बात और है। उसमें नौ दोहे हैं। यह नव का अङ्क अपने आप में पूर्ण माना जाता है जो गुणित होने पर भी योगफल में नौ ही रहता है। राम-नवमी और नवाह्नपारायण सब में यही तत्त्व है। नव-दुर्गा आदि में भी। वे नौ दोहे (चौपाइयाँ छोड़कर) नित्य पाठ किये जायँ तो कठिनता से दो तीन मिनट लगेंगे परन्तु उन्हें अपने महात्म्य में पूरे मानस पाठ के बराबर समझना चाहिये। नवों दोहों का तारतम्य है। प्रथम चार दोहे निर्गुण राम से सम्बन्धित और अन्तिम चार दोहे सगुण राम से सम्बन्धित हैं। प्रथम दोहे में भक्ति साधना का दूसरे में ऐश्वर्य साधना का तीसरे में ज्ञान साधना का और चौथे में निस्त्रैगुण्य साधना का संकेत है। यों भी कह लीजिये कि पहिला दोहा आर्त के लिये, दूसरा अर्थार्थी के लिये तीसरा जिज्ञासु के लिये और चौथा ज्ञानी के लिये है। पाँचवाँ दोहा दोनों चौकड़ियों में सम्बन्ध स्थापित करता है। छठा दोहा सगुणसाकार राम से नाम को बड़ा बताता है, सातवाँ उसकी महत्ता में प्राचीन प्रमाण देता है, आठवाँ दोहा तदर्थ अर्वाचीन प्रमाण देता है (गोस्वामीजी के अपने आपका) और नवाँ दोहा भविष्य की उसकी महत्ता की गैरेंटी देता है। जिज्ञासुओं के लिये तथा प्रवचन-कारों के लिये ये दोहे परम मननीय हैं। दोहे इस प्रकार हैं—

वर्षा ऋतु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम वर बरन युग, सावन भादों मास॥
एक छत्र इक मुकुटमनि, सब बरनन पर जोय।
तुलसी रघुबर नाम के, बरन बिराजत दोय॥
राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरौ, जौ चाहसि उजियार॥
सकल कामना हीन जे, राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिनहुँ किये मन मीन॥
निर्गुन ते येहि भाँति बड़, नाम प्रभाउ अपार।
कहहुँ नाम बड़ राम तें, निज विचार अनुसार॥
शबरी गीध सुसेवकन्हि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, लोक विदित गुन गाथ॥
ब्रह्म राम तें नाम बड़, बर दायक वर दानि।
राम चरित सत् कोटि महँ, लिय महेश जिय जानि॥
नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भाँग ते, तुलसी तुलसीदास॥
राम नाम नर केसरी, कनक-कसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसालु॥

राम का रूप (उनका नख-शिख)

रामचरितमानस तो मुख्यतः भक्ति के लिये लिखा गया ग्रन्थ है, अतएव उसमें इष्टदेव के वर्णन के अतिरिक्त अन्य किसी का नख-शिख वर्णन अस्वाभाविक ही कहा जा सकता है। इसीलिये गोस्वामीजी ने दूसरों के नख-शिख वर्णन की ओर विशेष ध्यान दिया ही नहीं। परशुरामजी का 'शान्त वेष करनी कठिन' वाला रूप चित्रित करना आवश्यक था, अतएव गोस्वामीजी ने कुछ पंक्तियाँ लिख दीं। परशुरामजी भी तो आखिर राम के एक अवतार ही थे। इसी प्रकार उमा-शंभु-संवाद की भूमिका में शंकरजी का नख-शिख वर्णन किया गया है, क्योंकि कथा के प्रारम्भ में प्रधान वक्ता का चित्र आँखों के सम्मुख झूलना चाहिये। प्रधान वक्ता भी ऐसे-वैसे नहीं—साक्षात् शङ्करजी, जो इष्टदेव राम के भी आराध्य हैं और एक प्रकार से उन्हीं के प्रतिरूप हैं। इन दोनो नख-शिखों में नख-शिख का कोई क्रम है ही नहीं। परशुरामजी के नख-शिख में कवि की दृष्टि शरीर से भाल पर पहुँची, फिर वहाँ से सिर तक जाकर मुख पर उतर आयी है, फिर भौहों और नयनों पर चक्कर काटती हुई कंधे और भुजाओं तथा कमर तक उतर कर फिर कंधे पर पहुँच गयी है। शङ्करजी के नख-शिख में वह दृष्टि शरीर के अङ्गों और वस्त्रों से होती हुई चरणों तक गयी, फिर आभूषणों तक चढ़कर मुख तक पहुँच गयी है। फिर जटाओं तक जाकर आंखों और कण्ठ तक उतर आयी है और उसके बाद फिर भाल तक चढ़ गयी है। गोस्वामीजी की कवि-दृष्टि शंकरजी के चरणों तक तो पहुँची भी; परन्तु परशुराम जी के सम्बन्ध में उसने उतना भी आवश्यक न समझा। इसकी आवश्यकता भी न थी।

इधर रामजी का नख-शिख एक स्थल पर नहीं, अनेक स्थलों पर लिखा गया है और वह भी बड़ी रुचि के साथ। कई सज्जनों की तो राय है कि इष्टदेव राम के मधुर मनोहर रूप की व्यञ्जना करने वाली 'सत-पंच' (एक सौ पाँच) चौपाइयाँ ही अपने हृदय में धारण करने का उपदेश देते हुए गोस्वामीजी ने ग्रन्थान्त में कहा है--

सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरैं।
दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्री रघुवर हरैं॥

नाम-महिमा तो गोस्वामीजी की लिखी हुई प्रसिद्ध है ही। परन्तु इष्टदेव के ध्यान के लिये तो रूप का महत्व भी कुछ कम नहीं है, इसलिये नख-

शिख के सम्बन्ध की उनकी चौपाइयाँ भी मननीय ही हैं।

ऐसे सात स्थल हैं, जहाँ भगवान् श्रीराम का नख-शिख कुछ व्यापक रूप में गोस्वामीजी ने अङ्कित किया है। पहला नख-शिख है उस रूप का, जिसे मनु शतरूपा ने देखा था। दूसरा है उस रूप का, जिसे कौशल्या ने पहले-पहल देखा था। तीसरा वह है, जिसने मिथिला वालों का हृदय आकृष्ट किया, चौथा वह है, जिसने फुलवारी में सीताजी और उनकी सखियों का ध्यान आकृष्ट किया और पाँचवाँ वह है, जिसने धनुष-यज्ञ में पुर-वासियों की आँखें आकृष्ट कीं। छठा नख-शिख है, दूलह बने हुए श्रीरामचन्द्र का, जिसने सीताजी के हृदय में घर कर लिया। साँतवाँ नख-शिख है बालक रूप राम का, जिन्हें भुसुण्डि ने देखा और उनके मन में बसे हुए हैं। तीसरा, चौथा और पाँचवाँ नख-शिख अधूरा सा ही है। व्यर्थ की पुनरावृत्ति गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में कहीं की ही नहीं है। अतएव नख-शिख वर्णन में भी उन्होंने अवसर के अनुसार जब जितना और जिस प्रकार कहना चाहिये, उतना ही उस प्रकार कहा है। उपर्युक्त तीनों प्रसंग ऐसे थे कि वहाँ पूरे नख-शिख-वर्णन की आवश्यकता ही न थी, अतएव वे उसी ढङ्ग के रक्खे गये हैं।

मिथिला के बालकों ने श्रीराम को एक समर्थ आकर्षक समवयस्क के रूप में देखा था। अतएव उनकी निगाह राम की कमर से लेकर सिर तक गयी और उन्होंने राम के आभूषण-भूषित अङ्ग-प्रत्यङ्ग को देखकर अपने को धन्य माना।

पीत बसन परिकर कटि माथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥
तनु अनुहरत सुचन्दन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥
केहरि कंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नागमनि माला॥
सुभग सोन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक ताप त्रय मोचन॥
कानन्हि कनकफूल छबि देहीं। चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक रेख सोभा जनु चाँकी॥

रुचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस।
नख सिख सुन्दर बन्धु दोउ सोभा सकल सुदेस॥

नगर-निरीक्षण के समय का वह अपराह्न-काल था। राज-कुमारों की साज-सज्जा के चिह्नस्वरूप कनकफूल तो कानों में अवश्य थे, परन्तु शेष बातों में सादगी होते हुए भी परम आकर्षक गौरव भरा हुआ था। तिलक ने तो सबके ऊपर पहुँच कर कमाल कर दिया था। तिलक का सम्बन्ध विवाह से भी तो होता है। भविष्य की सूचना देने वाला भगवान् का तिलक सम्पूर्ण रूप-

शोभा को चक्राङ्कित कर दे (अर्थात् उस पर यह मार्का लगा दे कि यह अनूप रूप केवल रामजी की ही सम्पत्ति हो सकती है, दूसरे की नहीं) तो आश्चर्य ही क्या !

श्रीसीताजी और उनकी सखियों ने श्रीराम को मदनमोहन रूप में देखा था और वह भी उस समय, जब राम लता-भवन से प्रकट हुए थे। अतएव स्वभावतः उनकी दृष्टि शिर से नख की ओर जायगी और वह भी कटि तक पहुँच कर रह जायगी, क्योंकि पैर तो शायद लताओं और झाड़ियों की आड़ में रहे होंगे। अतएव वर्णन हुआ है—

सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥
मोर पंख सिर सोहत नीके। गुच्छे बिच बिच कुसुम कली के॥
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाये। श्रवन सुभग भूषन छबि छाए॥
बिकट भृकुटि कच घूंघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे॥
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनु मोला॥
मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥
उर मनिमाल कम्बु कल ग्रीवा। काम कलभ कर भुज बल सींवा॥
सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुँवर सखी सुठि लोना॥
केहरि कटि पट पीत धरु सुषमा सील निधान।
देखि भानु कुल भूषनहिं बिसरा सखिन्ह अपान॥

श्रीरामकी चितवन ने समवयस्क बालकों का चित्त चुराया था, परन्तु सीताजी और उनकी सखियों की ओर वह चितवन मर्यादित ही रही; क्योंकि श्रीराम शील के निधान जो थे। अतएव उनके हास-विलास ने इन लोगों का मन मोल ले लिया, चुराया नहीं। अर्थात् जिसका उनके प्रति जैसा भाव रहा, उसके अनुकूल ही उसे अपने हास-विलास या प्रसन्न मुखमुद्रा की माधुरी दी। बालकों के समक्ष जब वे उपस्थित हुए थे, तब सिर पर रुचिर चौतनी थी। उनका बदन ताप त्रय मोचन था। वहाँ श्रद्धा और भक्ति का प्रसङ्ग था। यहाँ प्रेम और शृङ्गार का प्रसङ्ग है; अतएव यहाँ काम को भी लज्जित कर देने वाले रूप की बात है, अपान (अपनपा) भुला देने की बात है और सिर पर चौतनी के बदले मोरपंख खोंसे जाने की बात है। मदनमोहन का नटवर अवतार मोर-पंख के लिये प्रसिद्ध है ही। प्रभात का समय था और बन-बिहार का अवसर। सम्भव है भगवान् ने केशों को सुव्यवस्थित करने के लिये उसी उपवन में पड़ा हुआ कोई मोर-पंख उठाकर सिर से लपेट लिया हो और लक्ष्मणजी ने श्रद्धा के कारण कुसुम-कलियों के गुच्छ लगाकर उसे मुकुट रूप देदिया हो। परन्तु

बालकों ने जो धनुर्धारी रूप देखा था उससे कई गुना अधिक आकर्षक भगवान् का यह कुसुमायुध धारी रूप हो गया। काम के पुष्पवाण भी इन कुसुम-कलियों के आगे क्या होंगे ? घनश्याम पर सदैव आसक्त रहने वाले मोर का पक्ष उनके सिर माथे है, इससे अधिक तदीयता का प्रदर्शन और क्या हो सकता था ? जो उनका होना चाहे, वह उन्हें शिरसा स्वीकार है—सब तरह स्वीकार है। कितना सुन्दर भाव आ गया है इस मोर पंख में !

धनुष-यज्ञ में पुरवासियों ने जो रूप देखा, वह इस प्रकार था—

सुन्दर स्यामल गौर तनु विस्व विलोचन चोर।

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥
सरद चंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के॥
चितवनि चारु मार मद हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी॥
कल कपोल श्रुति कुण्डल लोला। चिबुक अधर सुन्दर मृदु बोला॥
कुमुद बन्धु कर निन्दक हाँसा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं॥
पीत चौतनी सिरन्ह सुहाईं। कुसुम कली बिच बीच बनाईं॥
रेखा रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवाँ॥

कुञ्जर मनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल।
बृषभ कंध केहरि ठवनि बलनिधि बाहु विसाल॥

कटि तूनीर पीटपट बाँधे। कर सर धनुष बाम वर काँधे।
पीत जग्य उपबीत सुहाए। नख सिख मंजु महाछबि छाए।

जब हृदय श्रद्धाप्रवण होता है, तब वह नखसिख देखता है अर्थात् उस समय उसकी दृष्टि अपने इष्टदेव के चरणों (नख) से चल कर मुख (शिख) तक पहुँचती है। जब हृदय प्रेमप्रवण होता है, तब वह शिखनख देखता है अर्थात् उस समय उसकी दृष्टि अपने इष्ट के मुख की ओर पहले जाकर फिर नीचे उतरती है। श्रद्धा बढ़ती गई तो वह चरणों तक पहुँच जाती है। समवयस्कों का हृदय श्रद्धाप्रवण था और मिथिला-कुमारियों का हृदय था प्रेमप्रवण। पुरवासियों में तो सभी तरह की भावना वाले उपस्थित थे, पर उनमें प्रेमप्रवण अथवा वात्सल्य-भावना वाले ही अधिक थे; क्योंकि राजा की कन्या सीता मानो उनकी ही कन्या थीं और राजकुमारी के अनुरूप वर को वे प्रधानतः इसी दृष्टि से देखेंगे। अतएव इस नखशिख में मुख के सौन्दर्य को ही पूरी प्रधानता दी गयी है। आँखें तो सबकी बिना मोल उस छवि पर लुट ही चुकी हैं, मानो वे चुरा

ली गयी हैं (अनजान में माल का उड़ जाना चोरी ही है, भले ही ऐसी चोरी माल खोने वाले को भी परम प्रिय लगे)। उस रूप में नगर के कुमारों का देखा हुआ रुचिर चौतनी वाला धनुर्धर रूप भी है और उपवन की कुमारियों का देखा हुआ कुसुम कलियों वाला मार-मद-हरण रूप भी है। परन्तु यह सब होते हुए उस मुख का सौन्दर्य ऐसा अनूप है कि त्रिभुवन-शोभा की सीमा उसके नीचे ही खिचकर रह गयी है। गले की रेखा मानो कंबु-कंठ से उद्घोषित कर रही है—शङ्खनाद से निर्णय दे रही है कि त्रैलोक्य के सौन्दर्य की हद तो यहीं तक मिल जायगी; अब इसके ऊपर जो आनन की छटा है, उसकी झलक त्रैलोक्य की किसी अन्य वस्तु में पाना सम्भव नहीं। वह तो 'भावत हृदय जात नहीं बरनी'। फिर मजा यह कि वर के सम्बन्ध की इनकी अनुरूपता के लिए तुलसी की माला के साथ ही पीली चौतनी और पीला यज्ञोपवीत पहिनाना गोस्वामीजी नहीं भूले हैं।

शेष चार नखशिख पूरे नखशिख हैं, जिनमें नख से शिख तक अथवा शिख से नख तक क्रमबद्ध वर्णन हुआ है। पहिले पूर्व प्रसङ्गानुसार दूलह राम का ही नखशिख देखिये, जिसने सङ्कोचशीला सीता के 'प्रेम-पियासे' नयनों को आकृष्ट किया था। पंक्तियाँ हैं—

स्याम सरीरु सुभायँ सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥
जावक जुत पद कमल सुहाए। मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए॥
पीत पुनीत मनोहर धोती। हरित बाल रबि दामिन जोती॥
कल किंकन कटि सूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर॥
पीत जनेउ महाछबि देई। कर मुद्रिका चोरि चितु लेई॥
सोहत ब्याह साज सब साजे। उर आयत उर भूषन राजे॥
पियर उपरना काखा सोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती॥
नयन कमल कल कुण्डल काना। बदनु सकल सौंदर्य निधाना॥
सुन्दर भृकुटि मनोहर नासा। भाल तिलकु रुचिरता निवासा॥
सोहत मौरु मनोहर माथे। मंगलमय मुकुत मनि गाथे॥

कोटि-मनोज-लजावन रूप को जिस श्रद्धा से जगज्जननी जानकीजी देख रही हैं, उसका वर्णन नख से ही आगे बढ़ना चाहिये था और उसमें सबसे पहले उन चरण कमलों का ध्यान होना चाहिए था, जिनमें मुनियों के मन-मधुप भी छाये रहते हैं। अनुराग की लाली उन चरणों में जावक बन कर खिली पड़ रही है। मिथिला में इन चरणों पर दृष्टि न तो कुमारों की गड़ी, न कुमारियों की गड़ी गड़ी तो भक्तिस्वरूपा श्री सीताजी की ही गड़ी। वर्णन का चमत्कार देखिये। पूव

का धारण किया हुआ पीला यज्ञोपवीत इस समय सार्थक बन कर 'महाछवि' दे रहा है और कर-मुद्रिका तो चित्त ही चुराये ले रही है। राम नामाङ्कित मुद्रिका तो जगज्जननी के हाथ में आकर फिर प्रभु के पास पहुँचेगी और सन्देशवाहिका बनकर विरह-व्यथा चुराने वाली बनेगी। इसलिए अभी से यदि वह चित्त चुरा रही है तो क्या आश्चर्य। मुद्रिका के रत्न पर प्रभु की मुखच्छवि प्रतिबिम्बित हो रही है। सीताजी का ध्यान वहीं अटक गया। तन्मयता की उस परवशता में चित्त की चोरी हो गयी, इसलिए उसके आगे का वर्णन भी कुछ डगमगा गया। फिर देखिये। जो भृकुटी पहले के रूपों में 'विकट' अथवा 'बाँकी' थी, वह इस रूप में पहुँचते-पहुँचते एकदम 'सुन्दर' हो गयी है। भौंहें टेढ़ी करना वरदान के समय की मुद्रा नहीं है। यहाँ तो प्रभु साक्षात् वर बन कर बैठे हुए हैं। फिर उनकी भौंहें विकट या बाँकी कैसे कही जाँय।

अब बचे ग्रन्थारम्भ के दो नखशिख और ग्रन्थान्त का एक नखशिख। सो इनमें पहिले कौसल्या के देखे हुए रूप का नखशिख देखिए—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कञ्ज बारिद गम्भीरा।।
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती।।
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे।।
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गभीर जान जेहिं देखा।।
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हियँ हरिनख सोभा अति रूरी।।
उर मनिहार पदिक की सोभा। विप्र चरन देखत मन लोभा।।
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छबि छाई।।
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनइ पारे।।
सुन्दर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला।।
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे।।
पीत झगुलिया तनु पहिराई। जानु पानि बिचरनि मोहि भाई।।
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहिं देखा।।

यह वह रूप है, जिसके विषय में गोस्वामीजी ने कहा है—

सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद।।

अर्थात सर्वसमर्थ प्रभु का वात्सल्यरस के अनुकूल रूप, जो इस समय कौसल्या की गोद में है। कौसल्याजी जानती हैं कि गोद वाला रूप प्रभु का है, इसीलिये नख से उनकी दृष्टि शिख की ओर जाती है। इस रूप में पदतल के भी देखने का अवसर मिल जाता है, जहाँ ध्वज, कुलिस, अंकुस आदि की ऐश्वर्य-सूचक रेखाएँ विद्यमान हैं। भक्तों के लिए ये रेखाएँ साधना-सिद्धि, विघ्न-भञ्जन और मनोनिय-

ग्रेरण ग्रथवा सत्त्वगुण, तमोगुण ग्रौर रजोगुण के प्रति इन चरणों की क्या प्रेरणा होगी—इसकी सूचना देती हैं। माता कौसल्या उन पदतलों को सहलाने लगती है, जिससे नूपुर ध्वनित हो उठते हैं। मानो वे मुनियों तक का मन मुग्ध करते हुए घोषणा कर रहे हों कि सौभाग्य हो तो माता कौसल्या का सा हो। जिस नाभि से सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई हो, उसकी गम्भीरता की थाह पाना कोई सामान्य बात है? जिसको उस तत्त्व के दर्शन हो चुके हों, वही उसे जान सकता है। हरिनख (बघनखा) की शोभा 'ग्रति रूरी' इसलिए भी है कि वह 'नृसिंहावतार' की याद दिला रहा है। प्रभु के हृदय पर यह बात बसी हुई है कि भक्त के उद्धार के लिए किसी भी समय ग्रौर किसी भी जगह वे 'खंभा फाड़कर' प्रकट हो जायँगे। हरिनख ही नहीं विप्र चरण भी वहीं हैं—शक्ति ही नहीं, शील भी उस हृदय में भरपूर है। माता की दृष्टि शिख तक जाकर ठहर गयी। बिखरे हुए 'गमुग्रारे' केश सुव्यवस्थित हो जायँ, इसलिए वे सँवार दिये गये ग्रौर पीत भँगुलिया से शरीर ग्राच्छादित कर दिया गया। पहिले ही पीत भँगुलिया होती तो विप्रचरण ग्रादि कैसे दीखते। पीत भँगुलिया स्नेह का वह ग्रावरण है, जो भक्त ग्रपने ग्राराध्य के रूप के ऊपर डाल देता है। ऐसे रूप को तो वह दुनिया की नजरों से बचा कर ग्रपने ही हृदय में रख लेना चाहते है। उस रूप का क्या वर्णन हो, जो वाणी का विषय नहीं, तर्क का विषय नहीं। वह तो विशुद्ध भाव गम्य—हृदय की वस्तु है। जिसने स्वप्न में भी उसकी झलक देखी है वही उसे जान सकेगा।

भँगुलिया-वेष्टित ठीक यही रूप परम भक्त काकभुशुण्डिजी ने देखा ग्रौर उसे ग्रपने हृदय की वस्तु बना लिया। देखिये वह ग्रन्थान्त का नखशिख, जिसके विषय में भुशुण्डिजी स्वतः कहते हैं—

'बिचरत ग्रजिर जननि सुखदाई ॥'

जननी को सुख देने वाले इस रूप का वह ग्राकर्षण था कि शङ्कर ग्रौर भुशुण्डिजी भी 'पीत झगुलिग्रा तनु पहिराई' के साथ बोल उठे थे—

'जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ॥'

इस जानु-पाणि-विचरणवाले रूप का नखशिख पूर्व के नखशिख से मिलाते हुए पढ़िये—

मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। ग्रंग ग्रंग प्रति छवि बहु कामा ॥
नव राजीव ग्ररुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि दुति हरना ॥
ललित ग्रंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर रवकारी ॥
चारु पुरट मनि रचित बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई ॥

रेखा त्रय सुन्दर उदर नाभि रुचिर गंभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिध बाल बिभूषन चीर ॥
अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर ॥
कंध बाल केहरि उर ग्रीवा। चारु चिबुक आनन छबि सींवा ॥
कलबल बचन अधर अरुनारे। दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे ॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद ससि कर सम हाँसा ॥
नील कंज लोचन भवमोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन ॥
बिकट भृकुटि सम श्रवन सुहाए। कुंचित कच मेचक छबि छाए ॥
पीत झीनि झँगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही ॥
रूप रासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी ॥

माता कौशल्या में वात्सल्य विशेष था और भुशुण्डिजी में थी श्रद्धा विशेष। नखसे शिखकी ओर ये भी बढ़े हैं, परन्तु इन्होंने पदतल में तीन ही नहीं, कुलिशादिक चारों रेखाएँ देखीं। ध्वज, कुलिस और अंकुश की तीन रेखाएँ तो माता कौशल्या ने भी देखी थीं। चौथी रेखा थी कमल की, जो अनुग्रहरूपी लक्ष्मी का उत्पत्ति-स्थल कही जा सकती है। भक्त-हृदय भला, अनुग्रह के उत्स को कैसे न देखता। माता कौशल्या तो अपने वात्सल्य के कारण तुतलाते बोलों पर निछावर थीं, इसीलिये वहाँ गोस्वामीजी ने कहा 'अति प्रिय मधुर तोतरे बोला'। किन्तु यहाँ भक्त-हृदय भुशुण्डि तो उनके हास, उनकी चितवन के विशेष आकांक्षी थे। अतः 'कलबल वचन' का उल्लेखमात्र करके यहाँ कहा गया— किलकनि चितवनि भावति मोही।' यह किलकनि ही हास है, जिसके लिये कहा गया है—सकल सुखद ससिकर सम हासा।' इस हास के स्पष्टीकरण के लिये बहुत पूर्व का प्रसङ्ग देखा जाय, जहाँ कहा गया है—

'हृदयँ अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥'

यह हास क्या है? भगवान् के हृदय के अनुग्रह की एक किरण मात्र है, जो बाहर प्रकट होकर उस अनुग्रह की सूचना दे रही है। भक्त के लिये यही तो परम प्राप्य है। चितवन के लिये कहा गया है, 'नीलकंज लोचन भव मोचन।' वह चितवन ऐसी-वैसी नहीं थी। वह भव मोचनी थी। भुशुण्डिजी कहते हैं कि परम आकर्षक नखशिखवाली ऐसी रूप-राशि नृप दशरथ के मणि-मण्डित अजिर में विचरण करते हुए अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर नाच-नाच उठती थी। ब्रह्म ने प्रतिबिम्ब की सृष्टि ही की है अपने उल्लास के लिये— अपनी लीला के लिये। इस भाव को ध्यान में रखते हुए 'नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी' का रस लिया जाय, तब इस नखशिख का और भी आनन्द आयेगा।

अब रहा ग्रन्थारम्भ का सर्व प्रथम नखशिख, जिसे मनु शतरूपा ने देखा था। उसका भी सम्बन्ध इस नखशिख से है; क्योंकि मनु शतरूपा की प्रार्थना ही थी कि वे वह रूप देखना चाहते हैं, 'जो भुशुण्डि-मन-मानस-हंसा' है। रूप वही दिखाया गया, परन्तु वह झँगुलिया वाला रूप न होकर धनुष-बाण वाला युवा रूप रहा, जिसमें ऐश्वर्य-माधुर्य दोनों का सम्मिश्रण था और जिसके साथ शक्ति संयुक्त थी। एकान्त साधक के लिये जो बाल रूप में ही मधुर है, उसे मनु-शतरूपा के समान लोक-सेवक साधक के लिये शक्ति संयुक्त युवा रूप में आना पड़ता है—जगद्-व्यवस्थापक के रूप में आना पड़ता है—ऐश्वर्य और माधुर्य सब कुछ लेकर। मनु-शतरूपा में 'प्रेम न हृदयँ समात' था, अतः उन्होंने इस रूप को शिख से नख तक देखा। देखिये वह रूप—

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना। बिस्व बास प्रगटे भगवाना।
नील सरोरुह नील मनि नील नीर धर स्याम।
लाजहिं तनु शोभा निरखि कोटि-कोटि सत काम॥
सरद मयंक बदन छबि सींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥
अधर अरुन रद सुन्दर नासा। बिधुकर निकर बिनिंदक हासा॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावतीजी की॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला। पदिक हार भूषन मनिजाला॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन सुन्दर तेऊ॥
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा॥
तड़ित बिनिंदक पीतपट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छबि छीनि॥
पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥
बाम भाग सोभति अनुकूला। आदि शक्ति छबिनिधि जगमूला॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु लय होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥
छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एक टक रहे नयन पट रोकी॥

इस नखशिख में हास और ललित चितवन की चर्चा तो है ही और उसे प्राथमिकता भी दी गयी है; साथ ही ऐश्वर्य-सूचक मुकुट, कुण्डल, मणिजाल, शर कोदण्ड आदि भी हैं और माधुर्य सूचक छबि सीमा रूप शरद-मयंक-वन्दन, मनोजचाप, छबिहारी भृकुटि, शील परिचायक श्रीवत्स (विप्र-चरण चिह्न)

और पदराजीव, जिन पर मुनियों के मन मधुप की तरह बसे रहते हैं, आदि भी हैं। इस तरह इस रूप में आगे के सभी नखशिख का सार आ गया है और फिर भी इसकी अपनी विशेषता भी रह गयी है; क्योंकि किरीट मुकुट इसी रूप में है और शक्ति सत्ता का प्रदर्शन भी इस रूप में है। उनकी वामाङ्गिनी कौन है? आदि शक्ति, छबि निधि, जगमूल। आदि शक्ति है, उनकी लीला—उनकी परम करुणा, जो भक्त के लिये परम वाञ्छनीय है। छवि निधि है लक्ष्मी और जगमूल है आदि प्रकृति अथवा माया। सीताजी तीनों का सम्मिलित अवतार हैं। माया का एक दुष्ट और अतिशय दुःखरूप है, जिसे अविद्या माया, कहते हैं। सीताजी में उसका अतिशय अभाव है। परन्तु जो 'विद्या माया' है, वह भी सीताजी का पूर्ण रूप नहीं है; क्योंकि भक्ति की तुलना में वह माया भी 'बिचारी नर्तकी' ही रह जाती है।

पुनि रघुवीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥

सीताजी तो वाम भाग में अनुकूल होकर शोभा देने वाली हैं। वे तो रामवल्लभा हैं, अतः प्रधानतः वे लीला का, भक्ति का, परम करुणा का, आदि शक्ति का, ह्लादिनी शक्ति का, अवतार हैं, आधि-भौतिक दृष्टि से वे जगमूल हैं, आधिदैविक दृष्टि से छबि निधि लक्ष्मी हैं और आध्यात्मिक दृष्टि से भगवत्कृपा वा आदि शक्ति हैं—ह्लादिनी, संधिनी, संवित्—तीनों शक्तियों का पुञ्जीभूत रूप हैं। प्रारम्भ में इसीलिये तो सीताजी के तीन विशेषण लगाकर स्तुति की गई है।

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

उद्भव-स्थिति संहारकारिणी जगमूला शक्ति है, क्लेशहारिणी छबिनिधि शक्ति है, सर्व श्रेयस्करी भगवत्कृपा रूपी आदि शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् 'कहियत भिन्न न भिन्न' हैं, अतः भगवद् रूप के इस सर्व प्रधान नखशिख के साथ उनकी वामभागस्थ शक्ति की भी चर्चा हो गयी है।

इस नख-शिख का सुमेरुरूप दोहा वह है, जो ऊपर दिया गया है।

नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु शोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

भगवान् के रूप की त्रिविध पूर्णता का और उसके दर्शन से भक्त-हृदय में उत्पन्न होने वाले प्रभाव का इस दोहे में बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है। सब गुणों को अपने में ही लय कर लेने वाला रंग है श्याम। सब भक्त-हृदयों को आकृष्ट कर अपने में ही लीन कर लेने वाला है परमात्मा। अतएव जब वह सगुण-साकार होगा, तब श्याम रूप में ही माना जायगा। जो निर्गुण होकर

भी सगुण भासित हो, रंगरहित होकर भी रंगवाला भासित हो, वह होगा नील—जैसे आकाश अथवा समुद्र। अपनी अनन्त विशालता के कारण आकाश नील जान पड़ता है, अपनी अनन्त गम्भीरता के कारण समुद्र नील जान पड़ता है। वस्तुतः उनमें से कोई भी नील नहीं है। निर्गुण ब्रह्म भी अपनी अनन्त विशालता और अनन्त गम्भीरता लिये हुए सगुण भासित होगा तो वह नीलवर्ण ही माना जायगा। सगुण-साकार के ये ही दो रंग प्रधान हैं। ऊपर के दोहे में उपमेय प्रभु के लिये तो श्याम-शब्द आया है और उनके उपमानों के लिये नील-शब्द। उपमान भी तीन हैं, जो भगवान् की त्रिविध पूर्णता का अच्छा परिचय देते हैं। हमारे मन, बुद्धि, चित्त के अनुसार अर्थात् हमारी इन्द्रिय-शक्ति, विचार-शक्ति और कल्पना या भाव-शक्ति के अनुसार हम तीन ही जगत् मान सकते हैं। सरोरुह, मणि और नीरधर ये तीनों इस जगत् के सर्व श्रेष्ठ उपमानों के प्रतीक हैं। इन्द्रिय गम्य भौतिक जगत् के सुन्दर पदार्थ या तो धरती के अन्दर रहेंगे या धरती पर या धरती के ऊपर। धरती के अन्दर के सब पदार्थों में मणि सुन्दरतम है, धरती पर के पदार्थों में पुष्प और उनमें भी कमल-पुष्प सर्व सुन्दर है, धरती से ऊपर के सब पदार्थों में क्षण-क्षण नवीनता धारण करने वाला सजल मेघ सबसे सुन्दर है। बुद्धिगम्य आत्मिक जगत् में सर्वश्रेष्ठ, अतएव सर्वसुन्दर तत्त्व हैं—सत् चित्-आनन्द। पुराणों की प्रतीकात्मक भाषा में कमल को सत् का प्रतीक माना गया है। (सम्पूर्ण फल की उत्पत्ति पुष्प से होती है और सम्पूर्ण स्थल की उत्पत्ति जल से हुई है, अतएव जल का पुष्प सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति के आदि कारण का प्रतीक होना चाहिये—यह सोच कर कह दिया गया कि भगवान् की नाभि से कमल ही निकला, जिससे ब्रह्माजी हुए, जिन्होंने सम्पूर्ण सृष्टि रची।) मणि को प्रकाशकत्व धर्म के कारण, चित् का प्रतीक माना गया है। नीरधर को रसत्व के कारण आनन्द का प्रतीक माना है। भावगम्य दैविक जगत् में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अतएव सर्वाधिक उल्लेखनीय देव हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। ब्रह्मा की विशिष्टता है उनकी कमलोद्भवता (कमलसे उत्पत्ति, जो न विष्णु के साथ लागू होती है न महेश के साथ)। विष्णु की विशेषता है उनका शृङ्गार और उसमें भी सुमेरुतुल्य देदीप्यमान कौस्तुभ मणि। (ब्रह्मा और शङ्कर ने शायद ही कभी कोई मणि-माणिक्य धारण किये हों।) महेश की विशेषता है उनका गङ्गाधरत्व—उनका नीरधरत्व (नीर-राशि को मस्तक पर धारण किये रहने की बात)। अतएव उपर्युक्त दोहे की पहली पंक्ति का अर्थ हुआ कि 'प्रभु श्याम रूप में आये; परन्तु वह ऐसा था, जिसमें त्रैलोक्य का सौन्दर्य अनन्त विशाल और अनन्त गम्भीर

(नील) रूप में समाहित था। सरोरुह, मणि, नीरधर का (भौतिक विश्व के सुन्दरतम पदार्थों का), सत् चित् आनन्द का (आत्मिक जगत् के श्रेष्ठतम तत्त्वों का) और ब्रह्मा-विष्णु-महेश का (दैविक जगत् के परम महिमामय देवों का) सम्पूर्ण सौन्दर्य अनन्तगुना विस्तृत होकर इस रूप में समाया हुआ था।

अब दोहे की दूसरी पंक्ति को देखिये। तनु का एक अर्थ होता है शरीर और दूसरा अर्थ होता है स्वल्प या छोटा। सत का एक अर्थ होता है सौ और दूसरा अर्थ होता है सत् या भला। काम का एक अर्थ होता है कामदेव (जो देवताओं में परम सुन्दर माना गया है), दूसरा अर्थ होता है कामनाएँ या आकांक्षाएँ—इच्छाएँ। शरीर की शोभा देखकर सौ-सौ करोड़ कामदेव या करोड़-करोड़ सैकड़ों कामदेव लज्जित हो जायँ—कह उठें कि रूप हो तो ऐसा हो, जिसके पासँग में भी हमारा रूप नहीं ठहर सकता—यह तो सामान्य अर्थ हुआ और वह भी ठीक ही है। परंतु प्रभावोत्पादकता यदि देवलोक तक ही—कामदेव को लज्जित करने तक ही, रुककर रह गई तो मर्त्यलोक में दर्शन देने का फिर क्या लाभ रहा! प्रभावोत्पादकता का सम्बन्ध तो मर्त्यलोक-के भक्त-हृदय से होना चाहिए। अतएव उत्तम अर्थ यह होगा कि उस छबि की यदि एक छोटी सी झलक मात्र निरख ली जाय—ध्यान से या तन्मयता के साथ देख ली जाय—तो करोड़ों सत्-कामनाएँ तक लज्जित हो जायँ। दुष्कामनाओं का तो एकदम अभाव ही हो जायगा; ऋद्धि-सिद्धि, यश, कल्याण, स्वर्ग मोक्ष आदि की सत्कामनाएँ भी उस रूप को ही परम प्राप्य मानकर अपने-आप शिथिल हो जायँगी। भगवद्‌रूप का प्रभाव ही ऐसा होता है। जिस मन में राम का रूप आया, वहाँ काम या कामना का अन्य कोई रूप रह ही नहीं सकता। कितना सुन्दर दोहा कहा है अन्यत्र गोस्वामीजी ने—

जहाँ राम तहाँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकै रबि रजनी इक ठाम॥

अब एक बात और लिखकर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है। संसारी जीव प्रभु के समीप दो ही मार्गों से पहुँचा करते हैं। एक है प्रीति-मार्ग और दूसरा है भीति-मार्ग, यद्यपि यह अवश्य है कि आगे चलकर यह भीति-मार्ग भी प्रीति-मार्ग में परिणत हो जाता है। इन दोनों मार्गों के अनुसार प्रभु के भी दो रूप हैं। एक मधुर रूप (जिसके नख-शिख की चर्चा ऊपर हो चुकी है) दूसरा है विराट् रूप। इस रूप की ओर संकेत कराने की आवश्यकता थी रावण के समान तर्कवादी को। इसीलिये मन्दोदरी के मुख से गोस्वामीजी ने एक ऐसे नख-शिख का भी वर्णन कर दिया है। यहाँ उसका उद्धरण मात्र पर्याप्त होगा। वह इस प्रकार है—

बिस्व रूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु ।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु ।।
पद पाताल सीस अज धामा । अपर लोक अँग अँग बिश्रामा ।।
भृकुटि बिलास भयंकर काला । नयन दिवाकर कच घनमाला ।।
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा । निसि अरु दिवसु निमेष अपारा ।।
श्रवन दिसा दस बेद बखानी । मारुत स्वास निगम निज बानी ।।
अधर लोभ जम दसन कराला । माया हास बाहु दिगपाला ।।
आनन अनल अंबुपति जीहा । उतपति पालन प्रलय समीहा ।।
रोम राजि अष्टादस भारा । अस्थि सैल सरिता नस जारा ।।
उदर उदधि अधगो जातना । जगमय प्रभु की बहु कलपना ।।
अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान ।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान ।।

इसमें न तो पूर्व के-से नख-शिखों की क्रमबद्धता है न सर्वाङ्गीणता है, न वैसी आकर्षण-माधुरी है; परंतु इसमें कल्पना का विराट् व्यापार अवश्य है, जो बुद्धि को सोचने समझने और आतङ्कित हो उठने की पर्याप्त सामग्री देता है ।

राम की लीला (उनका व्यवहार)

गोस्वामीजी के राम प्रभु रूप में भी हैं और मानव रूप में भी हैं। दोनों रूपों में उनका व्यवहार परम आकर्षक है। जो लोग राम के भक्त हैं अथवा राम के आदर्श पर अपने जीवन को ढालना चाहते हैं उन्हें इस ओर पर्याप्त ध्यान देते रहने की आवश्यकता है। समाज का जो दलित वर्ग कहलाता है उसके प्रति उनका व्यवहार कैसा रहा है यह तो विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

नारियों के प्रति--पहिले नारियों ही का प्रकरण देखिये। जब सतीजी ने सीताजी का वेष धारण कर राम की परात्परता की परीक्षा लेनी चाही तब राम ने प्रभु होते हुए भी पहिले उन्हें अपनी परात्परता नहीं दिखाई किन्तु नारी के प्रति सम्मान भावना की अपनी मर्यादा ही दिखाई। 'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू पिता समेत लीन्ह निज नामू। 'गहि पद' प्रणाम करने का तरीका सभी शिष्ट नारियों के प्रति नहीं है। कर-स्पर्श (कर मर्द) आदि का पाश्चात्य ढङ्ग तो भारतीय पूर्वजों की कल्पना के भी बाहर की वस्तु समझिये। शिष्ट से शिष्ट नारी का भी स्पर्श वर्जित है जब तक कि वह अपनी ही सगी माता या इसी प्रकार की कोई निकट की आत्मीय पूज्य नारी न हो। इसलिए यहाँ भी 'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रणाम' कहा गया है। मर्यादा की दूरी रख कर प्रणाम करने का तरीका नरों ही में नहीं किन्तु अपने वानरों तक में गोस्वामीजी ने दिखाया है। सीताजी की कौन कहे तपस्विनी स्वयंप्रभा को भी जब उन्होंने प्रणाम किया है तब गोस्वामीजी लिखते हैं 'दूरि ते ताहि सबन्हि सिरुनावा'।

राम के इस व्यवहार में परात्परता का तो कोई दिग्दर्शन हुआ नहीं और इसके बिना सती का पूर्ण समाधान हो न सकता था। इसलिए गोस्वामीजी ने लिखा 'जाना राम सती दुख पावा, निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा।' यह प्रभु-रूप का दिग्दर्शन था। आगे चल कर जब विश्वकल्याण की दृष्टि से प्रभु राम को वृन्दा के पातिव्रत्य का शिथिल करना अभीष्ट हुआ (स्मरण रहे कि धर्म की मर्यादाएँ विश्वकल्याण के दृष्टिकोण से ही बाँधी गई हैं और उन्हें वही शिथिल कर या करा सकता है जिसकी विश्वकल्याण के क्षेत्र में एकाङ्गी नहीं किन्तु सर्वाङ्गी दृष्टि हो। ऐसे ही 'समरथ कहँ नहिं दोस गुसाईं' होता है। समदर्शी प्रभु की नकल सामान्य मनुष्य इन मामलों में भी करने लग जाय तो समाज में अनर्थ मच जावेगा।) तो उसका शाप भी उन्होंने सहर्ष अङ्गीकार कर

लिया और उसके पातिव्रत्य को मान देते हुए आज तक भी उसे सिर माथे पर ही स्थान दे रहे हैं। 'अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय'। यह है गोस्वामीजी की भावना राम के प्रभु रूप के सम्बन्ध में भी।

मनु शतरूपा को दर्शन देते समय उन्होंने शतरूपा से कहा देवि माँगु वर जो रुचि तोरे। मनुजी को उन्होंने 'देव' नहीं कहा था। शतरूपा ने भक्तों का विवेक भी वर में माँगा था। इसीलिए उन्होंने अवतार लेने के बाद 'देखरावा मातहिं निज अद्‌भुत रूप अखण्ड'। अन्यथा उन्होंने सदैव माता कौसल्या को परम सम्मान ही दिया है। 'तनय मातु पितु तोषनि हारा दुर्लभ जननि सकल संसारा'। निज जननी से भी बढ़कर उन्होंने उसकी सपत्नी उस जननी को मान दिया है जिसके कारण उन्हें १४ वर्षों का कड़ा वनवास भोगना पड़ा था। गोस्वामीजी ने तो इस प्रसङ्ग में सभी नारियों को दोषमुक्त कर दिया है। कैकेयी ने "सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतियानि'। मन्थरा की 'गई गिरा मति फेरि।' गिरा भी देवताओं की प्रेरणा से गई और देवताओं का तर्क था ' विसमय हरस रहित रघुराऊ, तुम जानहु रघुबीर सुभाऊ" तथा 'जीव करम बस सुख दुख भागी, जाइय अवध देवहित लागी।"

केवल एक ही नारी थी जिसका राम ने वध किया और वह थी ताड़का। नारी अवध्य है यह भारतीय धर्म की सर्व सामान्य परम्परा है। परन्तु विशेष परिस्थिति में जब वह एक दम आततायिनी हो जाती है (दूसरों को मार डालने के लिये शस्त्र उठा कर दौड़ पड़ती है) तब वह भी वधयोग्य हो जाती है ऐसा मनुजी ने कहा है। आततायिन मायान्तं हन्या देवाविचारयन्। फिर प्रभु राम तो "दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा"। बात यह है कि ताड़का क्रोध का प्रतीक है और सूर्पणखा काम का प्रतीक है। क्रोध का तो संहार ही आवश्यक है और काम को धर्म अविरुद्ध बनाकर रख छोड़ना आवश्यक है। (गीता में भगवान् ने उसे अपना ही प्रतिरूप कहा है "धर्मा विरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ) यह भावना भी तो इन चरित्रों से प्रकट होती है। यों दोनों ही जब आततायिनी होकर आगे बढ़ी थीं तभी उनका निग्रह किया गया था। राज दण्ड यह चाहता है कि अनुग्रह के साथ ही साथ निग्रह की ओर भी ध्यान रखा जाय नहीं तो अनुग्रह का दुरुपयोग हो जायगा। अतएव जब "सुनि ताड़का क्रोध करि धाई" तब प्रभु ने "एकहि बान प्रान हरि लीना।"

आगे चलकर गौतम नारी का प्रसङ्ग आता है। "गौतम नारी साप बस, उपल देह धरि धीर, चरन कमल रज चाहती कृपा करहु रघुबीर।" रामचरित का यह बड़ा अपूर्व आख्यान है। कुछ लोग इसे रूपक मानते हैं कुछ लोग ऐति-

हासिक घटना। वाल्मीकि ने अहल्या का पत्थर बनना नहीं लिखा है। कथा प्रसङ्ग को मानवीय स्तर पर समझने का प्रयत्न करने पर जान पड़ता है कि अहल्या इसलिए परित्यक्त कर दी गई थी क्योंकि वह वर्षाविद्युत् (इन्द्र) का चमत्कार देख कर कामनायुक्त हो गई थी और थोड़ी देर के लिए उसका कठोर संयम ढीला पड़ गया था। राम ने अपना आश्रय देकर मानो मौन भाव से मुनि मण्डली को भी यह समझा दिया कि ऐसी नारी को परित्याज्य नहीं समझना चाहिए। स्मृतिकार तो कहते हैं "न त्याज्या दूषिता नारी नास्यास्त्यागो विधीयते।" उनके मत में तो परिणीता नारी परित्याज्य होती ही नहीं। समाज संरक्षण की दृष्टि से बहुत बड़ा सिद्धान्त है यह। भारत में विधर्मियों की संख्या बढ़ने का एक प्रमुख कारण यह भी रहा कि छोटी-छोटी बात पर नारियाँ कभी-कभी त्याग दी जाती रहीं। यज्ञ संरक्षण के शौर्य से प्रभावित मुनि मण्डली ने राम के निर्णय को मान्यता दी और पंचों का रुख देखकर गौतमजी ने भी अहल्या को सहर्ष स्वीकार कर लिया। उपेक्षिता को पाषाणी (अर्थात् उपल तुल्य निरादृत निश्चेष्ट सर्वसहा) कह देना कवि-कल्पना के लिए सामान्य बात है। राम ने उसको अपने चरण छू लेने दिया (परसत पद पावन) यह एक असाधारण परिस्थिति ही समझिये। अन्यत्र कहीं ऐसा कोई प्रसङ्ग नहीं आया है। हाँ बुढ़िया शबरी अलबत्ता चरणों से लिपट गई थी।

जनकपुर पहुँच कर राम ने तो जिस शिष्टता का निर्वाह किया है वह विश्व-साहित्य में शायद बे जोड़ होगा। उनके रूप का आकर्षण तो इतना प्रबल था कि "जुवती भवन झरोखन लागीं, निरखहिं रामरूप अनुरागीं" परन्तु उनकी शिष्टता इस हद्द की थी कि उनकी आँख कहीं ऊपर उठी ही नहीं। परिणाम यह हुआ कि उन युवतियों के मन में भी अनुराग किसी प्रकार अमर्यादित नहीं होने पाया और वह बराबर श्रद्धा से सम्पुटित रहा। जनक वाटिका में भी यही हाल रहा। वहाँ यह अवश्य है कि राम ने सीता के मुख को देखा (सिय मुख ससि भये नयन चकोरा) और सीताजी ने कुछ क्षण बाद राम को देखकर "लोचन मग रामहिं उर आनी, दीन्हें पलक कपाट सयानी।" परन्तु पूरा प्रसङ्ग ध्यान से पढ़ जाइये तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उन दोनों की चार आँखें कभी हुई ही नहीं। "प्रीति पुरातन लखहि न कोई" की प्रबलता यह थी कि उस वाटिका में ही दोनों ने दोनों को आत्म-समर्पण कर दिया परन्तु शील भी देखिये कितना जबरदस्त था कि एक पल के लिये भी आँखों से आँखें लगने न पाईं।

राम का एक-पत्नी-व्रत तो परम प्रख्यात है। राम-बल्लभा सीता "अतिसय प्रिय करुणा निधान की" रही हैं। उनके सम्मान और संरक्षण के सम्बन्ध

में राम ने अपना कर्त्तव्य किस प्रकार निभाया है इसकी एक झलक देखनी हो तो जयन्त का प्रकरण देखा जाय। स्वतः पुष्पों के आभूषण बनाकर सीता को आभूषित करना (सम्मान) और देवराज के लाड़ले को भी अपमान का यथोचित दण्ड देना (संरक्षण) उसी प्रकरण में है। राम चरित वस्तुतः "सीतायाश्चरितं महत्" है, जिनके संरक्षण के प्रति अपनी कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर ही बनचारी राम को लंकेश्वर के समान प्रबल शत्रु से लोहा लेना पड़ा और राक्षस कुल का संहार करना पड़ा।

सीता और लक्ष्मण समेत बनचारी राम को जब ग्रामवधूटियों ने देखा है और मार्ग में एक जगह विश्राम करते देख वहाँ एकत्र होकर सीताजी से कुछ निश्छल पूछपाछ करने लगी हैं, वह भी प्रसङ्ग राम की नारी-भावना के सम्बन्ध में देखने लायक है। ये ग्राम्या हैं, अशिक्षिता हैं, असंस्कृत हैं, अतएव इनसे सीताजी का सम्पर्क बचाया जाय; इस भावना को राम के मन में गन्ध तक न थी। कितनी आत्मीयता के साथ सीताजी मिलीं उन "बतरस लोचन लालची" ग्राम वधूटियों से, जिसके कारण वे इतनी मुदित हुईं कि "रंकन्ह रायरासि जनु लूटी"। कवितावली में यही प्रसङ्ग अपनी निराली रोचकता लिये हुए है। वधूटियाँ सीताजी से राम के प्रति संकेत करती हुई कहती हैं "चितै तुम्ह त्यों हमरो मन मोहै"। राम की निगाह सीता की ओर से हटकर उन वधूटियों की ओर नहीं जा रही है। यह एक कृत्य उन वधूटियों के अनुराग में श्रद्धा के कई सम्पुट लगा चुका। वे सीता से कह उठीं "सदा सोहागिनि होइ तुम्ह जब लगि महि अहि सीस।"

आगे शवरी का प्रकरण आता है जो अपने विषय में स्वतः कहती है 'अधम जाति मैं जड़ मति भारी, अधम तें अधम अधम अति नारी, तिन्ह महुँ मैं मतिमन्द अघारी"। वह वनचरी बुढ़िया राम के चरणों से लिपट गई और प्रेम मग्न होकर उसने कन्द मूल और बेर आदि वन्य फल सामने रख दिये। यह हरिजन (अस्पृश्य) गिरिजन (आदिम जातीय) बुढ़िया है, इसका छुआ कौन खाय— राम ने ऐसा स्वप्न में भी नहीं सोचा। "प्रेम सहित प्रभु खाये बारम्बार बखानि"। वे कहने लगे " जाति पांति कुल धर्म बड़ाई, धन बलु परिजन गुन चतुराई, भगति हीन नर सोहइ कैसा, बिनु जल वारिद देखिये जैसा"। और इसके पहिले ही अपना निष्कर्ष दिया " कह रघुपति सुनु भामिनी बाता, मानहुँ एक भगति कर नाता"। वह अस्पृश्य है, नीच आदिम जाति की है, दीनहीन कुरूप बुढ़िया है, इससे कोई मतलब नहीं। यदि जन-सेवा अथवा जनार्दन सेवा में संलग्न है तो राम की परम आत्मीय है, उनकी सबसे बड़ी नातेदार है। जरा 'भामिनी'

सम्बोधन पर ध्यान दीजियेगा। यही नहीं, आगे भी उसके लिये न केवल भामिनी किन्तु करिवर गामिनी तक कहा गया है। बुढ़िया के साथ राम का यह मजाक न था किन्तु संकेत था कि वे रूप-सौन्दर्य के नहीं चारित्रिक सौन्दर्य के ग्राहक हैं। नवधा भक्ति के सुन्दरतम विवेचन की एक मात्र अधिकारिणी उसे ही समझा भगवान राम ने। इस नवधा भक्ति में साढ़े चार मार्ग जन-सेवा के हैं और साढ़े चार मार्ग जनार्दन सेवा के। चाहे कोई आस्तिक हो चाहे नास्तिक, परन्तु यदि वह सदाचार परायण है–लोक सेवा परायण है–तो उसका स्थान इस नवधा भक्ति में बराबर सुरक्षित है और वही राम का परम आत्मीय है।

जिन राम ने शवरी सरीखी निकृष्ट वर्ग की बुढ़िया को 'भामिनी' कहा उन्होंने आगे चल कर नारद को उपदेश देते हुए कहा "अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि"। मायारूपी नारी से बचने के लिए गोस्वामी जी ने भी निष्कर्ष दिया "दीपसिखा सम जुवति तनु मन जनि होसि पतंग"। नारी का जो भोग्य रूप है उससे सदैव सावधान रहना और उसका जो सेव्य रूप है उसका सदैव सम्मान करना; यही न केवल गोस्वामी जी का किन्तु उनके राम का भी अभीष्ट जान पड़ता है। "जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं" वाली उनकी उक्ति यद्यपि पुरानी उक्ति का अनुवाद मात्र है, फिर भी यहाँ वह सीता में किसी प्रकार के प्रमदात्व का आरोपण न कर उनकी भाव-प्रवणता की अतिरेकता का ही संकेत करती है, जिसके कारण उन्होंने कुपात्र को भी दान देने के लिये लक्ष्मण की मर्यादा-रेखा तक का उल्लंघन किया था।

तारा तो शत्रुपत्नी थी और वह भी बानरी। परन्तु राम के मन में उसके प्रति भी कितनी सम्मान-भावना थी। उन्होंने ज्ञान-दंभी बालि को भी फटकारते हुए कहा था 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना, नारि सिखावन करेसि न काना'। नारि के इस सचिवत्व के साथ—इस "गृहिणी सचिव: सखा मिथ:" वाले रूप के साथ—"सहज अपावनि नारि" या "नारि सहजजड़ अज्ञ" वाली उक्तियाँ मिला कर पढ़िये तो तुरन्त ही स्पष्ट हो जायेगा कि पिछली उक्तियों का प्रसंग दूसरा है–संकेत दूसरा है। ये उक्तियाँ नारी-सम्मान नहीं किन्तु अनियंत्रित प्रमदा–सम्मान के विरुद्ध प्रचारित की गई हैं। बालि वध के बाद तारा की विकलता राम से देखी न जा सकी इसलिये उन्होंने स्वतः उसे समझा बुझा कर शान्त किया।

सचिवत्व के सम्बन्ध में मन्दोदरी का दर्जा कदाचित तारा से कई दर्जे ऊँचा था जिसके लिए राम के मन में उसके प्रति निश्चय ही बहुत आदर भावना रही होगी। (राम की कौन कहे स्वतः रावण भी मन्दोदरी की इतनी इज्जत करता था कि उसने विभीषण तक का अपमान किया, परन्तु मन्दोदरी का कभी

अपमान न कर सका । यही नहीं, अशोक वाटिका में सीताजी के पास जाते समय भी वह मन्दोदरीं को साथ ले चलना न भूला) । परन्तु मन्दोदरी स्वतः इतनी समझदार थीं कि रावण वध के अनन्तर उनकी विकलता के अवसर पर राम को कुछ कहने की आवश्यकता ही न पड़ी ।

राम के इस चारित्र्य और इस व्यवहार का प्रजा में भी इतना प्रभाव पड़ा कि गोस्वामीजी ने लिखा "एक नारि व्रत रत सब झारी, ते मन क्रम वच पति हितकारी" । नारी मन, वाणी, क्रिया से पतिव्रता थीं और नर थे उसी प्रकार मन, वाणी, क्रिया से एक पत्नी व्रती । यह था राम राज्य का आदर्श ।

इस प्रसङ्ग में अनसूयोपदेश की भी कुछ चर्चा कर लेना अनुचित न होगा। यद्यपि राम के व्यवहार से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है फिर भी 'मौनं सम्मति लक्षणं' के अनुसार उस पर राम की स्वीकृति-सूचक मुहर लगी हुई तो मानना ही होगा । नर के एक पत्नीव्रत पर तो किसी ने लम्बा उपदेश नहीं दिया परन्तु नारी के पातिव्रत्य पर यहाँ बहुत-बहुत बातें कह दी गई हैं । 'एकइ धरम एकु व्रत नेमा, काय वचन मन पति पद प्रेमा' । यह क्यों ? इसका कारण है नर और नारी की गठन तथा उसके स्वभाव की प्राकृतिक भिन्नता । इसी भिन्नता के कारण नर का प्रकृत क्षेत्र होता है समाज सेवा और नारी का प्रकृत क्षेत्र रहता है गृह-सेवा जिसका केन्द्र होता है उसका पति । (विशेष विवरण के लिए 'गोस्वामीजी और नारी' शीर्षक लेख देखा जावे) । पति सेवा के एक ही मार्ग से वह अपत्य सेवा, कुटुम्ब सेवा और समाज-सेवा सब की साधना कर लेती है । यदि यह धर्म (कर्तव्य-बुद्धि) से प्रेरित है तो "वृद्ध रोग बस जड़ धन हीन, अन्ध बधिर क्रोधी अति दीन" पति को भी अपने साधना मार्ग की सुदृढ़ सीढ़ी मान कर आगे बढ़ेगी और यदि वह काम से प्रेरित है और हृष्टपुष्ट सुरूप युवा पति ही पर आसक्त होना जानती है तो सम्भव है कि वह सम्मान और संरक्षण दोनों ही खो बैठे, जिनकी प्रत्येक नारी को सदैव आवश्यकता रहती है । माता-पिता, भाई बहन, नाते-रिश्तेदार सब कोई केवल सीमित सुख दे सकते हैं । नारी जो 'माँग का सुख' चाहती है (जिसमें सन्तान सुख भी सम्मिलित है) वह तो केवल पति ही दे सकता है । धर्म और काम दोनों की माँग केवल पतिद्वारा ही पूरी तरह पूरी की जा सकती है । उसे स्वस्थ, सुखी, सन्मार्गस्थ रखा जाय तो नारी को भी सच्चा सुख मिलता जायगा और समाज पर भी अधिकार बना रहेगा । यही है पातिव्रत्य धर्म का सार जिसकी सच्ची कसौटी है आपत्ति-काल । "सरिता सोइ सराहिये जो जेठ मास ठहराय" । जो असमर्थता में भी साथ न छोड़े वही तो है अर्धाङ्ग या अर्धाङ्गिनी । पातिव्रत्य के

ऐसे ही गुणों के कारण राम ने (हरि ने) तुलसी को (वृन्दा को) अपने मस्तक पर धारण कर रखा है। "अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय।"

इस अनसूयोपदेश में पतिव्रता की जो चार कोटियाँ बताई गई हैं उन्हें ही भक्तों की कोटियाँ कहा जा सकता है। मांसल प्रेम के क्षेत्र में जो पति का दर्जा है वही अमांसल प्रेम के क्षेत्रों में इष्टदेव का दर्जा है। पतिव्रता नारी और अपने इष्टदेव का सच्चा भक्त, एक बराबर हैं। उत्तम पतिव्रता अथवा उत्तम भक्त वह है जिसका अपने इष्ट के अतिरिक्त और किसी ओर ध्यान तक नहीं जाता। उसकी निगाह में दूसरा इष्ट अस्तित्व ही नहीं रखता। मध्यम वह है जो अन्यों के इष्ट का भी ख्याल रखता है परन्तु अपने लिये उन्हें मित-सुख प्रद ही मानता है और उन्हें अन्य कुटुम्बियों की भाँति जानता है। जो हार्दिक अनुराग से नहीं, किन्तु धर्म और कुल मर्यादा के विचार से ही अपने इष्ट का आराधक बना रहता है वह निकृष्ट भक्त है। जो केवल समाज भय से (कोई देख लेगा अथवा जान जायगा तो नाम धरने लगेगा या निरादर करने लगेगा इस डर से) अथवा उसे दूसरी ओर झुक पड़ने का अवसर ही नहीं मिला इस कारण से, अपने इष्ट का नाम लेता है, वह अधम भक्त है। ऐसी नारी को भी पतिव्रता कहेंगे परन्तु है वह अधम पतिव्रता। जो अपने इष्ट के साथ धोखेबाजी करके क्षणिक सुखदायक इतर इच्छित पदार्थों की ओर आकृष्ट होता है वह पातिव्रत्य की साधना से गिरकर सौ करोड़ जन्मों का दुख भोगता और रौरव नरक में जाता है। ऐसा ही व्यक्ति तारुण्य की लालसाओं का शिकार हो कर वैधव्य की असफलतायें भोगता रहता है और परम दुखी बना रहता है। यही है अनसूयोपदेश का मर्म, जो भक्तों के लिये भी परम मननीय है।

नारी की सहज अपावनता कदाचित् उसके प्राकृतिक मासिक धर्म और माया के प्रतीकत्व को लक्ष्य में रख कर कही गई है किन्तु अनसूयाजी के मुख से इसे कहलाकर गोस्वामीजी ने इसका अर्थ ही बदल डाला और यह उक्ति नम्रता की प्रतीक बन गई। भक्त भी तो भगवान के समक्ष अपने को नीचातिनीच प्राणी कहा करता है। वस्तुतः स्मृतिकार तो कहते हैं कि नारियाँ सदा पावन हैं। उनमें यदि बाह्य अशुचिता हुई भी तो सुवर्ण के समान वे भी वायु तथा सूर्य चन्द्र की किरणों के स्पर्श से ही पवित्र हो जाती हैं। "शौचं सुवर्ण नारीणां वायु सूर्येन्दु रश्मिभिः।"

राम की लीला (उनका व्यवहार)
(तथाकथित अछूतों के प्रति)

हम पहिले बता आये है कि राम का व्यवहार नारियों के प्रति कैसा था। इस लेख में हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि उनका व्यवहार ऐसे समाज के प्रति कैसा था जिसे लोग अछूत माना करते थे। इस समाज में हरिजन (नीची जात के लोग) और गिरिजन (वन्य आदिम जातीय लोग) सभी सम्मिलित हैं। वानर और राक्षस तक इसमें सम्मिलित समझिये फिर विदेशी, विधर्मी, मलेच्छों, बर्बरों आदि की तो बात ही क्या है।

सब से पहिले निषादराज का प्रसङ्ग देखा जाय। जब वन यात्रा के समय निषादराज गुह ने आकर भेंट की तब 'सहज सनेह बिबस रघुराई, पूछी कुसल निकट बैठाई'। निकट का अर्थ ही है कि उन्होंने जात पाँत की दूरी दूर कर दी। वन से लौटते समय इसी गुह को 'प्रीति परम विलोकि रघुराई, हरसि उठाय लियेउ उर लाई'। छाती से लगा लेना कितनी बड़ी बात थी। आज के राम-भक्त क्या अपने निषाद भाइयों को इसी प्रेम से छाती से लगा सकते हैं ?

निषाद राज प्रेम की पहिली ही वृष्टि से गद्गद हो गया और अपनी सारी ठकुराई उन्हें सौंपने को उद्यत हो गया। राम ने उसकी भावना को ठुकराया नहीं किन्तु प्रेम से उसे वस्तुस्थिति समझा दी। 'कहेउ सत्य सब सखा सुजाना, मोहिं दीन्ह पितु आयसु आना'। सखा और सुजान शब्दों की ओर ध्यान दीजियेगा। नींच और गँवार से कितने विपरीत हैं। मनुष्य के स्वाभिमान और उज्ज्वलता को कितना ऊँचा उठा देने वाले शब्द हैं ये। गुह आप ही रीझ कर बिना मोल का चेरा बन गया। उसने राम का दुख देखकर कैकेई के लिए सहज ही कुछ कठोर शब्द कह दिये। उस वन्य के मन में कैकेई के प्रति भी क्रोध की भावना का उदय ही क्यों हो। इसलिए झट लक्ष्मणजी ने 'कोउ न काहु सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता' का सुन्दर उपदेश दे डाला। यह है वन्य जातियों का उन्नयन। इस ढङ्ग से उन्हें प्रेम का पाठ पढ़ा कर, न कि उनकी प्रतिहिंसा की भावना जगा कर, समाज का एकीकरण किया जाता है। लक्ष्मण ने उसे भ्राता कहा सखा कहा। क्यों न कहते जब रामजी ने ही उसे अपना सखा बना लिया था। जो श्रद्धापूर्वक राम का नाम लेता है वह राम का सखा ही है। कौन सच्चा राम भक्त होगा जो उसको दुरदुरावे।

आगे चल कर भरतजी से जब उस गुह की भेंट हुई है वह प्रसङ्ग तो मनन करने ही लायक है—पंक्तियाँ सुनिये—

करत दण्डवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उरलाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ, प्रेमु न हृदय समाइ ॥
भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती ॥
धन्य धन्य धुनि मङ्गल मूला। सुर सराहि तेहि बरसहिं फूला ॥
लोक वेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा ॥
तेहि भरि अङ्क राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता ॥
राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पाप पुञ्ज समुहाहीं।
येहि तौ राम लाइ उरलीन्हा। कुल समेत जगु पावन कीन्हा।
करमनासु जलु सुरसरि परई। तेहि को कबहु सीस नहिं धरई ॥
उलटा नामु जपत जग जाना। बालमीकि भये ब्रह्म समाना ॥
स्वपच सबर खस जवन जड़, पाँवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात ॥

मनु ने कहा कि ब्रह्मण्यता के अदर्शन से और सत्क्रिया के लोप से कई भारतीय जातियाँ अभारतीय मान ली गईं। "शनकैस्तु किया लोपादिमाः क्षत्रिय जातयः, वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च। पौण्ड्रकाचौड्र द्रविड़ा काम्बोजाः यवनाः शकाः, पारदाः पह्लवाश्चीना किराताः दरदाः खशाः"। भागवतकार ने कहा वे ही अधिकांश जातियाँ भगवान का नाम ले ले कर फिर भारतीय कुटुम्ब में सम्मिलित हो गईं। "किरात हूणान्ध्र पुलिन्द पुक्कसाः आभीर कंका यवना खशादयः; अन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः"। गोस्वामीजी कहते हैं राम कहते ही (अर्थात् आज कल की शब्दावली में यों कहिए कि भारतीय आदर्श स्वीकार करते ही) नीच से नीच जातियाँ भी परम पावन होकर भुवन-विख्यात हो जाती हैं। फिर उन्हें अछूत समझना कैसा ?

भरत ही नहीं, वरन् नगर नर-नारी "निरखि निसादु नगर नर-नारी, भये सुखी जनु लखन निहारी। कहहिं लहेहु एहु जीवन लाहू, भेंटेउ रामभद्र भरि बाहू।" वशिष्ठजी उस समय तक कदाचित बहुत द्रवित न हुए थे। परन्तु जब राम लक्ष्मण से भेंट हुई और "मुनिवर धाइ लिए उर लाई, प्रेम उमँगि भेंटे दोउ भाई"। तब उसी प्रेम के प्रवाहपूर में "प्रेम पुलकि केवट कहिनामू, कीन्ह-दूरि ते दण्ड प्रणामू"। उस समय इस केवट (निषाद) से महर्षि वशिष्ठ जबरदस्ती गले लग पड़े।

राम सखा ऋषि बरबस भेंटा। जनु महि लुटत सनेहु समेटा ॥
रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहिं सुर बरसहिं फूला ॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ वशिष्ठ सम को जग माहीं ॥
जेहि लखि लखनहुँ तें अधिक, मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ।

बन से लौटने पर भगवान राम निषादराज को अयोध्या ले गये। वहाँ कुछ दिनों तक उसे रखा और जब बिदा की बेला आई तब ससम्मान यह कहते हुये विदा किया कि "जाहु भवन मम सुमिरन करेहू, मन क्रम वचन धरम अनुसरेहू। तुम मम सखा भरत सम भ्राता, सदा रहेहु पुर आवत जाता।" वन्य लोग मन-क्रम-वचन से धर्म का अनुसरण करते रहें और राजधानी की ओर आते जाते रहें तो निश्चित है कि नगर और ग्रामों की संस्कृति, नागरों और वन्यों की संस्कृति, उच्च और नोच जातीय कहाने वाले लोगों की संस्कृति, से तथा-कथित व्यवधान छिन्न-भिन्न हो जायँ और मानव-सौहार्द की वृद्धि से सब का सुन्दर सामूहिक सङ्गठन हो जाय। यह कार्य शिक्षक की वृत्ति अपनाने से नहीं होता किन्तु भ्रातृत्व भाव की प्रेमभरी वृत्ति अपनाने से होता है—"तुम मम सखा भरत सम भ्राता" का भाव रखने से होता है।

अब चित्रकूट के कोल-किरातों का प्रसङ्ग देखा जाय—गोस्वामीजी कहते हैं—

"राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय वचन सकल सन माने ॥
वेद वचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना एन।
वचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन ॥
रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा ॥
राम सकल वनचर तब तोसे। कहि मृदु वचन प्रेम परि पोषे ॥

परिणाम यह हुआ कि दुष्टों में भी हद दर्जे की शिष्टता आ गई। भरत को आते देख उन्होंने निष्कपट और निस्वार्थ पहुनाई की। उस समय की उनकी उक्ति सुनिये—

देव काह हम तुम्हहिं गोसाईं। ईंधनु पात किरात मिताई ॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चौराई ॥
हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥
पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं ॥
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ ॥
जब ते प्रभु पद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे ॥

वे कहते हैं कि उनमें राम का वह प्रभाव पड़ा कि उन्हें भी धर्म-बुद्धि आगई और कर्तव्य-ज्ञान हो गया। यही नहीं, उनके दुसह दुःख और दोष भी सब दूर हो गये। यदि वे उपेक्षित रहते तो उसी प्रकार वन्य बने रह जाते जैसे भारतीय पराधीनता के युग में हो गये थे और जिसकी थोड़ी सी झलक उनकी ही कही हुई उपर्युक्त उक्ति के आरम्भ की पंक्तियों में मिलती है।

शवरी का विवरण तो हम अन्यत्र दे आये है, अतएव यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

आगे चलकर किष्किन्धा के वानरों का प्रसंग देखा जाय। वानर का अर्थ समझिये वा—नर जिनको उनकी असभ्यता के कारण विकल्प से ही नर कह सकते हैं। वानर काम-प्रधान जीव थे और राक्षस क्रोध-प्रधान। परन्तु दोनों को मनुष्य मान लेना कुछ अनुचित न होगा। गोस्वामीजी ने उत्तरकांड में लिखा है—"हनुमदादि सब वानर बीरा, धरे मनोहर मनुज सरीरा।" आधिदैविक स्तर के सत्य में तो यह कहना ठीक ही है कि वे देवगण थे, बन्दर बनकर राम के सहायक हुए थे और इच्छानुकूल शरीर धारण कर लेने की अपनी शक्ति के कारण जब चाहे तब मनुष्य भी बन जाते थे। परन्तु आधि-भौतिक सत्य के स्तर में तो यही मानना होगा कि वे भी वन्य जातीय मानव थे जो युद्धादि के अवसरों पर वानरादि को आकृति का गणवेष धारण कर लिया करते थे। जैसे कुछ माड़िया गोंड़ अब भी नृत्यादि के अवसरों पर महिष की आकृति का गणवेश धारण कर लेते हैं।

उनकी काम प्रधानता इसी से स्पष्ट है कि बालि ने अपने छोटे भाई की स्त्री को छीन लिया (जो वन्य जातियों में भी वर्जित है) और सुग्रीव ने राज्य पाकर न केवल अपने बड़े भाई की स्त्री तारा को अपनी पत्नी बना लिया (जो वन्य जातियों में जायज है) किन्तु बिलासिता में इतना डूब गया कि राम और राम-कार्य की भी सुध भुलादी जिसके लिये उसे कड़ी डाँट खानी पड़ी। यह अवश्य है कि उस समाज में भी हनुमान के समान आदर्श चरित्रवान् व्यक्ति विद्यमान थे, परन्तु वे थे इने गिने ही, और उन्हें भी बानरराज बालि ने निकाल बाहर किया था। वानरों का अपना राज्य था, उनकी अपनी वीरता थी। अहम्मन्यता इतनी बढ़ी कि बालि में उसका प्रत्यक्ष नमूना देख लीजिये। बुद्धि की भाषा समझने के वे पात्र न थे। वे तो शक्ति की भाषा समझने के पात्र थे। प्रेम का भाषा तो खैर, पशु-पक्षी भी समझ लिया करते है, फिर वे क्यों न समझते।

राम का व्यवहार उनके प्रति अनेक ढङ्ग का रहा। बालि की त्रास से

सुग्रीव अपने साथियों सहित दुःखी था। दुःखी होने के कारण वह राम की निर्हेतुकी दया का पात्र बना। राम ने उसे अपना प्रेम दिया और उसके साथ मैत्री स्थापित की। यही नहीं, उसे आश्वस्त करने के लिये राम को उसके समक्ष अपनी शक्ति का भी प्रदर्शन करना पड़ा। बालि की निरंकुशता किष्किन्धा-वासियों की उन्नति के लिए व्यवधान रूप थी। उसने भारतीय नरेशों के विरुद्ध विदेशी लंकेश से संधि की थी। उसने अनुज वधू का हरण करके समाज में विश्रृङ्खलता का बीजारोपण किया था। उसने सुयोग्य सचिवों और बन्धु तक को निकाल बाहर किया था और राज महिषी तक की नेक सलाह पर ध्यान न दिया था। उसे अपनी शक्ति का अत्यधिक गर्व था। अतएव उसका उन्मूलन ही उचित था। सुग्रीव के पक्ष में राम के सान्निध्य की सूचना उसे मिल ही चुकी थी। राम से सन्मुख–समर होता तो सम्भव है कि अङ्गद आदि उपयोगी वीर भी स्वाहा हो जाते—जैसा महाभारत युद्ध में हुआ। अतएव राम ने वृक्ष की ओट से ही उसे समाप्त कर दिया। वह बधार्ह तो था ही, जैसे कि कई कुख्यात डाकू हुआ करते हैं। उनके लिए सन्मुख समर और आड़ का समर क्या है। राम सन्त ही नहीं थे, शासक भी तो थे। परन्तु शासक होते हुए भी उन्होंने बालि को अपने प्रेम से वंचित नहीं रखा।" "अचल करउँ तन राखउँ प्राना," उन्हीं की उक्ति है। प्रभुत्व की दृष्टि से तो उन्होंने बालि को भी अपना धाम दिया। जबकि मृत्यु से पूर्व उसमें पूर्ण सद्बुद्धि आ चुकी थी।

बालि बध के उपरान्त उनका उल्लेखनीय कार्य है अंगद को युवराज पद पर अभिषिक्त कराना। न तो उनके मन में साम्राज्य-लिप्सा रही कि जिसे हराये उसका राज्य हड़प कर जाये, और न व्यक्ति के अपराध के लिए वंश को दंड देने की प्रवृति रही कि बालि के कारण अंगद आदि भी दण्डित किये जायँ। मित्रता का निर्वाह भी वे धर्म की मर्यादा से बाँध कर रखना चाहते थे। अंगद का हक सुग्रीव के बच्चों को दिला देना सुग्रीव की मित्रता का अतिरंजन हो जाता। सुग्रीव को कोई हक न देते तो अंगद के प्रति उसका दुर्भाव बढ़ता जाता और फिर गृह-कलह होती। राम ने अतएव बड़ी सुन्दरता के साथ किष्किन्धा के राजघराने में सौमनस्य स्थापित कर दिया। राज्य पाकर सुग्रीव ने जब विलासी होकर अपना कर्तव्य तक भुला दिया और राम को रुष्ट हुआ जानकर लक्ष्मण भी धनुष बाण तानते हुए चले तब—

तब अनुजहिं समुझावा, रघुपति करुणा सींव।
भय दिखाइ लेइ आवहु, तात सखा सुग्रीव॥

यह है उनके हृदय की असीम करुणा। वे लक्ष्मण को याद दिलाते हैं

कि हे तात यह न भूलना कि सुग्रीव मेरा सखा हो चुका। अतएव उसे मारना नहीं, केवल भय दिखा कर सद्बुद्धि वाला बना लेना। राम की कौध-कर्कशता भी वैसी ही थी जैसी माता की अपने बच्चे के प्रति होती है। "जिमि सिसुतन ब्रन होइ गोसाईं; मातु चिराव कठिन को नाईं। यदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर, व्याधि नास हित जननी, गनइ न सो सिसु पीर"। हमें कबीरदासजी का निम्न दोहा इस प्रसंग में बरबस याद आ रहा है:—

गुरु कुम्हार सिख कुंभ है, गढ़ि गढ़ि काढ़त खोट।
भीतर कर अवलम्ब दै, ऊपर मारत चोट॥

इसका परिणाम इतना उत्तम हुआ कि सुग्रीव सदा के लिए सुधर गया, पूरे वानर समाज के लिए पूर्ण कल्याणकारी बन गया।

राम ने सुग्रीव को 'बहु प्रकार नृप-नीति सिखाई' थी। उन्होंने वानर श्रेष्ठ हनुमान जी ही को भक्ति का वह अमूल्य रहस्य समझने का अधिकारी माना था जो निम्न दोहे में निहित है :—

सो अनन्य अस, जाके मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त॥

सचराचर लोक की सेवा करना ही प्रभु का सेवन करना है। जो लोक सेवक है वही सच्चा ईश्वर भक्त है। अहम्मन्य कामुक वानर इन्हीं सब उपदेशों से भारतीय राष्ट्र के आभूषण स्वरूप बन गये।

वानरों की मनःस्थिति और राम के व्यवहार से उनमें जो सुधार हुआ उसका वर्णन बड़े सुन्दर काव्यमय ढङ्ग से गोस्वामीजी ने निम्न दोहे में किया है—

प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान।
तुलसी कतहुँ न राम से, साहेब सील निधान॥

'साहेब' शब्द में राम की 'क्रोध-कर्कशता' और 'सीलनिधान' शब्द में उनकी करुणासागरता निहित है। वे निग्रहकर्ता भी हैं, अनुग्रहकर्ता भी हैं। उन्होंने भय और प्रीति दोनों साधनों का यथा प्रसङ्ग प्रयोग करके वानर जाति को अपने प्रेम से आप्लावित कर दिया और उसे न केवल भारतीय मानव-समाज का उपयोगी अङ्ग बना दिया किन्तु साहेबी और शील-निधानत्व में अपने समान बना दिया। यह था राम का व्यवहार। पूर्व में कैसे उद्दण्ड थे वे वानर। ठीक बन्दरों की तरह भले मनुष्य की खोपड़ी पर चढ़ कर बैठने वाले अथवा मूलतत्व को छोड़कर शक्ति और स्वार्थ की शाखा प्रशाखाओं में भटकने वाले।

लङ्का से लौटते समय जब सब वानरों को राम ने विदा किया तब

उन्होंने प्रेम पूर्वक यही कहा कि 'निज निजगृह ग्रब तुम्ह सब जाहू; सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू'। ईश्वर को कभी न भूलना ग्रौर ग्रभय होकर इस संसार में रहना, यही इस उपदेश का सार है। प्रजातान्त्रिक भावना का कितना धर्म मय रूप भरा है इस उपदेश में।

ग्रब ग्रन्त में लङ्का के राक्षसों का प्रसङ्ग देखा जाय। ग्राधिदैविक स्तर के सत्य के राक्षस भिन्नयोनि के माने जा सकते है परन्तु ग्राधिभौतिक स्तर के राक्षस भी मानव ही कहे जा सक्ते हैं। उत्तर के ग्रनार्य कहाये यक्ष ग्रौर दक्षिण के ग्रनार्य कहाये रक्ष या राक्षस। दोनों की एक ही कोटि होने के कारण दोनों में भाई चारा भी मान लिया गया। कवि-कल्पना ने दशों भोग साधनों के उप-भोक्ता राक्षस राज के दस सिर बना दिये ग्रौर उसकी गर्दभी बुद्धि के संकेत के लिये ऊपर एक गधे का सिर भी बैठा दिया। गोस्वामीजी ने उन मनुष्यों को भी राक्षस कहा है 'जे ताकहिं पर धन पर दारा।' 'परद्रोही परदार रत पर धन पर ग्रपवाद, ते नर पांवर पापमय, देह धरे मनुजाद।' ऐसे राक्षसों की समृद्ध नगरी थी लङ्का में।

वहाँ का राजा रावण बड़ा बुद्धिवादी ग्रौर विज्ञानवादी था। इन्द्र ग्रादि प्राकृतिक शक्तियों पर उसने ग्रपना ग्राधिपत्य जमा रखा था ग्रौर एकतन्त्र समाजवाद के ग्रातङ्क से सब जगह का सोना खींच कर ग्रपने यहाँ भर लिया था। वह जाति तामसिकों की जाति थी। क्रोधियों की जाति थी। बात बात में किसी को मार डालना ग्रौर नर मांस तक खा जाना उनके लिये मामूली बात थी। वह समूल उन्मूलन के लायक जाति थी परन्तु राम ने उस जाति का भी समूल उन्मूलन नहीं किया यद्यपि उनको वस्तु स्थिति से प्रेरित होकर (राक्षसों की ग्र तुकी हिंसावृत्ति देख कर उनके द्वारा खाये हुए मानवों के ग्रस्थि समूह देख कर) प्रतिज्ञा ऐसी ही करनी पड़ी थी। वे वस्तुतः राक्षसत्व का उन्मूलन करना चाहते थे न कि राक्षसों का। राक्षसत्व गया तो समझिये कि राक्षस भी गये। फिर तो उस शरीर में विशुद्ध मानव ही रह जायगा। उनकी प्रतिज्ञा का ग्रसली ग्रभिप्राय यही था।

विभीषण भी राक्षस कुल का था परन्तु ज्यों ही वह राक्षस राज की लात खाकर राम की शरण ग्राया त्यों ही उन्होंने उसे ग्रपने प्रेम ग्रौर ग्रपनी कृपा से परिपूर्ण कर दिया। "रामेश्वर" की स्थापना करके उन्होंने पहिले ही मौन किन्तु प्रखर मुखर घोषणा कर ही दी थी कि उन्हें राक्षस जाति के ग्राध्यत्मिक ग्राराध्य के प्रति पूर्ण श्रद्धा है; उस जाति का केवल भौतिक ग्रनाचार उन्हें मान्य

नहीं है। विभीषण और उसके सचिवों ने ज्योंही रावण की दुर्नीति से अपना नाता तोड़ा त्योंहीं उन्होंने राम का पूर्ण सौहार्द पा लिया।

अपना तथा अपने दल का उदय (उत्कर्ष) हो और पर (विपक्षी अथवा विपक्षी दल) की ज्यानि (हानि) हो इतनी ही तो राजनीति है। आत्मोदयः परज्यानिः राजनीति रितीयती। राम ने 'उदय' को 'काज' में और 'ज्यानि' को 'हित' में परिवर्तित कर दिया। हमारा उद्देश पूरा हो (उत्कर्ष नहीं) और शत्रु का हित हो जाय (हानि नहीं) वही उनकी दृष्टि से सच्ची राजनीति थी।

काज हमार तासु हित होई, रिपुसन करेहु बतकही सोई।

"गोस्वामीजी ने शृङ्गबेरपुर को गाँव, किष्किन्धा को पुर और लङ्का को नगर की संज्ञा दी है। तीनों में तीन तरह के अनार्य रहते थे। तीनों प्रकार के अनार्यों को राम का भरपूर प्रेम मिला और जिन्होंने उस प्रेम को अपनाया वे सुसभ्य सद्गुणी नागरिक बन गये। राम ने उत्तरीय आर्यों के साथ उन सब का बड़ा सुन्दर समन्वय करा दिया।

अयोध्या पहुँच कर कुछ दिन रखने के बाद जब वे सुग्रीव विभीषण आदि को प्रेम पूर्वक बिदा करने लगे तब उन्होंने उनकी बड़ी प्रशंसा की और कहा—"अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहि दृढ़ नेम। सदा सरब गत सरब हित जानि करेहु अति प्रेम।" बड़ा अर्थ गर्भ दोहा है यह। यों तो अपने माधुर्यमय व्यवहार से उन्होंने दोनों का (सुग्रीव और विभीषण का) मन जीत लिया था और परामर्श में बिपरीत सलाहें पाने पर भो उनका दिल न दुखाते थे, परन्तु इस अन्तिम उपदेश में उन्होंने वह मन्त्र दिया जो भारतीय संस्कृति का सार है और जिस पर चलने से वानर तथा राक्षस कुल भी अन्य आर्य कुलों की भाँति उन्नत हो सकता था। यह अवतार के मुख से अपने व्यक्तित्व को पुजाने की घोषणा नही है किन्तु मानव व्यक्तित्व का असली स्वरूप समझा कर मनुष्य मात्र को साधना पथ पर लाने का प्रयत्न है। भजन के तीन अङ्ग हैं—कर्म (दृढ़ नेम) ज्ञान (जानि) और भक्ति (अति प्रेम)। भजनीय के भी तीन अङ्ग हैं—आधिभौतिक (मोहि) आधिदैविक (सरबहित) और आध्यात्मिक (सरबगत)। भजन की साधना ही जीव का सच्चा मुकाम है, वही उसका गृह है। दुनिया का भ्रमजाल तो उस के लिये भटकाने वालो राह है। उसे गृह जाहु कहने का अर्थ है उस साधना के स्थान पर पहुँचाने का उपदेश। उसका अधिकारी बनने के लिये जाति पाँति नीच ऊँच आदि का कोई भेद नहीं। अतएव जीव मात्र सब सखा ही हैं। यों भी जीव मात्र ईश्वर के सखा हैं।

राम का नाम व्यक्तिवाचक भी है, भाववाचक भी है। भारतीय उच्चतम भावनाओं की समष्टि है इसमें। "राम" का भजन करने वाला मनुष्य ऐतिहासिक राम को भारत का वन्दनीय महापुरुष मान कर उनके सद्‌गुणों के अनुसार अपना जीवन ढालना चाहेगा और आध्यात्मिक राम को संसार का परात्पर ध्येय मानकर अपना लोक परलोक सँवारना चाहेगा। वह हरिजन हो या गिरिजन हो या और कोई जन हो वह अछूत या दलित हो ही नहीं सकता। उससे अलगाहट रखना निःसंदेह अपने को संकीर्ण बनाना और राम के निर्दिष्ट पथ से अपने को विमुख करना है। "सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा, जो तनु पाइ भजिय रघुवीरा।"

राम की लीला (उनका व्यवहार)

(स्वजनों, पुरजनों, अरिजनों के प्रति)

प्रथम पाठों में हम नारियों तथा अन्त्यजों के सम्बन्ध में राम का व्यवहार कैसा था यह बता चुके हैं। इस पाठ में हम स्वजनों (स्वकुटुम्बियों । गुरुजनों, पुरजनों और अरिजनो के प्रति उनका व्यवहार कैसा था इसकी कुछ चर्चा करेंगे।

पहिले स्वजन समाज के सम्बन्ध का उनका व्यवहार देखिये। यों तो समग्र संसार ही उनका स्वजन था क्योंकि वे वसुधैव कुटुम्बकम् की नीति वाले थे, परन्तु हम यहाँ स्वजन शब्द को संकुचित अर्थ में ले रहे हैं और उसे केवल पिता-माता, भाई, पत्नी आदि तक सीमित कर रहे हैं।

राम का कथन है :

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु वचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोसनि हारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

× × × ×

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोदु चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके॥

× × × ×

गुरु पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहु कु-मग पग परहि न खालें॥

वह मानव-जीवन जीवन ही नहीं है जिसमें अनुशासन न हो और माता पिता, जो प्रायः निर्हेतुक हितू हुआ करते हैं और अपनी सद्भावनाओं का लाभ अपने बच्चों को सदैव देना चाहते हैं, उनकी इच्छा के अनुसार चलना अनुशासन का सब से बड़ा पाठ है। यदि वे स्नेहवश कोई उल्टी बात कहें तो प्रेम से उन्हें समझा लिया जाय परन्तु उनसे उद्दण्डता तो किसी हालत में न बरती जाय। यदि उनकी आज्ञा से चलने में कोई अनौचित्य भी हो जाता है तो दोष उन पर रह जाता है न कि आज्ञाकारी बालक पर। बालक का व्यवहार तो सदैव ऐसा हो कि उसे सुनकर पिता गद्गद् हो उठे। पुत्र ने यदि कोई बहादुरी का काम किया तो अपनी शक्ति पर गर्विष्ठ होने के बदले वह समझ लिया करे कि यह उसके पूर्वजों की ही तपस्या का फल है जैसा कि राम ने कहा "तात सकल तव पुण्य प्रभाऊ, जीतेउं अजय निसाचर राऊ।"

राम के पितृ प्रेम के समान ही राम का बन्धु प्रेम भी परम प्रसिद्ध है। यदि यौवराज्य के समय उनके मङ्गल सूचक अङ्ग फड़कते हैं तो वे यही समझ लेते हैं कि भरत आ रहे होंगे। 'भरत आगमन सूचक अहहीं'। यदि उनका अभिषेक होने लगता है तो वे यही कह उठते हैं कि "विमल बंस यह अनुचित एकू, बन्धु बिहाइ बड़ेहिं अभिसेकू'। भरत के लिये कितना प्रेम था उनके मनमें यह चित्रकूट के भरत मिलाप के अवसर पर देखिये अथवा उन वाक्यों में देखिये जो उन्होंने लङ्का से चलते समय विभीषण से कहे थे। लक्ष्मण के लिये उनका कितना अगाध स्नेह था, वह जब लक्ष्मण को शक्ति लगी और वे मूर्च्छित पड़े थे उस प्रसङ्ग पर देखिये। सहज धैर्यवान् भी अधीर होकर चिल्ला उठे 'सुत बित नारि भवन परिवारा, होहिं जाहिं जग बारहिं बारा। अस बिचारि जिय जागहु ताता, मिलइ न जगत सहोदर भ्राता'। मति-भ्रष्ट की भाँति यहाँ लक्ष्मण को सहोदर कह देना कितना अर्थ गर्भ हो उठा है। कहाँ है आज वह भ्रातृभाव। राम के भक्तों की सार्थकता तभी है जब राम के इस आदर्श पर चला जाय।

राम के दाम्पत्य के विषय में तो फिर कहना ही क्या है। जिस प्रकार आदर्श पत्नी सीताजी थीं, ("आरज सुत पद कमल बिनु बादि जहाँ लगि नात" अथवा "निजकर गृह परिचरजा करई, रामचन्द्र आयसु अनुसरई") उसी प्रकार आदर्श पति रामजी थे जिनके आदर्श का प्रभाव सारी अयोध्या पर ऐसा पड़ा कि "एक नारि ब्रत रत सब झारी" हो गये। कवि ने इसीलिये तो कहा है कि वे दोनों "गिरा अर्थ जलबीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न" हैं। सीता को राम ने सदैव सम्मान ही दिया, चाहे वह राजधानी हो चाहे वन हो। "एक बार चुनि कुसुम सुहाये, निजकर भूषण राम बनाये। सीतहिं पहिराये प्रभु सादर, बैठे फटिक सिला परमादर" और उनके अपमान करने वाले का पूरा निग्रह किया चाहे वह देवराज इन्द्रपुत्र हो चाहे राक्षस राज रावण ही हो। परन्तु अपने अनन्यप्रेम को भी उन्होने कर्तव्य के कठोर मार्ग की मर्यादा भंग करने वाला कभी न होने दिया। दुर्वाद कहने में भी न चूके और सब के सामने सीता जी की अग्नि परीक्षा तक हो जाने दी। आज कल के विचारकों को इस प्रकार की अग्नि परीक्षा अटपटी सी लगेगी। परन्तु इसका औचित्य देखना हो तो बीसवीं सदी के हम दुबल मनुष्यों की दृष्टि से नहीं किन्तु राम और सीता के समान कर्तव्य शूर धर्मध्वज व्रतनिष्ठों की दृष्टि से देखा जाय। हमारे लिये इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि दाम्पत्य प्रेम की पूर्णता इसी में है कि वह मानव जीवन के कर्तव्यों का बाधक नहीं किन्तु साधक होकर आगे बढ़े। असली दाम्पत्य प्रेम दो देहों का नहीं किन्तु दो जीवों अथवा दो आत्माओं का मिलन

है जिसमें देह का विच्छेद कोई मूल्य नहीं रखता और जिसमें जीव के भौतिक सुख की अपूर्णता ब्रह्म के आध्यात्मिक आनन्द की पूर्णता के रस बिन्दु अनायास पा जाती है।

राम सीता और लक्ष्मण का पारस्परिक स्निग्ध व्यवहार निम्न पंक्तियों में देख लीजिये और गोस्वामीजी की दी हुई उपमाओं के सहारे उस भाव के रसास्वादन का प्रयत्न कीजिये—

सीय लखनु जेहि विधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं।
कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लखनु सिय अति सुख मानी॥
जब जब राम अवध सुधि करहीं। तब तब बारि विलोचन भरहीं॥
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत सनेह सील सेवकाई॥
कृपा सिन्धु प्रभु होंहि दुखारी। धीरज धरहिं कुसमउ विचारी॥
लखि सिय लखनु विकल होइ जाहीं। जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं॥
प्रिया बन्धु गति लखि रघुनन्दनु। धीर कृपालु भगत उर चन्दनु॥
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुख लहहिं लखन अरु सीता॥
राम लखन सीता सहित, सोहत परन निकेत।
जिमि वासव बस अमरपुर, सची जयन्त समेत॥
जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसे। पलक विलोचन गोलक जैसे॥
सेवहिं लखन सीय रघुवीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥

आज कल के वे कुटुम्बी जो एक ही घर में रहकर भी एक दूसरे से बेगाने बने रहते हैं और परस्पर बात तक नहीं करते, ऊपर की पंक्तियों के अनुकूल अपने को ढाल लें तो निश्चय ही पर्णकुटी को भी इन्द्र-भवन की तरह सुखप्रद बना डालें।

अब गुरुजन समाज के सम्बन्ध में राम का व्यवहार देखिये। गोस्वामीजी के मत में गुरु वह है जो शिष्य का धन नहीं किन्तु उसका शोक—उसका त्रिताप दूर करे। जो इसके विपरीत आचरण करता है वह नारकी है।" हरइ शिष्य धन शोक न हरई, सो गुरु घोर नरक महँ परई।" वे फीस लेकर ज्ञान देना अथवा स्वार्थ साधन के लिये गुरुधर्म का पालन करना सर्वथा अनुचित मानते थे। (बेचहि वेद, धर्म दुहिलेहीं)। अतएव आजकल के शिक्षकों और पुराने गुरुओं में बड़ा अन्तर समझिये। परन्तु फिर भी वर्तमान शिक्षकों में भी अनेक सज्जन ऐसे हैं जो अपना लोक व्यवहार निभाते हुये भी शिष्यों के हितचिन्तक रहा करते हैं। अतएव छात्रों को तो अपने व्यवहार की शिक्षा के लिये राम के वे आचरण देखना ही चाहिये जो उन्होंने वशिष्ठ और विश्वामित्र सरीखे महानु-

भावों के प्रति दर्शाये हैं। छात्रों की उद्दण्डता उन्हीं का भविष्य बिगाड़ने वाली हो सकती है। अतएव वे अपने कर्तव्य से क्यों चूकें।

विश्वामित्र और वशिष्ठ राम के शस्त्र तथा शास्त्र गुरू थे। राम को यह अभिमान नहीं था कि वे चक्रवर्ती के पुत्र हैं अतएव विश्वामित्र के पैर क्यों दबाएँ। वे गुरू से कोई दुर्भाव न रखते थे। सीता के प्रति जो उनका आकर्षण हुआ वह भी उन्होंने निश्छल भाव से गुरू के सन्मुख प्रकट कर दिया—

"राम कहा सब कौशिक पाहीं, सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं।"

उन्होंने धनुष उठाने का तभी प्रयत्न किया जब उन्हें गुरू का स्पष्ट आदेश मिला। और फिर गुरुहिं प्रणाम मनहिं मन कीन्हा, अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा।" जिस समय बरात के साथ उनके पिताजी आये उस समय "पितु आगमन सुनत दोउ भाई, हृदय न अति आनन्द समाई, सकुचन्ह कहि न सकत गुरू पाहीं, पितु दरसन लालच मन माहीं। विश्वामित्र बिनय बड़ि देखी, उपजा उर सन्तोष विसेखी!" यह था उनका अनुकरणीय शील।

यौवराज्य के समय जब वशिष्ठजी "राम धाम सिख देन पठाये" गये थे तब का राम का व्यवहार देखिये :—

गुरु आगमनु सुनत रघुनाथा, द्वार आइ पद नायेउ माथा।
सादर अरघ देइ घर आने, सोरह भाँति पूजि सनमाने।
गहे चरन सिय सहित बहोरी, बोले राम कमल कर जोरी।
सेवक सदन स्वामि आगमनूँ, मङ्गल मूल अमङ्गल दमनू।
तदपि उचित जन बोलि सप्रीती, पठइय काज नाथ असि नीती।
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू, भयउ पुनीत आज यह गेहू।
आयसु होइ सो करउँ गोसाईं, सेवक लहइ स्वामि सेवकाई।

यह है राम की अनुकरणीय नम्रता। वशिष्ठ और विश्वामित्र ही नहीं, अत्रि और सनकादि के समक्ष भी उन्होंने यही नम्रता दर्शाई है। चित्रकूट अत्रि के आश्रम के क्षेत्र में था। अतएव वहाँ से विदा होते समय वे कहते हैं "आयसु होइ जाउँ बन आगे, सन्तत मो पर कृपा करेहू, सेवकु जानि तजेहु जनि नेहू।" सनकादि के आगमन पर "कर गहि प्रभु मुनिवर बैठारे, परम मनोहर वचन उचारे। आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा, तुम्हारे दरस जाहि अघ खीसा। बड़े भाग पाइय सत संगा"। इन विमम्र वचनों ने राम के शील को चार चाँद लगा दिये। 'कागा काको लेत है; कोयल काको देत; मीठे वचन सुनाय के जग बस में कर लेत।'

पुरजन और परिजन समाज के सम्बन्ध में भी राम का व्यवहार सदा अनुकरणीय था। वे किसी का दिल दुखाना जानते ही न थे। पुरजनों को

उपदेश भी देते हैं तो कहते हैं—नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई, सुनहु करहु जो तुम्हहिं सुहाई।" कैसी खुली छूट थी। तानाशाही के सर्वथा विपरीत प्रजातान्त्रिक पद्धति के सर्वथा अनुकूल। बाल सखाओं से मिलते हैं तो उनके मुँह से सहज ही निकल पड़ता है" को रघुवीर सरिस संसारा, सील सनेहु निबाहनिहारा।" जनकपुरी में पहुँचते हैं तो मालियों से बिना पूछे पूजा के लिये फूल नहीं तोड़ते। बालकों का आग्रह देखते हैं तो हर एक के घर पहुँच जाते हैं। "निज निज रुचि सब लेहिं बुलाई, सहित सनेह जाहिं दोउ भाई।" सास से विदा मांगना है तो हाथ जोड़कर विदा माँगते हैं। वनवास जाने लगते हैं तो

कहि प्रिय वचन सकल समुझाये, विप्र वृन्द रघुवीर बोलाये।
गुरू सन कहि बरसासन दीन्हे, आदर दान विनय बस कीन्हे।
जाचक दान मान सन्तोसे, भीत पुनीत प्रेम परितोसे।
दासी दास बोलाय बहोरी, गुरुहिं सौंपि बोले कर जोरी।
सब के सार संभार गोसाईं, करबि जनक जननी की नाईं।
बारहिं बार जोरि जुग पानी, कहत राम सब सन मृदु बानी।
सोइ सब भाँति मोर हितकारी, जेहिते रहहिं भुआल सुखारी।
मातु सकल मोरे बिरह, जेहि न होइ दुख दीन।
सोइ उपाइ तुम्ह करेहु सब, पुरजन परम प्रवीन॥

जो बिना दाम के चेरे हो गये थे उन्हें राम ने सर आँखों पर लिया। "अस कपि एक न सेना माही, राम कुशल पूछी नहिं जाही।" राम काज में प्राण होमने वाले जरठ जटायु को उन्होंने पिता तुल्य माना। विभीषण और सुग्रीव के समान जो शासक वर्ग के थे उन्हें उन्होंने भरत से बढ़कर माना और हनुमान के समान जो सेवक वर्ग के थे उन्हें लक्ष्मण से दूना प्रिय कहा। राज्याभिषेक के समय अपने साज शृङ्गार के पहिले उन्होंने अपने इन सखाओं का स्मरण किया। "राम कहा सेवकन्ह बुलाई, प्रथम सबन्ह अन्हवावहु जाई। सुनत वचन जहँ तहँ जन धाये सुग्रीवादि तुरत अन्हवाये। पुनि करुनानिधि भरत हंकारे, निज कर राम जटा निरुवारे। अन्हवाये पुनि तीनिउ भाई, भगत बछल कृपालु रघुराई। भरत भाग्य प्रभु कोमलताई सेष कोटि सत सकहिं न गाई। पुनि निज जटा राम बिवराये, गुरू अनुसासन मांगि नहाये।"

अपनी जन्म भूमि और उसके निवासियों के प्रति उनका इतना अगाध प्रेम था कि वे कह ही तो बैठे—

"जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना वेद पुरान विदित जग्रु जाना।
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ।"

जनम भूमि मम पुरी सुहावनि । उत्तर दिसि बह सरजू पावनि ॥

× × × ×

अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी । मम धामदा पुरी सुखरासी ॥

कुमार राम की दिनचर्या में देखिये गोस्वामीजी ने क्या कहा है—

"अनुज सखा सँग भोजन करहीं । मातु पिता अग्या अनुसरहीं ॥
जेहि बिधि सुखी होंहिं पुर लोगा । करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा ॥
वेद पुरान सुनहिं मनलाई । आपु कहहिं अनुजन्हि समुझाई ॥
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहिं माथा ॥
आयसु माँगि करहिं पुरकाजा । देखि चरित हरषइँ मन राजा ॥"

इस दिनचर्या का एक-एक शब्द ध्यान देने योग्य है । युवकों को तो इसकी एक-एक पंक्ति अपने जीवन में उतार लेनी चाहिये । धन्य है वह जो दूसरों को खिला कर खाता है । धन्य है वह जो माता-पिता का आज्ञानुवर्ती है । धन्य है वह जो अपने देशवासियों को सुखी बनाने वाले संयोग उपस्थित करता रहता है । धन्य है वह जो अपनी संस्कृति के निर्देशक ग्रन्थों का मनन करता और कराता है । धन्य है वह जो ब्राह्म मुहूर्त में उठकर गुरुजनों के पद वन्दन करता और उनसे प्रेरणा पाकर अपने दैनिक कार्यों में ईमानदारी के साथ जुट जाता है ।

राम का अरिजन-समाज के सम्बन्ध का व्यवहार भी दर्शनीय है । यदि एक ओर वे खरदूषण को करारी फटकार देते हुए कहते हैं "रन चढ़ि करिय कपट चतुराई । रिपु पर कृपा परम कदराई ॥" तो दूसरी ओर रावण से "जलपसि जनि देखाउ मनुसाई" कहते हुए भी कह देते हैं "नीति सुनहि करहि छमा ।" किस नम्रता के साथ नीति का निवेदन किया जा रहा है । बातूनी बालि को उन्होंने जिस प्रकार निरुत्तर किया है वह देखने ही लायक है । और जब बालि का अभिमान टूटा तब उसकी अति कोमल बानी सुनकर राम उसे अमरत्व तक देने को तैयार होगये । इस औदार्य की भी हद हो गई । जिस रावण के सम्बन्ध में रोष के साथ साथ उन्होंने मरणोन्मुख जटायु से कहा था "सीता हरन तात जनि कहेउ पिता सन जाइ । जो मैं राम तो कुल सहित कहिहि दसासन आइ ।" उसी के पास जब अंगद दूत बनाकर भेजे जाते हैं तो राम कहते हैं "काज हमार तासु हित होई । रिपुमन करेहु बतकही सोई ।" अपना कार्य पूरा हो, कर्तव्य कर्म पूरा हो, और विपक्षी का उन्मूलन नहीं किन्तु उसका सच्चा हित हो जाय, यह राजनीति रहनी चाहिये । इसी राजनीति से राम आगे बढ़े । रावण तो नष्ट होने वाला था इसलिये वह नष्ट हुआ परन्तु राम ने

बैर विरोध को मर्यादा से आगे बढ़ने न दिया। रावण के मरते ही उन्होंने विभीषण को आदेश दिया 'करहु क्रिया परिहरि सब सोकू।' रावण का यथोचित क्रिया-कर्म किया गया। बाल्मीकि के राम ने भी कहा है—'मरणान्तानि वैराणि, निवृतंनः प्रयोजनम् क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथातव'। विभीषण! हमारा प्रयोजन पूर्ण हुआ। अब तो इस रावण के मृत शरीर का पूरे विधान से क्रिया कर्म करो क्योंकि अब यह हमारा भी वैसा ही बन्धु है जैसा तुम्हारा। बैर तो मृत्यु पर्यन्त ही रहता है। मृत्यु के साथ ही विरोध का भी अन्त समझ लिया जाना चाहिये।

यह था राजनीति के क्षेत्र में राम का व्यवहार। यह था अरिजनों के प्रति राम का व्यवहार।

राम की लीला (उनका व्यवहार)

(भक्तजनों के प्रति)

इतिहास के अनुसन्धान की सामग्रियाँ हैं भवनों के भग्नावशेष, सिक्के, ताम्रपत्र, लेख, साहित्य, जनश्रुति, वंश परम्परा, इ० इ०। कृष्ण की ऐतिहासिकता अब प्रायः असंदिग्ध हो चुकी है और वे लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व के कहे जाते हैं। प्रत्येक उपलब्ध प्रमाण द्वारा राम तो कृष्ण के भी पूर्व के ही माने जाते हैं। अतएव इतने प्राचीन काल की जो सामग्रियाँ उपलब्ध होंगी उनमें वंशपरम्परा, स्थानिक ख्याति और जनश्रुतियों पर आधारित साहित्यिक परम्परा का ही प्राधान्य होगा। ये वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में आज भी उपलब्ध हैं जो दाशरथि राम को इस भारत का ऐतिहासिक महापुरुष तो घोषित कर ही रही हैं।

परन्तु भक्त-हृदय को तो एक इष्टदेव चाहिये न कि केवल एक ऐतिहासिक महापुरुष। कोई भी मनुष्य चाहे वह कितना भी बड़ा क्यों न हो, एकदम सर्वशक्तिमान नहीं कहा जा सकता। सर्वशक्तिमान तो केवल परमात्मा ही होता है। महापुरुष लोग जीव की उत्क्रान्ति में सहायक हो सकते हैं। वे बहुत दूर तक भी सहायता कर सकते हैं। सन्तों, सद्गुरुओं, पीरों, पैगम्बरों का इसीलिये इतना मान है। परन्तु उन्हें परमात्मा का दर्जा तो नहीं दिया जा सकता। उनमें से यदि किसी ने किसी को परमात्मा माना तो समझिये कि उसने उस व्यक्तित्व की आड़ से इष्टदेव की ही उपासना की है। इष्टदेव अपनी-अपनी कल्पना की वस्तु है। परन्तु वह ऐसी कल्पना है जो सत्य का प्रधान अंग है क्योंकि उसके द्वारा ही जीव का सर्वाङ्ग सम्पूर्ण विकास हो सकता है। अतएव उसी के शरणागत होना साधक के लिये अथवा भक्त के लिये सब प्रकार वांछनीय है।

महापुरुष देशकाल पात्र की सीमाओं से बँधा रहता है, इष्टदेव सब कहीं सब समय विद्यमान रह सकता है। उसकी शक्तियों की सीमाएँ मानी ही नहीं जा सकती। वह असम्भव को सम्भव कर दिखा सकता है और जब चाहे तब अपनी असाधारणता प्रकट कर सकता है। उसकी इसी असाधारणता के कारण भक्त-हृदय के श्रद्धाविश्वास उसकी ओर दृढ़ होते जाते और उसे जीवित जाग्रत सहायक के रूप में सामने उपस्थित करते जाते हैं। इष्टदेव को मनुष्य ही मानकर आगे बढ़ने वाला साधक श्रद्धाविश्वास के वे फल नहीं प्राप्त कर सकता जो उसे

असाधारण तथा सर्वशक्तिमान मानकर आगे बढ़ने वाला साधक प्राप्त कर सकता है। राम को जिसने मनुष्य मात्र समझा वह उनके व्यवहार के अनुशीलन से लाभ तो उठावेगा परन्तु उतना लाभ नहीं जितना कि उन्हें इष्टदेव मानकर बढ़ने वाला व्यक्ति उठा सकता है। उन्हें इष्टदेव मानना न मानना अपनी इच्छा पर निर्भर है। जिसने कोई दूसरा इष्टदेव चुन लिया है वह राम को भले ही केवल मात्र महापुरुष मान ले, परन्तु भारतीय वैष्णव परम्परा में प्रायः सभी लोग ऐसे हैं जो उन्हें इष्टदेव अथवा इष्टदेव के प्रतिरूप मानने के लिये सर्वथा तत्पर हैं। ऐसे लोगों के लिये गोस्वामीजी ने राम के अलौकिक व्यवहार का अच्छा चित्रण किया है। गोस्वामीजी के इष्टदेव तो वे थे ही। इसलिये गोस्वामी जी ने वह चित्रण बड़ी तन्मयता और बड़ी सफलता के साथ किया है।

अध्यात्म पक्ष में निर्गुण की न तो कोई लीला हो हो सकती है न उसका कोई व्यवहार ही। सगुण के विराट रूप का व्यवहार तो हम क्षण-क्षण में सब कहीं देख सकते हैं इसलिए उसकी कोई खास लीलाएँ नहीं। सगुण के निराकार रूप की लीलाएँ विचार जगत् में भी देखी जा सकती हैं और भाव-जगत में भी। इस दृष्टि से राम-लीला को हम एक बढ़िया रूपक मान सकते हैं। राम रावण युद्ध महतस्वार्थ [विश्वकल्याण] और क्षुद्रस्वार्थ [महामोह] का द्वन्द्व है जिनके बीच सीतारूपिणी शान्ति-समृद्धि के लिए सङ्घर्ष हुआ करता है। अथवा यों कहिए कि वपुष ब्रह्माण्ड के प्रवृत्ति रूपी लङ्का दुर्ग में मोह दशमौलि का साम्राज्य है। ज्ञान और भक्तिरूपी दशरथ और कौसल्या की तपस्या के फलस्वरूप ही परमात्मज्योति का उदय होता है जिससे मोह का विध्वंस होता और जीवात्मा रूपी विभीषण का उद्धार होता है। गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में इसी रूपक का चित्रण किया है [देखिए पद सं० ५८]। अथवा यों कहिये कि सीता जीवात्मा है और राम परमात्मा है जिनके मिलन का रूपक जनक-वाटिका में अङ्कित है। अपने-अपने विचारों और भावों के अनुसार विचारक अथवा भावुक लोग सगुण निराकार ब्रह्म के घट-घट व्यापी व्यवहार का दर्शन राम कथा के रूपक में पाकर अपने को कृतकृत्य बना सकते हैं।

अब रही सगुण साकार रूप की लीलाएँ अर्थात् व्यक्तित्व विशिष्ट इष्टदेव की लीलाएँ, सो गोस्वामीजी के मानस में उन्हीं का तो प्रधानतया वर्णन है। लीला-शब्द बड़ा अर्थगर्भ है। 'कर्म' में अपूर्णता के भाव की किसी न किसी प्रकार की व्यञ्जना रहती ही है। उसका कुछ उद्देश्य होता है जिसकी प्राप्ति के बिना कर्ता उस अंश तक एक प्रकार से अपूर्ण ही है। किन्तु 'लीला' का उद्देश्य

केवल मात्र लीला का आनन्द ही है। वह पूर्ण की ही एक तरङ्ग मात्र है। इसीलिये इष्टदेव के चरित्रों और उनके व्यवहारों को लीला ही कहा गया है। नारीजनों, हरिजनों गिरिजनों आदि के प्रति मानव राम के व्यवहार कैसे थे यह हम पहिले के परिच्छेदों में देख आये हैं। अब अपने भक्त जनों के प्रति इष्ट-देव राम के व्यवहार कैसे रहे हैं इसकी झलक इस परिच्छेद में देख ली जाय।

मनुष्य का भक्त मनुष्यता की मर्यादा से ही आराध्य के व्यवहार का अनुशीलन करेगा। अतएव जहाँ कहीं उसे अलौकिकता या मानव कल्पित नैतिकता की मर्यादा का अतिक्रमण जान पड़ेगा वहीं उसकी तर्क बुद्धि जाग्रत् हो उठेगी और वह हृदग्र से हटकर मस्तिष्क पर आ विराजेगा। इष्टदेव का भक्त आराध्य की अलौकिकता को तो पहिले ही मानकर चलेगा। वह यदि उसमें मानवी कष्टों अथवा श्रमसाध्य कृत्यों को देखेगा तो विपर्यय जनित सौन्दर्य से विभोर होकर कह उठेगा 'इतने महान प्रभु ऐसी भी लीला कर रहे हैं। क्या कौतुक है !' यदि वह निग्रह का कृत्य देखेगा तो उसमें भी अनुग्रह को छटा सो पावेगा। वह चरित्रों के औचित्य पर बहस न करके उन्हें भव-सन्तरण के लिये भाव संवर्धक मानकर उनसे दिव्य रस प्राप्ति की कामना ही रखेगा। यही तो वांछनीय है। भक्तों ने इसीलिये तो समझा कि इष्टदेव का नरावतार होता है अपनी पूर्ण अलौकिकता के साथ।' वह केवल दुष्टों के प्रति निग्रह और शिष्टों के प्रति अनुग्रह द्वारा धर्म-संस्थापन के लिये ही नहीं होता किन्तु ऐसे विशद सुयश विस्तार के लिये भी होता है जिसे गा गा कर भक्त लोग भव सन्तरण कर जायँ। "सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं, कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं।" गोस्वामीजी के इष्टदेव परम सामर्थ्यवान हैं, देवों से भी बड़े और साथ ही परमशरण्य होकर क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति के लिये भी बड़े ही निर्हेतुक कृपा शील, यह बताना गोस्वामीजी का मुख्य अभीष्ट था। गोस्वामी जी की राम कथा इसी धारा पर चलती है अतएव उनके राम भक्तों के प्रति जो व्यवहार रहा है उसे इसी विशिष्ट दृष्टि से देखना चाहिये। मानस में तो राम और राम भक्तों के अतिरिक्त और किसी की चर्चा ही नहीं है।

सब से पहले राम का व्यवहार सती के प्रति देखिये। राम थे देवादिदेव शंकर के आराध्य। उन्हीं शंकर की अर्धाङ्गिनी, जो स्वतः जगदम्बिका थीं, एक बार अपने इष्ट के भी इष्ट (राम) के विषय में शंका कर बैठी। इस शंका ने मोह का रूप धारण कर लिया। तब' निज माया बल हृदय बखानी, बोले विहँसि राम मृदु बानी।" राम को भी अपनी इस माया के बल का मन ही मन बखान करना पड़ा। यह माया उनकी बड़ी अद्‍भुत आचिन्त्य शक्ति है। वे स्वतः मोह नहीं उत्पन्न कराते परन्तु अचिन्त्य शक्तिमती माया के कारण मोह उत्पन्न हो जाता है।

इस मोह के लिये राम पर दोष मढ़ना व्यर्थ है। है तो यह बड़ी अद्भुत बात, परन्तु व्यवहार में यही मानकर चलने से कल्याण है। बन्धन मिलता है माया के कारण और मुक्ति मिलती है इष्टदेव राम के अनुग्रह के कारण।

उस माया पर राम ने पहिले ही से अंकुश क्यों नहीं लगाया, इस ऊहा-पोह में कोई विशेष सार नहीं है। वह जीवों के पूर्व कर्मानुसार अपने पाश प्रस्तुत करती है अथवा इष्टदेव के कुतूहल के लिये मोह का सृजन कर देती है, यह बात हम लोग क्या समझें। भगवान की लीला तो भगवान ही जानें। हमें तो उनके निर्हेतुक अनुग्रह के विश्वासी बन कर उसी की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। अस्तु सती का कपट तो राम से छिपा न रह सका इसलिये वे लज्जित भी हुईं परन्तु राम का प्रभाव देखे बिना यों ही लौट जाने में उन्हें दुःख जान पड़ने लगा। तब प्रभु ने उन्हें अपना प्रभाव भी दिखला दिया। यह राम का अनुग्रह ही था। कालान्तर में जब सती का प्रायश्चित पूर्ण होगया तब राम ने ही अनुग्रह पूर्वक शिव से कहा "अब विनती मम सुनहु सिव, जो मोपर निज नेहु, जाइ बिबावहु सैलजहिं, यह मोहिं माँगे देहु'। कैसा अपूर्व अनुग्रह था यह उनका।

फिर राम का व्यवहार मनु शतरूपा के प्रति देखिये। जगत पिता के भी बाप बनने की इच्छा की उन्होंने और राम ने उनकी वह इच्छा भी पूर्ण की। उन्होंने कहा सुत बनकर "करिहउँ चरित भगत सुखदाता, जेहि सुनि सादर नर बड़ भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥" वे अलौकिक ढंग पर अवतीर्ण हुए। यज्ञ की हवि के द्वारा और 'निज आयुध भुज चारी' लेकर। फिर माता ने 'इहाँ उहाँ दुइ बालक' का चमत्कार देखा और उस छोटे से बाल वपु में रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड' के दर्शन किये। क्या प्रमाण हैं कि राम के चरित्र में ऐसी कोई अलौकिकता नहीं घटी थी! वह कोरा नर-चरित्र तो था ही नहीं। उस दिव्य चरित्र में यह सब कुछ सम्भव था। माता पर विशेष अनुग्रह करके ही भगवान ने विश्वरूप दर्शन कराया था क्योंकि शत-रूपा ने विवेक का भी तो वरदान माँगा था।

आगे चलिये। ताड़का मारी गई। वह क्रोध का प्रतिरूप होकर आत-तायिनी हो रही थी। 'क्रोध करि धाई'। भयङ्कर राक्षसों की उस जन्मस्थली का प्रभु ने एक ही बाण में शोषण कर लिया। परन्तु 'दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।' यह था उनका निग्रहानुग्रह। जगद् व्यवस्था की दृष्टि से दण्ड्य को दण्डित करते हुए भी उसे निजपद देने में वे इतने अनुग्रहपूर्ण हो जाते हैं। रावण तक का वध करके उन्होंने उस पर अनुग्रह ही किया! जब शत्रु या दुष्ट

के लिये उनके मन में इतना अनुग्रह है तब मित्र अथवा शिष्ट के लिये वह कितना न होगा। उनकी ओर अभिमुख होकर कोई भी इस बात की परीक्षा करले। यह गोस्वामीजी का दावा है। पाषाणी गौतम नारी, अन्त्यज गुह निषाद और शवरी, तपस्वी शरभंग, सुतीक्ष्ण आदि और विरोधी विराध कबन्ध आदि सब के पास प्रभु स्वयं पहुँचे और उन्हें शरण देकर अपने कारुण्य से परिपूर्ण किया। आमिषभोजी जरठ जटायु तक भी चतुर्भुजी विष्णु रूप बन गया उनके प्रभाव से।

जो देवराज इन्द्र के पुत्र जयन्त तक को सीतापमान के लिये दण्डित कर सकते थे वे क्या रावण द्वारा सीता का अपहरण एक क्षण को भी सह सकते। यह तो उनकी ललित नर लीला थी जिससे उन्होंने सीता को तो अग्नि में अलक्षित करा दिया और छाया सीता का अपहरण कराकर इधर उधर भटकते फिरे। यह भटकना उनका एक दिखावा मात्र था। जो विरहावस्था में भी नारद को काम-विजय समझा सके उसे क्या कहियेगा?

काम की प्रतीक सूर्पणखा पर भी प्रभु का अनुग्रह ही हुआ अन्यथा उसमें यह बुद्धि कैसे उपजती कि रावण की सभा में नैतिकता की वक्तृता झाड़ सके और 'प्रभुहिं समर्पे विनु सतकर्मा' सरीखी बात कह सके। खरदूषण युद्ध में और लङ्का के युद्ध में भी राम ने राक्षसी माया के विध्वंसन में कितनी दिव्य शक्तियाँ दिखाई हैं। तभी तो इन्द्र शिव प्रभृति सभी देवों ने आकर उनकी वन्दना की और उन्हें इतना महत्त्व दिया। सर्वदेवाभि वन्दनीय होकर भी उन्होंने निशाचरों तक को सद्गति दी। बालि सदृश वीरों और समुद्र सदृश शक्तियों का उन्होंने निग्रह भी किया और फिर उन पर अनुग्रह भी किया। विभीषण शरणागति तो उनके अनुग्रह का एक बहुत ज्वलन्त उदाहरण है।

कहाँ स्वयंप्रभा और कहाँ सम्पाती। परन्तु वे रामभक्तों के ही दर्शन-मात्र से कृतार्थ होगये। राम तो राम हैं रामभक्तों तक में भी वह सामर्थ्य आ गया कि जिसका कोई हिसाब नहीं। 'सीम कि चापि सकइ कोइ तासू, बड़ रख-वार रमापति जासू'। लंका में हनुमान और अंगद के दूत कार्य देख लिये जायँ, समुद्र पर पत्थरों का सन्तरण देख लिया जाय, काकभुशुण्डिजी का चिरजीवन और उनकी अप्रतिहत गति देख ली जाय।

जीव न तो एक से अनेक हो सकता है और न प्रकृति के धर्मों को बदल सकता है राम अपनी लीला में अमित रूप भी हो गये थे और पंचतत्वों के धर्म बदल कर अपना अलौकिकत्त्व भी दिखा चुके थे। फिर भावुक भक्त उन्हें कोरा मनुष्य कैसे मान सकता है। अतएव क्या आश्चर्य यदि उनके विवाह में 'विधिहिं भयउ आचरजु बिसेखी, निज करनी कछु कतहुँ न देखी' और सभी

देव देवियों ने कपट नरनारी वेष में वहाँ आकर उस महोत्सव का आनन्द लूटा। भोग भाजन होने के कारण देवगण भले ही गोस्वामीजी द्वारा असम्मानित हों परन्तु प्राकृतिक विकास के स्वाभाविक संरक्षक होने के नाते वे ही प्रभु इष्टदेव राम के विशेष कृपापात्र हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि दानवगण गोस्वामीजी के इष्टदेव के किसी प्रकार द्वेष पात्र हैं। 'निशिचर हीन करहुँ महि' की उनकी प्रतिज्ञा भी विभीषण सरीखे निश्चरों के लिये नहीं थी। राम तो निशाचरी वृत्ति दूर करना चाहते थे न कि निशाचरों ही को। उनकी निर्हेतुकी कृपा सब पर समान रूप से रहते हुए भी, सूर्यप्रभा की तरह, पात्र की प्रकाशग्रहण क्षमता के अनुसार ही सम विषम विहार किया करती है—

"यद्यपि सम नहिं राग न रोषा। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषा॥
तदपि करहिं सम विषम विहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥"

यह है भक्त और अभक्त के बीच का अन्तर।

यह है राम का व्यवहार अपने भक्तजनों के प्रति। 'रहति न प्रभु चित चूक किये की, करत सुरति सय बार हिये की।'

आजकल के वैज्ञानिक और धर्म-निरपेक्ष युग में भारतीय राष्ट्र राम को मनुष्य मानकर ही उनके चरित्र का अनुशीलन करना चाहता है। परन्तु इस युग में भी ऐसे श्रद्धालुओं की कमी नहीं है जो राम को भगवान् मानकर उनके भक्त बने रहना चाहते हैं। उनके लिये ही यह परिच्छेद है।

राम का धाम

वस्तु का बोध होता है नाम से, रूप से, कृति या चरित्र से और स्थिति या धाम से। धाम का अर्थ भवन ही नहीं किन्तु प्रकाश, प्रताप, ऐश्वर्य, नियम, दशा आदि भी है। धाम है वस्तु की शान। व्यक्ति का बोध भी इसी तरह होता है और इष्टदेव का भी बोध इसी तरह हो सकता है। व्यक्ति के नाम, रूप, चरित्र और धाम अनित्य होंगे किन्तु इष्टदेव प्रभु के नाम रूप लीला और धाम नित्य अर्थात् काल की सीमा के परे होंगे। राम के नाम की तथा उनके द्विभुज रूप के नख-शिख की चर्चा हो ही चुकी है। उनका द्विभुज रूप या तो अद्वैत आनन्दमय बालक रूप का होगा या कर्म-भक्तिज्ञान-संयुक्त धनुर्धर युवा रूप का होगा, या सीता समन्वित भेदाभेद रूप का होगा, या सीता लक्ष्मण समन्वित चिदचिद विशिष्ट ईश्वर रूप का होगा या पार्षद समन्वित उपनिषद् प्रोक्त आराध्य रूप का होगा। उनका चतुर्भुज रूप भी है—निज आयुध भुजचारी। उनका विराट् रूप भी है। उनका निराकार रूप भी है जो घट-घटवासी कहा गया है।

राम की लीला के सम्बन्ध में उनके व्यवहार की भी चर्चा हो चुकी है। अब शेष रही उनके धाम की कुछ चर्चा।

निराकार रूप में राम 'विश्वास' भी हैं, अर्थात् संसार के अणु परमाणु में व्याप्त हैं, और "अखिल लोक विश्राम" भी हैं, अर्थात् संसार के अणु परमाणु उनमें ही विश्राम कर रहे हैं। मतलब यह कि वे विश्वानुगभी हैं और विश्वातिगभी हैं। इस दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व ही उनका धाम है।

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहं पाइय प्रभु करिय पुकारा ॥
पुर बैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि महँ बस सोई ॥
जाके हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती ॥
तेहि समाज गिरिजा में रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ ॥
हरि व्यापक सरवत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होंइ मैं जाना ॥
देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥
अगजगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ॥

उनके विश्वातिग रूप में तो समझना चाहिये कि स्वतः सत्ता की अनुमिति या धाम की भावना ही उन पर टिकी हुई है। फिर निवास या उनके धाम का प्रश्न ही कहाँ ? काकभुशुण्डि ब्रह्मलोक तक गये, सप्तावरण भी पार कर चुके,

परन्तु न तो कहीं बैंकुण्ठ की चर्चा आई न क्षीर सरोवर की। विविध ब्रह्माण्डों में अवधपुरी की चर्चा तो आई परन्तु दिव्य साकेत लोक की कोई चर्चा नहीं।

जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहू न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवन विधि जाइ।।

× × ×

अवधपुरी अति भुवन निनारी। सरजू भिन्न-भिन्न नरनारी।।

× × ×

भिन्न भिन्न मैं देखि सबु, अति विचित्र हरि जान।
अगनित भुवन फिरेउं प्रभु, राम न देखेउं आन।।

इस प्रकार निराकार परमात्मा का धाम तो सब कहीं है परन्तु पात्रता के अनुसार उनका भी 'सम विसम बिहारा' हुआ ही करता है; अतएव सन्तों के हृदय, तीर्थों के स्थल, आदि उनके विशिष्ट धाम मान लिये जाते हैं। संसार में जो वस्तु श्रेष्ठ है विभूतिमत श्रीमत या ऊर्जित है वह सबही निराकार राम का विशिष्ट धाम है।

वाल्मीकिजी ने राम के लिये बड़ी सुन्दरता के साथ चौदह धामों का निवेदन किया है। वे चौदह धाम ऐसे भक्तों के हृदय हैं जिनमें श्रवणासक्ति हो, दर्शनासक्ति हो, कीर्तनासक्ति हो, अर्चनासक्ति हो, पूजनासक्ति हो, निर्विकारवृत्ति हो, अनासक्तवृत्ति हो, सन्तवृत्ति हो, श्रद्धावृत्ति हो, धर्मवृत्ति हो, विश्वासवृत्ति हो, ध्यानवृत्ति हो, दास्यवृत्ति हो अथवा सहजस्नेहवृत्ति हो। वह पूरा प्रसङ्ग ही मनन करने योग्य है। इन चौदह धामों में सरलतापूर्वक राम के चौदह वर्ष बीत सकते थे। चौदह भवनों के अधिपति की अनन्त चतुर्दशी इन धामों में नित्य मनाई जा सकती है। प्रत्येक भक्त यदि चाहे तो अपने हृदय में राम का ऐसा धाम देख सकता है। सुराकार राम का सच्चा धाम तो भक्त हृदय ही हो सकता है।

सुराकार रूप में राम का सम्बन्ध विष्णु से है ही। विष्णु (नारायण) के धाम की एक चर्चा हुई है क्षीर सागर के शेष-शयन वाली [जिसका संक्षिप्त संकेत हमने अपने 'जगद्गुरु शङ्कर'' वाले लेख में किया है] और दूसरी चर्चा हुई है वैकुण्ठपुर की। मनुष्य अपनी मनोभावना के अनुसार ही मृत्यु के उपरान्त अपनी और्ध्वदैहिक दशा की कामनाएँ करता है। जो विषयसुख यहाँ न मिल सका वह मृत्यु के बाद मन चाहे प्रमाण में मिल सके इस इच्छा ने स्वर्ग की कामना सामने रखी। देवताओं के स्वर्ग का वर्णन इसी ढङ्ग का हुआ। विचारकों ने देखा कि वह स्वर्ग सुख भी कुछ कुछ सीमाओं से मुक्त नहीं। परमपद

तो वह होना चाहिये जहाँ किसी प्रकार की कुण्ठायें न रहें, अर्थात् जहाँ न तो मोह या भ्रम की कोई झलक हो, न विषयों की सीमाएँ हों न आवागमन का झंझट हो। अतएव विष्णु का धाम वैकुण्ठ बताया गया। वैकुण्ठ चैतन्य की वह अवस्था विशेष है जहाँ पहुँचकर सभी प्रकार के क्लेशों का अन्त हो जाता है और इस भव बन्धन में पुनरावर्तन होता ही नहीं। उसमें सच्चिदानन्द की दिव्य-ज्योति सदा देदीप्यमान रहती है। यह वैकुण्ठ स्वर्ग से भी ऊँचा अथवा उत्तम माना गया। कृष्ण और राम के उपासकों की भावनाएँ कुछ और आगे बढ़ीं और उन्होंने अपने अपने इष्टदेव की मानवी लीलाओं को उनकी दिव्य नित्य लीलाओं का ही प्रतिबिम्ब मानकर नित्य वृन्दावन धाम अथवा गोलोक धाम और नित्य साकेत धाम की चर्चायें कीं।

आचार्यों ने बड़े व्यापक वर्णन किये हैं इन सब धामों के। नये-नये धामों की भी उद्भावना की है उन्होंने। जैसे कुछ ने 'कैवल्य धाम' को वैकुण्ठ धाम से अलग मानकर उसे कुछ नीचा बताया है। कुछ ने सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियों के हिसाब से बारीकियाँ बताते हुए एक धाम के भी कई उपभेद किये। सम्प्रदाय भेद से और धर्मभेद से तो इन धामों में और भी अनेक भेद होगये हैं।

गोस्वामीजी इन चर्चाओं के फेर में पड़े ही नहीं। उन्होने न तो क्षीर-सागर का ही विशद वर्णन किया, न वैकुण्ठ का ही और न दिव्य साकेत लोक का ही, यद्यपि उन्होंने इन तीनों धामों का खण्डन भी नहीं किया। "पुर वैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि महँ बस सोई।।" में तो वैकुण्ठ और क्षीर-सागर के उल्लेख हैं ही, "सियनिन्दक अघ ओघ नसाये, लोक बिसोक बनाइ बसाये।।" में दिव्य साकेत का भी संकेत है, जिसका निर्माण सम्भव है कि रामवतार के बाद हुआ हो क्योंकि गोस्वामीजी के मतानुसार राम तो हरि व्यापक सरवत्र समाना" के अवतार थे न कि किसी विशिष्ट लोक निवासी सगुण सुराकार के। वे तो करोड़ों विष्णुओं से भी बढ़कर थे।

परन्तु राम के भौतिक धाम के अतिरिक्त उनका कोई दिव्य धाम है अवश्य, इसका संकेत गोस्वामीजी ने कई बार किया है। मरणोन्मुख जटायु को राम ने कहा है। "तनु तजि तात जाहु मम धामा' और गोस्वामीजी ने कहा है—"गीध गयहु हरि धाम"। शवरी के लिये कहा गया है—"हरि पद लीन भये जहँ नहिं फिरे"। अयोध्या के लिये कहा गया है कि वह "राम धामदा पुरी सुहावनि" है। यह कहा गोस्वामीजी ने ग्रन्थारम्भ में, परन्तु साथ ही ग्रंथान्त के काण्ड में रामजी के मुख से कहाया—

जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना, वेद पुरान विदित जग जाना ।
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ, यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ ।
जनमभूमि मम पुरी सुहावनि, उत्तर दिसि बह सरयू पावनि ।
जा मज्जन तें बिनहिं प्रयासा, मम समीप नर पावहिं वासा ।
अतिप्रिय मोहिं इहाँ के वासी, मम धामदा पुरी सुखरासी ।

इस अन्तिम वर्णन की यह भी ध्वनि है कि राम की अवधपुरी की महिमा—"राजाराम अवध रजधानी" की महिमा—बैकुण्ठ से भी बढ़कर है और यदि इस भौतिक धाम की वास्तविक प्राप्ति होगई तो राम के दिव्य धाम की प्राप्ति होना निश्चित ही है। वह दिव्य धाम भले ही वर्णनातीत हो परन्तु वह प्रत्येक जीव के लिये आवागमन हीन अन्तिम प्राप्तव्य अवस्था अवश्य है जिसमें कैवल्य धाम, वैकुण्ठ लोक, क्षीर सागर, आदि आदि सभी का समाहार समझना चाहिये।

कलियुगी अयोध्या तो त्रेतायुगीन राम की अयोध्या का विकृत खण्डहर मात्र है। राम की अयोध्या तो कहा जाता है कि राम ही के साथ चली गई। परन्तु गोस्वामीजी तो अपने राम का जाना बताते ही नहीं।" "प्रजन सहित रघुवंस मनि, किमि गवने निज धाम" का उन्होंने उत्तर ही नहीं दिलाया। राम यदि एक बार आकर फिर गये ही नहीं और भक्तों के हृदय में अटक गये तो उनकी अयोध्या भी प्रशासकीय आदर्श के रूप में राम धाम का दिव्य कर्तव्य-पथ दिखाने के लिये, अब भी इस मानस में विद्यमान है ही। वह मानस कथित अयोध्या ही नराकार राम का नित्य धाम है। रामराज्य सम्पन्न स्वदेश-वैभव की झलक ही राम का प्रताप है, राम की शान है, राम का धाम है। जो राम को पाना चाहता है वह उन्हें रामराज्य-सम्पन्न स्थली में ढूँढ़े। उसी स्थली से होकर दिव्य रामधाम की प्राप्ति होगी। घटघट वासी के लिये तो अवधपुरी प्रत्येक हृदय में विद्यमान हो सकती है। परन्तु लोक व्यवस्थापक नरावतार की अवधपुरी तो तब प्रकट होगी जब अपने देश प्रदेश नगर ग्राम या घर को रामराज्य की महिमा से मण्डित किया जाय।

यों तो नराकार राम ने भारत भर में जहाँ जहाँ अयन [गमन] किया वहीं वहीं उनके अयन [धाम] बन गये। इन सब अयनों में चित्रकूट की अपनी महिमा है। "राम वास भल सम्पति भ्राजा, सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा।" हमने अपने "सुराज्य" वाले प्रकरण में इस अयन का विशदीकरण किया है। इस अयन में नर-निर्मित भौतिक समृद्धि का कहीं नाम भी नहीं था। सादगी से भरे हुए, और समृद्धि के भौतिक साधनों से हीन, देश, ग्राम या घर में भी

राम की अवधपुरी उतारी जा सकती है। यह इसका संकेत है। जहाँ सात्विक ढङ्ग की सुव्यवस्था है वहीं राम का धाम है।

दूसरा अयन राम राज्य के समय की अवधपुरी का है जो अपनी भव्यता में बेजोड़ है। हमने अपने 'रामराज्य' वाले प्रकरण में इसका कुछ विशदीकरण किया है। आजकल के कलियुगी जीवों के लिये इस प्रकार की अयोध्यापुरी तो एक सपना ही होगई परन्तु उसकी समृद्धि का वर्णन किन्हीं अंशों में अब भी उन्हें प्रेरणा अवश्य दे सकता है।

गोस्वामीजी लिखते हैं: —

रमानाथ जहँ राजा, सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख सम्पदा, रहीं अवध सब छाइ॥

उस पुरी के वैभव का यह हाल था कि—

महि बहु रङ्ग रचित गज काँचा। जो विलोकि मुनिवर मनु नाँचा॥
धवल धाम ऊपर नभ चुम्बत। कलस मनहुँ रविशशि दुति निन्दत॥
बहुमनि रचित झरोखा भ्राजहिं। गृह गृह प्रति मनि दीप बिराजहिं॥
मनिदीप राजहिं भवन, भ्राजहिं देहरी विद्रुम रची।
मनिखम्भ भीति विरंचि विरची, कनकमनि मरकत खची॥
सुन्दर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे॥

आज कल गजमुक्ता की फर्श, मणियों के दीपक, दरवाजों-दरवाजों पर हीरों से जड़े सोने के कपाट, मिलना तो दुर्लभ ही है परन्तु नगर-रचना का वहाँ जो क्रम बताया गया है वह तो कोई कठिन नहीं है। गोस्वामीजी लिखते हैं कि उस पुरी की सड़कें, चौराहे, बाजार सभी रुचिर थे। मोलतोल की खींच-तान के बिना ही मन चाही वस्तुएँ मिल सकती थीं। दूकानदारों के पास कुवेर का-सा वैभव भरा रहता था। वहाँ प्रत्येक घर के साथ लगी हुई एक सुमन-वाटिका अच्छे ढङ्ग पर सँवारी हुई रहती थी जहाँ उत्तम पक्षी कल्लोल किया करते थे और एक चित्रशाला भी रहती थी जहाँ आध्यात्मिक भावना से भरे उत्तम चित्र रहा करते थे। पुर का भीतरी भाग ही नहीं बाहरी बाग भी परम रुचिर था। वहाँ उस बाहरी भाग में "वन उपवन वाटिका तड़ागा" थे। जिनमें सुन्दर सोपान, निर्मल जल, उत्तम सुमन, मनोहारी 'सुस्वर विहङ्ग' सभी कुछ थे। सरयू भी निर्मल धवल जल राशि लिए सभी भाँति सुशोभित थी। उसमें विस्तृत पशु घाट अलग, नारियों का पनिघट अलग [जहाँ पुरुष कभी स्नान करते ही न थे] और राजघाट जहाँ चारों वर्णों के लोग जातिभेद भुलाकर

आनन्द से स्नान किया करते थे, अलग थे। तीर-तीर के देव मन्दिरों में भी सुन्दर उपवन थे। तुलसी के वृक्षों की पाँतों का तो कहना ही क्या।

पुर ही नहीं पूरे राज्य का यह हाल था कि सरिताओं से प्रचुर परिमाण में निर्मल गुण कारक जल, सागर से अनायास उपलब्ध रत्न, तालाबों से दशों दिशाओं को प्रसन्नता देने वाली कमल-सुवास, पृथ्वी से ढेर-ढेर शस्यराशि, पर्वतों से विविध भाँति की मणि मालाएँ, लताओं और वृक्षों से मनमाँगी माधुरी वाले फल एवं गायों से मन-माना दूध मिला करता था।

यह सब इसलिए होता था क्योंकि राम की दिनचर्या और गृह चर्या स्वतः एक अनुपम आदर्श उपस्थित करती थी। वे प्रातः कृत्यों से निवृत्त होकर [स्मरण रहे कि प्रातः स्नान के लिये सरयूतट पसन्द किया जाता था न कि घर का एक कमरा] सज्जनों से ज्ञान चर्चा किया करते और भोजन एकाकी नहीं किन्तु भाइयों के साथ किया करते थे। जिस समय वे राजकार्यों में रत रहते, उनके बन्धु गण उनके सहचर गण, उनके पुरवासीगण, उन्हीं से सम्बन्धित श्रद्धापरक आख्यानों की चर्चा किया करते और मानवता-उन्नायक उन राम चरित्रों में बड़ा रस लिया करते। स्वतः तो यज्ञ, दान, भोग, त्याग धर्म पालन, धर्मरक्षण, सभी में हद दर्जे के थे ही, किन्तु उनकी अर्धाङ्गिनी सीताजी भी सदैव आदर्श पति सेवा में लीन रहती थीं, विपुल सेवक-सेविकाओं के रहते हुए भी वे "निज कर गृह-परिचरजा करई।" मानमद का लेश भी न रख कर वे सासुओं की भी सेवा तन मन लगा कर करती थीं। बन्धु लोग भी आज्ञा की अपेक्षा रखते हुए सेवा में दत्तचित्त रहते थे। भरतजी ने तो शायद चरखे में भी दक्षता प्राप्त कर ली थी। 'बसन भरत निज हाथ बनाये'। और राम का भी उनकी ओर वैसा ही प्रेम था। कुटुम्ब का प्रभाव पुरवासियों और राज्य-वासियों पर भी ऐसा ही पड़ा था कि सब के सब उदार, परोपकारी, श्रद्धालु एवं एक पत्नीव्रती हो गये थे और इसी कारण हृदय की प्रसन्नता एवं सुर-दुर्लभ भोग तो उनके सामने हाथ बाँधे खड़े रहते थे। सहयोगी जीवन की भावना मनुष्यों से फैलकर पशु-पक्षियों में भी व्याप्त हो गई थी। देखिये :—

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन, रहहिं एक संग गज पञ्चानन।
खग मृग सहज बयरु बिसराई, सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई।
कूजहिं खग मृग नाना वृन्दा, अभय चरहिं वन करहिं अनन्दा।

जहाँ ऐसा सहयोगी जीवन है, वहीं राम का धाम है। जो भारत राम का धाम रह चुका है वह अब भी अपनी वह धामता खोने न पावे यह देखना इस भारत के वर्तमान निवासियों का परम कर्तव्य है।

लक्ष्मण और भरत

भरत ने एक जगह कहा है :--

'जग जस भाजन चातक मीना, नेम प्रेम निज निपुन नवीना।

इस उक्ति के अनुसार प्रेम के आदर्श हैं मीन तथा चातक। मीन का जल के प्रति कैसा प्रेम होता है यह गोस्वामीजी ने ही नहीं अन्य अनेक कवियों ने भी बड़ी सुन्दरता से लिखा है। रहीम का एक दोहा है--"मीन काटि जल धोइये, खाये अधिक पियास; रहिमन प्रीति कि रीति यह मुएहु मीत की आस।" परन्तु चातक की प्रीति के सम्बन्ध में गोस्वामीजी ने दोहावली में जो चौंतीस दोहे लिखे हैं वे अपने ढङ्ग के बेजोड़ हैं। मीन अपनी प्रिय वस्तु जल को सर्वोपरि मानता है और चातक अपनी प्रिय वस्तु स्वातिविन्दु के अपने सम्बन्ध को सर्वोपरि मानता है। अतएव मीन अपने प्रियतम से एक क्षण का भी वियोग नहीं सह सकती और चातक के लिये अपने प्रियतम से दूरी अथवा सामीप्य का प्रश्न ही नहीं उठता यदि उसकी तदीयता अक्षुण्ण है। 'तुलसी के मत चातकहिं केवल प्रेम-पियास।' मीन है संयोगी भक्त जो आराध्य के सान्निध्य ही में सजीव रहता है। चातक है वियोगी भक्त जो स्वाति विन्दु से दूर रहकर सदैव उसकी रट लगाये रहता है। प्रेम का संयोग पक्ष देखना हो तो मीन में देखा जाय और वियोग पक्ष देखना हो तो चातक में देखा जाय।

प्रेम और भक्ति के ठीक इन्हीं दोनों पक्षों के प्रतीक स्वरूप हैं राम के दोनों भाई लक्ष्मण और भरत। लक्ष्मण हैं संयोगपक्ष के प्रतीक और भरत हैं वियोग-पक्ष के प्रतीक। संयोगपक्ष की तदीयता लक्ष्मण में पूर्ण प्रस्फुटित हुई है। उन्होंने अपना सर्वस्व राम को अर्पित कर दिया था। और आजीवन उनके साथ रह कर जैसी उनकी सेवा की थी वह सभी प्रकार आदर्श कही जा सकती है। राम का रत्ती भर भी अपमान वे सह नहीं सकते थे। देखिये धनुष यज्ञ का उन का भाषण। देखिये पिता के प्रति भी उनकी कटुवाणी। राम के लिये वे चौदह वर्षों तक सतत जागते रहे। परिचर्या के छोटे से छोटे काम वे स्वतः अपने हाथों करते थे। देखिये सुवेल शैल पर राम के लिये बिछाई गई किसलय शय्या। उनकी निगमनीति और धर्मनीति के सब मूर्तिमन्त सिद्धान्त थे केवल श्रीराम। वियोग पक्ष की तदीयता भरत में पूर्ण प्रस्फुटित हुई है। कितनी तड़प थी उनके हृदय में राम के लिये। 'जबहिं राम कहि लेहिं उसासा, उमगत प्रेम मनहुँ

चहुँ पासा, द्रवहिं वचन सुनि कुलिस पखाना।'' उनकी आह का असर पत्थर तक को पिघला देता था। संसार के समग्र ऐश्वर्य भी उस विरह वह्नि को कण मात्र शीतल न कर सके। प्रियतम के लिये उनका वह विरह आदर्श विरह था। स्वार्थ की उसमें गन्ध तक न थी। संसार का वैभव ही नहीं, गुरुजनों का अनुरोध भी ठेलकर वे जिन प्रियतम के लिये आगे बढ़े थे उन्हीं के अनुरोध पर उन्होंने उन तक से दूर रहना स्वीकार कर लिया और उन्हीं त्यागी हुई वस्तुओं को उनके लिये सँवारने का भार उठा लिया! हद होगई सहन शक्ति की।

भक्ति का सार है तदीयता और तदीयता का सार है निष्काम सेवा। सेवक अपने सेव्य के व्यक्तित्व की भी सेवा करता है और उस सेव्य की इच्छाओं की भी सेवा करता है। किसी सेवक के मन में व्यक्तित्व की सेवा प्रधान रहती है—जैसे माँ के मन में बच्चे की सेवा। वह हटाया जाने पर भी सेव्य के पास से हटना न चाहेगा और सदैव उस सेव्य की सुख सुविधाओं पर ही अपना ध्यान जमाये रहेगा। सेव्य के लिये अर्घ्य, पाद्य, स्नान, भोजन आदि की व्यवस्था करते रहने में ही वह अपना जीवन सार्थक मानेगा। वह और उसका आराध्य; बस, और बीच में कोई नहीं। किसी सेवक के मन में स्वामीच्छा की पूर्ति प्रधान रहती है। वह स्वामी के आदेशों के आगे ननु नच कर ही नहीं सकता। वह मान लेता है कि स्वामी की इच्छा निश्चय ही परम कल्याण कारिणी होगी, अतएव उस इच्छा का आभास पाकर तदनुकूल कार्य कर उठाना ही उसका परम कर्त्तव्य है। यदि स्वामी की ऐसी ही इच्छा है तो वह अपने और अपने आराध्य के बीच बड़े बड़े व्यवधान भी सह लेगा। पहिले प्रकार के सेवक हैं लक्ष्मण और दूसरे प्रकार के सेवक हैं भरत।

प्रभु की सेवा में ही अपना ध्यान जमाना अपेक्षाकृत सरल है परन्तु प्रभु की इच्छाओं का विचार रखते हुए उनकी वस्तुओं की, प्रन्यासी ट्रस्टी रूप में साज सँभाल करते जाना और साथ ही उनकी ओर अपनी पूरी तदीयता बनाये रखना, अपेक्षाकृत कठिन है। दोनों ही प्रभू के भक्त हैं अतएव दोनों ही उसके बन्धु हैं परन्तु पहिला उनमें से छोटा भाई है और दूसरा है बड़ा भाई। पहिला होगा लक्ष्मण की परम्परा का और दूसरा होगा भरत की परम्परा का।

मनुष्य को प्रभु के दर्शन मिलते रहना सरल नहीं है अतएव लक्ष्मण का सा भाग्य सब को कहाँ? परन्तु इस संसार में प्रभु के वैभव और उनके राज्य के दर्शन तो उसे होते ही रहते हैं। उस राज्य का ऐश्वर्य यदि उस मनुष्य के सिर पर थोपा भी जाय तब भी वह उसे प्रभु की वस्तु ही माने और प्रभु की आज्ञा से प्रन्यासी रूप में उसकी वृद्धि करे तथा साथ ही प्रभु के प्रेमभाव को

विरह की ज्वाला से सदैव प्रज्ज्वलित करता जाय—यही मनुष्य के लिये एकांत अभीष्ट है। हम में से कितने यह अनुभव करते हैं कि हम प्रभु से बिछुड़ गये हैं। हमारा एक पैसा गुम जाय या हमारी सामान्य जीविका छूट जाय तो हम उसके लिये कितनी हाय-हाय करते हैं ? क्या कभी परमानन्द स्रोत स्वरूप प्रभु के लिये भी हमने सच्चे हृदय से हाय-हाय की है ? जिस हृदय में विरह न जागा उसमें प्रेम भी नहीं जाग सकता। विरह भले ही दुःख के बादल उठा दे परन्तु प्रेम की आनन्दमयी शीतलता भी उसी में छिपी रहती है जो उस वह्नि के भीतर से ही सहस्रधाराओं में साकार होकर बह चलती तथा हृदय को अनुपम रस से आप्लावित कर देती है। विरह के लिये भी और प्रन्यासी भाव के लिये भी भरत ही मनुष्य के सच्चे आदर्श हैं। एक बात और है। भरत में जितनी विशाल भावुकता थी उतना ही विशाल विवेक भी था। दोनों का—दिल और दिमाग का, सन्तुलन बनाये रखना बड़ा कठिन कार्य है। जो भगवान के लिये उन्मत्तवत् लोकबाह्य होकर नृत्य किया करता है वह निश्चय ही भक्त है। परन्तु जो उन्हीं के लिये उन्हीं का आदेश मानकर लोकमर्यादा भी सँभालता चलता है वह निश्चय ही भक्तराज है। सच्चा अनन्य भक्त वही है। 'सो अनन्य अस जाके मति न टरइ हनुमन्त, मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।' वही पूर्ण दृष्टि वाला है। इसी दृष्टि से भरत को राम की प्रतिच्छाया कहा गया है। 'भरतहि जानि राम परछाहीं।'

भक्ति, भक्त, भगवन्त और गुरु—ये कहने के लिये चार हैं परन्तु हैं वस्तुतः एक ही तत्व के चार अंग। 'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक'। गोस्वामीजी ने इनका प्रतीक रखा है क्रमशः सीता, भरत, राम और शंकर में तथा इन चारों का चरित्र इतना पूर्णतायुक्त और निर्दोष चित्रित किया है जितना और किसी का चरित्र न होगा। मनुष्य के लिये मनुष्य से बढ़कर और कोई आदर्श नहीं हो सकता अतएव भरत को गोस्वामीजी ने किसी देव-विशेष अथवा किसी दिव्य वस्तु-विशेष का अवतार नहीं कहा जबकि लक्ष्मण को उन्होने अनेक स्थानों पर शेषावतार कहा है। भरत को तो बस एक अनुपम आदर्श के रूप में ही उपस्थित करके गोस्वामीजी ने अपनी सफलता मानी है। 'भरत भूमि रह राउरि राखी।' 'सियराम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को········ कलि काल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।' उनके विवेक को ही लक्ष्य करके गोस्वामीजी ने कहा 'जौ न होत जग जनमु भरत को, सकल धरम धुर धरनि धरत को' और उनकी भावुकता—भावप्रवणता को लक्ष्य करके ही कहा 'होत न भूतल भाउ भरत को, सचर अचर चर अचर करत को।' यह

चर्चा लक्ष्मण के सम्बन्ध में कैसे हो सकती थी ।

विश्व का चैतन्य ही शेष चैतन्य है क्योंकि विशेष चैतन्य तो जिसे वेदों ने 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' कहा है—अब तक अविज्ञात है । उस पूर्णत्व की अभिव्यक्ति के लिये ही यह जगत् उन्मुख हो रहा है । पुराणों की भाषा में इसीलिये कहा गया है कि वह पूर्णत्व—वह भगवान्—शेष की शय्या पर शयन कर रहा है और उस शेष के फणों पर ही ब्रह्माण्ड स्थापित है । पुराणों की भाषा भी कितनी रोचक भाषा है जिसमें देश (दिक् या space) का प्रतीक कच्छप हो गया है—जो इच्छानुसार पंचतत्वों का, अर्थात् चार पैर और एक सिर का, विस्तार भी कर सकता है और संकोच भी कर सकता है, संक्रम भी कर सकता है और प्रतिसंक्रम भी कर सकता है तथा काल या time का प्रतीक शेषनाग होगया है जिसके हजार हजार परिवर्तनशील सिरों पर कार्य कारण शृङ्खला से आबद्ध यह संसार टिका हुआ है । कच्छप पर शेष और शेष पर संसार । 'कमठ शेष सम धर बसुधा के ।' 'विश्व का काल प्रवाह पूर्णत्व की ओर ही तो उन्मुख हो रहा है । इसी का नाम है विकास । अतएव विश्व विकास की क्रिया पूर्णत्व की—भगवान् की—आराधना ही ठहरी । वह वियोगी भक्त की आराधना नहीं किन्तु संयोगी भक्त की आराधना है क्योंकि पूर्णत्व तो उसी विश्व-चैतन्य में शयन कर रहा है । इस दृष्टि से संयोगी भक्त शक्तिशाली लक्ष्मण को शेषावतार अथवा चित् शक्ति के अवतार कहना ठीक ही है । इसी दृष्टि से चिद्-चिद् विशिष्ट ईश्वर के ध्यान का लक्ष्य रखते हुए यदि गोस्वामीजी ने कहा—'राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर, ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर' तो कुछ गैरवाजिब नहीं कहा। इस ध्यान में भरत को गुञ्जाइश कहाँ।

लक्ष्मण और भरत दोनों ही अपने-अपने स्थान पर महामहिम हैं । हम लोगों के लिये तो दोनों ही परम वन्दनीय हैं । गोस्वामीजी कहते हैं—

"प्रनवउं प्रथम भरत के चरना । जासु नेम व्रत जाइ न वरना ।।
राम चरन पंकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ।।
वन्दउं लछिमन पद जल जाता । सीतल सुभग भगत सुखदाता ।।
रघुपति कीरति विमल पताका । दण्ड समान भएउ जस जाका ।।
सेष सहस्र सीस जग कारन । जो अवतरेउ भूमि भय टारन ।।
सदा सो सानुकूल रह मोपर । कृपा सिन्धु सौमित्र गुनाकर ।।"

आगे चलकर वे कहते हैं—

विस्व भरन पोसन कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ।।

तथा—

"लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु वशिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार॥

इन उक्तियों में बड़ी सार्थकता है।

बाल्यकाल से ही राम के साथ विशेष सान्निध्य लक्ष्मणजी ही का रहा। वे परम शूर थे परन्तु साथ ही उग्र प्रकृति के भी थे। धनुषयज्ञ के अवसर पर जनक तक को फटकारने और वनयात्रा में सुमन्त के सामने दशरथ तक को फटकारने में वे नहीं चूके। जब राम ने विभीषण की बात मानकर समुद्र विनय करना स्वीकार किया तब भी लक्ष्मण से न रहा गया और वे कह बैठे—

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिय सिन्धु करिय मन रोसा॥
कादर मनकर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥

अपनी इसी उग्रता में वे कभी-कभी मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जाते थे। भरत-आगमन का समाचार पाकर जब राम कुछ सोचने लगे तब लक्ष्मण की उग्र प्रकृति जाग उठी और उन्होंने 'पाछिल रिस' प्रकट करते हुए भरत को इतना भला-बुरा कह डाला कि आकाशवाणी बोल पड़ी "सहसा करि पाछे पछिताहीं, कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं।" फलतः "सुनि सुर बचन लखन सकुचाने।" इसी प्रकार परशुराम-संवाद में भी एक बार उन्होंने उग्र होकर मर्यादा का अतिक्रमण कर दिया था जिसका परिणाम यह हुआ था कि 'अनुचित कहि सब लोग पुकारे' और 'रघुपति सैनहिं लखन निवारे।' परन्तु उनकी यह उग्रता अपने कारण नहीं किन्तु राम के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा के कारण ही उभरा करती थी। राम के प्रति सेवा-भावना तो उनकी नस-नस में इस प्रकार बिधी हुई थी कि रावण की ब्रह्मदत्त प्रचण्ड शक्ति से आहत होकर मूर्छित दशा में भी जब उनके कानों में राम के ये शब्द पड़े कि 'समुझु जिय भ्राता, तुम्ह कृतान्त भच्छक सुरत्राता' तब तुरन्त ही वे उठ बैठे। 'सुनत बचन उठि बैठ कृपाला, गई गगन सो सकति कराला।' जब मेघनाद की वीरघातिनी साँग लगी थी तब राम ने न तो इस प्रकार के वचन कहे थे और न लक्ष्मण की मूर्च्छा जागी थी। वहाँ तो प्रभु को 'मनुज अनुहारी वचन' बोलने थे न?

लक्ष्मणजी का स्वभाव निम्न पंक्तियों में गोस्वामी ने उन्हीं के श्रीमुख से कहला दिया है—

'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबहि एक तुम्ह स्वामी। दीनबन्धु उर अन्तरजामी॥

धरम नीति उपदेसिय ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ।।
मन क्रम बचन चरन रत होई । कृपासिंधु परिहरिय कि सोई ।।'

उन्होंने भगवान् से यदि तत्व-विषयक प्रश्न भी किया है तो अपने इसी स्वभाव के अनुकूल । वे कहते हैं—

'मोहिं समुझाय कहउ सोइ देवा । सब तजि करउँ चरन रज सेवा ।।'

× × × ×

'ईस्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहहु समुझाइ ।
जातें होइ चरन रति, सोक मोह भ्रम जाइ ।।'

राम के प्रति लक्ष्मण की सेवा भावना इतनी उत्कट थी कि जब कभी राम के व्यक्तिगत हित और राम के आदेश में द्वन्द्व उपस्थित होता दीख पड़ा है तो लक्ष्मणजी ने आदेश की अवहेलना करके हित की ही ओर ध्यान दिया है । राम ने कई वार वर्जन के इशारे किये परन्तु लक्ष्मणजी परशुराम को मुँहतोड़ उत्तर देते ही गये । राम के मना करने पर भी लक्ष्मण वनगमन के लिये कृतनिश्चय ही रहे । कनकमृग वध के प्रसङ्ग में राम पर संकट पड़ा सुनकर उन्होंने सीता की रखवाली छोड़ उस ओर को प्रस्थान कर दिया और इस प्रकार राम के व्यक्तिगत हित के विचार से राम के आदेश की अवहेलना कर दी । परन्तु इस एक प्रसङ्ग में यह अवहेलना बहुत बड़ी चूक सिद्ध हुई । जिसने रामकथा का नकशा ही बदल दिया । गोस्वामीजी कहते हैं यह तो होनहार थी—प्रभु की इच्छा थी—अतएव 'मरम वचन जब सीता बोला, हरिप्रेरित लछिमन मनु डोला ।' हरि की प्रेरणा ही राम की प्रेरणा है । तब जब राम ही अपने आदेश को अवहेलना कराना चाहते हैं तो लक्ष्मण का मन क्यों न डोल जाय ।

लक्ष्मणजी जितने उग्र थे भरतजी उतने ही सौम्य थे । बल्कि यों कहना चाहिये कि भरतजी की सौम्यता की कोई सीमा ही नहीं थी । राम के प्रति उनका जितना स्नेह संचित था वह एक गहरी ठोकर लगते ही बड़े वेग से उमड़ पड़ा । उनको कारण बनाकर राम को बनवास दिया गया यह उनके लिये कितने क्षोभ की बात थी । 'हेतु अपनपउ जानि जिय थकित रहे धरि मौनु ।' उस क्षोभ में वे अपनी माता के लिये कुछ कुवाक्य भी कह गये परन्तु उन कुवाक्यों के बीच भी उन्होंने कितने संक्षेप में माता की बुद्धि की आलोचना करदी है । वे कहते हैं 'पेड़ु काटि तैं पालउ सींचा, मीन जिवन निति वारि उलीचा ।' राम का तिरस्कार करके उन्हें राज्य दिलाना मानो पेड़ काट कर पल्लव सींचना था और उन्हें निष्कण्टक बनाने के अभिप्राय से राम को वन दिलाना मानो मीन को प्रचुर अवकाश देने के अभिप्राय से तालाब से जल का

हटा देना था। यह सब कहते हुए भी तुरन्त वे अपनी सौम्यता के कारण सब अपराध अपने सिर ले लेते हैं और कह उठते हैं 'मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि'। शत्रुघ्न तो लक्ष्मण के सगे भाई ही ठहरे अतएव जब उन्होंने कूबड़ी की गत बनानी आरम्भ की तब अपनी सहज सौम्यता के ही कारण "भरत दयानिधि दीन्ह छुड़ाई"। दशरथ की चिता पर जब सब रानियाँ सती होने चलीं, जिनमें पश्चात्तापपूर्ण कैकेयी भी रही होगी, तब सहज सौम्य भरत ने ही उन्हें विनयपूर्वक रोक रखा "गहि पगु भरत मातु सब राखीं।"

कितनी कसमें खाई हैं उन्होंने कौशल्याजी के सामने। कहते हैं कि जो कुकर्मी हों, जो कुभक्त हों, जो कुभाव वाले हों और जो कुज्ञान वाले हों उनकी दुर्गति मुझे मिले यदि कैकेयी की इच्छा में उनकी कोई सम्मति हो। महापुरुष इस तरह कसमें नहीं खाया करते न क्षत्रिय होकर किसीसे याचना किया करते हैं। परन्तु वे तीर्थराज प्रयाग से कहते हैं "माँगउँ भीख त्यागि निज धरमू, आरत काह न करइ कुकरमू।" उनकी याचना भी क्या थी? 'अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान, जनम जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन।'

राम कथा में तीन राज्यों का वर्णन है। उत्तर भारत की अयोध्या का, मध्यभारत की किष्किन्धा का और दक्षिण भारत की लङ्का का। किष्किन्धा और लङ्का के लघु बन्धुओं का व्यवहार अपने ज्येष्ठ बन्धुओं के प्रति और राज्य के विषय में क्या रहा है यह देखिये और अयोध्या के इस लघु बन्धु भरत का हाल देखिये। पिता का दिया हुआ और बड़े भाई तथा अन्य गुरुजनों द्वारा अनुमत समृद्ध राज्य वैभव त्याग देने में उसे जरा भी झिझक न हुई। कुलगुरु वशिष्ठ जोरदार शब्दों में कहते हैं 'तात! सोच न करो, पिता की आज्ञा मानो। यही वेद-सम्मत भी है। राम आदि भी इसी में प्रसन्न होंगे।" सचिवगण समर्थन करते हैं और माता कौशल्या तक इसी का अनुमोदन कर उठती हैं। भरत किस दृढ़ता और क्षोभ से यह प्रस्ताव ठुकराते हुए कह उठते हैं "प्रभो! इसमें न मेरा हित होगा न आप लोगों का। मैं अधम हूँ, विधि-विडम्बित हूँ, कठोर हृदय हूँ। फिर भी मुझे लोक परलोक की चिन्ता नहीं, उनका डर नहीं। दुःख है तो यही कि सीता राम मेरे कारण वन वासी हुए।

"एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहिं लगि भे सियरामु दुखारी॥

अतएव—

एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रात काल चलिहउं प्रभु पाहीं॥

किसकी हिम्मत थी कि भरत के इस निर्णय का विरोध कर सके।

परन्तु जो भरत इतने विक्षुब्ध हो रहे थे और जिनके उद्देश्य के विषय में अयोध्यावासी भी शङ्कालु हो उठे थे —'पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गँवहि जोहारहिं जाहिं'—वे ही वनगमन के समय निश्चय कर उठते हैं:—

सम्पति सब रघुपति कै आही । जौ बिनु जतन चलौं तजि ताही ।।
तौ परिनाम न मोरि भलाई । पाप सिरोमनि साँइ दोहाई ।।
करइ स्वामि हित सेवकु सोई । दूखन कोटि देइ किन कोई ।।

वे राज्य और राजकीय वस्तुओं का पूरा प्रबन्ध करके ही आगे बढ़ते हैं और तिलक समाज साज कर चलते हैं । उनके इस व्यवहार से अयोध्यावासियों ही को नहीं किन्तु तिरहुत-निवासियों को भी शङ्का हो सकती थी । "चार चले तिरहूति ।" और कदाचित इसी समाचार ने जनक को भी प्रेरित किया हो कि वे चित्रकूट पहुँच जायँ । यही नहीं अपढ़ गँवार गुह तक को भी शङ्का हो गई । वह कहता है "कारन कवन भरतु वन जाहीं। नहि कछु कपट भाव मन माहीं; जौ पै जिय न होति कुटिलाई, तौ कत सङ्ग लीन्हि कटकाई ।" त्रिकालदर्शी भरद्वाज मुनि ने यद्यपि भरत के व्यवहार की सुन्दर आलोचना करके उन्हें भरपूर बड़ाई दी फिर भी एक "खेलवार" तो कर ही दी जो एक प्रकार से भरत के उद्देश्यों के विषय की परीक्षा ही थी । 'सम्पति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार, तेहि निसि आस्रम पींजरा राखे भा भिनुसार ।" और हद तो तब हो जाती है जब लक्ष्मण भी शङ्का करते हुए कह उठते हैं—

कुटिल कुबन्धु कुअवसरु ताकी, जानि राम बनवास एकाकी ।
करि कुमन्त्र मन साजि समाजू, आये करइ अकण्टक राजू ।
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई, आये दल बटोरि दोउ भाई ।
जौ जिय होति न कपट कुचाली, केहि सोहाति रथ बाजि गजाली ।"

भरत अकेले एक ओर और सारी दुनिया एक ओर । शङ्काओं पर शङ्काएँ उठती जा रही हैं और शङ्काओं का समाधान कराना बड़ा कठिन होता है—शक की कोई दवा नहीं हुआ करती । परन्तु उन्हें इन शङ्काओं की रत्तीभर चिन्ता नहीं । उन्हें तो केवल मात्र अपने कर्तव्य का और अपनी लगन का ध्यान था । उनकी यह लगन ही उनके व्यवहार में इस प्रकार उतर आई कि सबकी सब प्रकार की शङ्काएँ अपने ही आप उड़ गईं और उनका चारित्र्य निष्कलङ्क सुवर्ण की भाँति चमक उठा । ऐसे ही अवसरों की एक कृति करोड़ों उक्तियों से भी अधिक प्रभावशालिनी हो जाया करती है । अयोध्या की नागर संस्कृति ने उनके सामने लोभ के जाल फैलाये, शृङ्गवेरपुर की निश्छल ग्राम्य संस्कृति ने उनके सामने क्रोध के जाल ताने और प्रयाग की गम्भीर तपोवनी संस्कृति ने

उनके सामने काम के जाल उपस्थित किये—

"स्रक चन्दन बनितादिक भोगा, देखि हरष विसमय बस लोगा।"

परन्तु भरत ही थे जिन्होंने सच्चे साधक जीव की तरह इन तीनों बाधाओं को सहज ही पार कर लिया और अपने लक्ष्य तक निर्बाध पहुँच गये।

व्यवहार में यदि वे इतने जागरूक थे कि एक एक व्यक्ति की चिन्ता रखते थे—"जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा, भरत सोधु सब ही कर लीन्हा" अथवा "दण्ड चारि महँ भा सब पारा, उतरि भरत तब सबहिं संभारा"—तो आत्म-साधना में भी इतने दृढ़ थे कि कवि को कहना ही पड़ा—'प्रेम अमिय मन्दरु विरह भरतु पयोधि गँभीर, मथि प्रगटे सुर साधु हित कृपासिंधु रघुवीर।" जिसे राम ने अपनाया उस निषाद को उन्होंने बन्धु से बढ़कर माना। उन्होंने "राम घाट कहँ कीन्ह प्रनामू, भा मनु मगन मिले जनु रामू।" "जहँ सिंसुपा पुनीत तरु रघुबर किये बिस्रामु, अति सनेह सादर भरत कीन्हेउ दण्ड प्रनामु।" कुस साथरी निहारि सुहाई, कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई। चरन रेख रज आँखिन्ह लाई, बनइ न कहत प्रीति अधिकाई।" यह किया उन्होंने सबके दिखाव के लिये नहीं किन्तु सबको विश्राम कराकर और चुपचाप पथप्रदर्शक, गुह के संग अकेले जाकर। उनके पैरों में झलके पड़ गये थे परन्तु फिर भी वे पैदल चलना न छोड़ते थे। राम पैदल गये और वे रथ पर जायँ! यह कैसे हो सकता था। "सिर भर जाउँ उचित अस मोरा, सब तें सेवक धरमु कठोरा"। उन्हें तो "राम बास थल विटप विलोके, उर अनुराग रहत नहिं रोके।" वे "जहँ जहँ राम बास बिस्रामा, तहँ तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा"। और जब चित्रकूट समीप आगया तब—

"सखा वचन सुनि बिटप निहारी, उमगे भरत विलोचन वारी।
करत प्रनाम चले दोउ भाई, कहत प्रीति सारद सकुचाई।
हरषहिं निरखि राम पद अंका, मानहुँ पारस पाएहु रंका।
रजसिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं, रघुबर मिलन सरिस सुखपावहिं।
देखि भरत गति अकथ अतीवा, प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा।

यह थी उनकी तदीयता। इष्ट से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के प्रति कितनी आत्मीयता थी उनमें, कितनी श्रद्धा, कितनी पूज्य भावना!!

राम ने भरत के प्रति कितना आदर दिखाया है और भरत ने राम की इच्छा को ही अपना सर्वस्व मानकर विषम समस्या का कितना सुन्दर हल प्रस्तुत किया है यह चित्रकूट की सभाओं में देखा जाये। वशिष्ठ के समान अनुभवी तत्वज्ञानी और जनक के समान अनुभवी शासक भी जो हल न निकाल

पाये वह भरत ने अनायास सामने रख दिया। वरों के अनुसार राम चाहते थे कि भरत राज्य करें और वे वनवासी हों। यह उनकी इच्छा पर था कि वे वन से लौटें या न लौटें। न लौटने ही की ओर उनका झुकाव मानना चाहिये। भरत के साथ सब लोग चाहते थे कि राम राजा हों, चाहे भले ही भरत वन जावें तथा राम को तो एक दिन भी वन में न रहना चाहिये और न राज्य से वियुक्त होना चाहिये। भरत ने मध्यमार्ग निकाला कि राम केवल चौदह वर्षों तक ही वन में रहें और तब तक उनके प्रन्यासी रूप से उनका राज्य भरत सँभालें। इस हल में दोनों वरदानों की बात भो रह गई और सब की इच्छाओं का समाधान भी होगया। प्रन्यासी का यह नया सिद्धान्त क्या मनुष्यमात्र के लिये लागू नहीं होता। मनुष्य की सम्पत्ति वस्तुतः भगवान की सम्पत्ति है जो उसे अपने जीवन के कुछ वर्षों की अवधि के लिये सोंपी गई है। जीव मुनीम है जिसका कर्तव्य है कि बुलावा आने पर मालिक के सामने पूरी रोकड़ रख कर यह बता सके कि उसने मालिक की निधि का सदुपयोग करके इसकी वृद्धि ही की है। उसकी तरफ से कहीं कोई खयानत या फिजूल खर्ची नहीं हुई। यही भरत चरित का सार तत्व है जो प्रत्येक जीव को ग्रहण करना चाहिये।

जिस संसार का त्याग करके भरत अपने इष्ट प्रभु की ओर बढ़े थे उनके द्वारा वे उसी संसार में लगा दिये गये। परन्तु दोनों दृष्टिकोणों में आकाश-पाताल का अन्तर हो उठा था। उन्होंने त्याग किया अपना समझे जाने वाले वैभव का और वे प्रबन्धक बने—संग्रही बने—प्रभु के समझे जाने वाले वैभव के। यह संग्रह कैसा अपूर्व संग्रह था। राम तो पिता की आज्ञा से वन के कष्ट सह रहे थे और ये स्वेच्छा से प्रभु की अनुकूलता वाला तपस्वी जीवन बिताते थे। वे पूरी पंक्तियाँ देखने लायक हैं। उनमें से दो पंक्तियाँ सुनिये—

लखनु रामु सिय कानन वसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब विधि भरत सराहन जोगू॥

क्या आश्चर्य यदि भरत की सराहना राम से भी अधिक होने लगी। क्या आश्चर्य यदि 'तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात।'

उनमें जागरूकता लक्ष्मण से कम नहीं थी क्योंकि अर्धरात्रि में भी हनुमानजी को उड़ते उन्होंने देख लिया था। उनमें पराक्रम भी लक्ष्मण से कम नहीं था। हनुमानजी इसके साक्षी हैं जो उनके विना फल वाले बाण के आघात से ही नीचे आ पड़े थे। परन्तु हनुमानजी ही की तरह उनका सर्वस्व प्रभु राम में इस तरह समर्पित था कि उन्हें अपने पराक्रम का कभी स्वप्न में भी भान तक न हुआ। वे तो वे हैं परन्तु राम के राज्य को भीतरी अराजकता और बाहरी

आक्रमणों से बचाकर दस गुण अधिक समृद्ध बनाकर वापिस कर देने की उन भरत की निपुणता की चर्चा करने वाले आदि कवि महर्षि वाल्मीकिजी अथवा उनके अनुयायी अन्य कवियों ने भी उनके प्रबन्ध-कौशल की कोई खास चर्चा तक करना आवश्यक न समझा।

भरतजी के जीवन का केवल एकमात्र मूलमन्त्र वह था जो उन्होंने राम के प्रति कहा था—

राउर बदि भल भवदुख दाहू। प्रभु बिनु बादि परम पद लाहू॥

इसके अतिरिक्त और उन्हें किसी वस्तु से कोई प्रयोजन न था। अपनी प्रशंसा की जायगी या निन्दा इसके सोचने का उनके पास न तो कोई चाव था और न अवकाश ही।

भरत ने भी लक्ष्मण की तरह एक बार प्रभु से प्रश्न किया था। लक्ष्मण ने तो पूछा था—"ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहहु समुझाय, जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ" परन्तु भरत ने हनुमानजी के छेड़ने पर बड़ी झिझक और संकोच के साथ यह कहते हुए कि 'नाथ न मोहिं संदेह कछु सपनेहु सोक न मोह, केवल कृपा तुम्हारि ही चिदानन्द सन्दोह।' केवल इतना ही पूछा था 'सन्त असन्त भेद बिलगाई, प्रनतपाल मोहिं कहहु बुझाई।' यह प्रश्न अपने हित के लिये था या समस्त श्रोताओं के लिये यह समझना कुछ कठिन नहीं है।

लक्ष्मणजी ने भरत के लिये जो उद्गार प्रकट किये थे उसका कुछ संकेत ऊपर आ चुका है। अब भरत ने लक्ष्मण के सम्बन्ध में जो उद्गार प्रकट किये थे वे भी सुन लीजिये—

लालन जोग लखन लघु लोने। भे न भाइ अस अहहिं न होने॥
पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे। सिय रघुबीरहिं प्रान पियारे॥
मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ॥
ते बन सहहिं विपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस एहि छाती॥

परन्तु लक्ष्मण और भरत दोनों ही अपने-अपने स्थान में और अपनी-अपनी भूमिका में महामहिम हैं। दोनों ही अपने-अपने ढंग पर परम वन्दनीय हैं। उनकी बड़ाई छुटाई तो जन्मजात ही थी। गोस्वामीजी ने उसी का निर्वाह कुछ दूसरे ढंग से भी कर दिया है। यों तो लेखक का यही कहना उचित होगा कि 'को बड़ छोट कहत अपराधू।'

मानस के प्रधान नारीपात्र

गोस्वामीजी ने नरपात्रों के भी कई आदर्श स्थापित किये हैं और नारी पात्रों के भी। उन्होंने किसी-किसी नरपात्र की भी कुछ कमजोरियाँ दिखाई हैं और किसी-किसी नारीपात्र की भी। परन्तु जहाँ तक नारीपात्र की कमजोरी की बात है वे उसे प्रायः एकदम दोषमुक्त करके उस कमजोरी का दोष प्रभु-माया या देवमाया या सामान्य नारी स्वभाव के मत्थे मढ़ देते हैं। सती को मोह हुआ प्रभु-माया के कारण। (निज माया बलु हृदय बखानी, बोले राम बिहँसि मृदुवानी)। कैकेयी को मोह हुआ सुरमाया के कारण। (सुर माया बस वैरिनिहिं सुहृद जानि पतियानि)। सूर्पणखा को मोह हुआ सामान्य नारी स्वभाव के कारण, जो स्वभाव दुष्टहृदया कामिनियों में ही प्रायः देखा जा सकता है। (भ्राता पिता पुत्र उरगारी, पुरुष मनोहर निरखत नारी।) स्वभाव के इस श्यामपक्ष की बात गोस्वामीजी की अपनी सूझ-बूझ नहीं है। वह उन्होंने परम्परा से पाई थी। इस विषय में तो हमारा वह लेख देखा जाय जो "गोस्वामीजी और नारी" शीर्षक से इसी लेख के परिशिष्ट रूप में इसके साथ जुड़ा हुआ है। ऐसे सब प्रसङ्गों में नारी का अर्थ समझिये प्रमदा कामिनी। नारी विषयक उनकी ऐसी उक्तियों को अलग करके उनके नारी पात्रों के चरित्रों का अनुशीलन कीजिये तो अनायास ही विदित हो जायगा कि वे बड़ी सहृदयता के साथ और बहुत मांज-संवार कर चित्रित किये गये हैं।

सती का मोह इसलिये लिखा गया क्योंकि उससे राम की महिमा पर और राम के प्रति शिव की अगाध भक्ति पर अच्छा प्रकाश पड़ता था। परन्तु इस मोह के लिये भी गोस्वामीजी ने सती को नहीं किन्तु राम माया ही को जिम्मेदार ठहराया। (बहुरि राम मायहिं सिरु नावा, प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा)। सती के लिये तो उन्होंने अपनी परम आराध्या जगज्जननी सीताजी के मुख से कहलाया है "भवभव विभव पराभव कारिनि, विश्वविमोहिनि स्वबस बिहारिनि। पति देवता सुतीय महँ मातु प्रथम तब रेख, महिमा अमित न कहि सकहिं सहस सारदा शेष।" सती का कठोर तप, सती की शङ्कर के प्रति एकान्त निष्ठा, मर्यादा रक्षा में सती का वह व्यवहार जो उन्होंने दक्षयज्ञ के समय दिखाया और शील-रक्षा में उनका वह व्यवहार जो उन्होंने सप्तर्षियों एवं

माता के प्रति दिखाया—सभी परम रम्य और आकर्षक हैं।

सीता के चरित्र का तो फिर कहना ही क्या है। विश्व साहित्य में वैसा चित्र शायद ही कहीं उपलब्ध हो। अध्यात्म रूप में वे उद्भव स्थिति संहार-कारिणी (विद्या माया) और 'क्लेशहारिणी' (पराभक्ति) हैं। अधिदैव रूप में वे 'सर्व श्रेयस्करी' (महालक्ष्मी) हैं और अधिभूत रूप में वे 'रामवल्लभा' सीता हैं। इन तीनों रूपों को ध्यान में रखकर ही गोस्वामीजी ने उनकी वन्दना में कहा है—

उद्भवस्थिति संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां न तोऽहं रामवल्लभाम्॥

रामवल्लभा सीता का रूप सौन्दर्य इतना उत्कृष्ट था कि उसकी उपमा मानवी नारियों से क्या दैवी नारियों से भी न दी जा सकती थी। गोस्वामीजी को कहना पड़ा—

गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनुपति जानी॥
विष वारुणी बन्धु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि बैदेही॥
जो पै सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथइ पानि पंकज निज मारू॥
इहि विधि उपजइ लच्छि जो, सुन्दरता सुखमूल।
तदपि समेत संकोच कवि, कहहिं सीय समतूल॥

उन्हीं के रूप के लिये कहा गया है—

जनु विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विस्व कहँ प्रगट देखाई॥
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छबि गृह दीप शिखा जनु बरई॥
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरिय विदेह-कुमारी॥

बड़ी अर्थ-गर्भ हैं वे सारी पंक्तियाँ। पिछली तीनों पंक्तियों को महाकवि कालिदास के तीनों महाकाव्यों के श्लोकों से मिलाकर देखिये तो निःसन्देह एक अपूर्व आनन्द आवेगा।

जिस तरह सीताजी की सुन्दरता थी उसी तरह उनकी सुकुमारता भी थी। उनकी सुकुमारता के विषय की भी कुछ पंक्तियाँ सुन लीजिये—

पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअन मूरि जिमि जोगवत रहेऊ। दीप वाति नहिं टारन कहेऊ॥
सिय बन बसहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डराती॥

× × ×

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जियइकि लवन पयोधि मराली॥

नव रसाल बन विहरन सीला । सोह कि कोकिल विपिन करीला ॥

कवितावली का एक सवैया है—

पुरतें निकसीं रघुवीर बधू धरि धीर दये मग में डग द्वै ।
झलकीं श्रम भालकनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै ।
पुनि पूछति है चलनौऽब कितै पिय पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै ।
तिय की लखि ग्रातुरता पियकी अखियाँ अति चारु चली जल च्वै ॥

परन्तु इतनी सुकुमार सीता ने भी स्वेच्छा से घोर वन की सारी यातनाएँ सहीं और सहीं ही नहीं उनमें परम सुख माना । उनका कहना था—

खग मृग परिजन नगरु बनु, बलकल बिमल दुकूल ।
नाथ साथ सुरसदन सम, परन साल सुखमूल ॥

कुस किसलय साथरी सुहाई । प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई ॥
कन्द मूल फल अमिय अहारू । अवध सौध सत सरिस पहारू ॥

× × × ×

मोहि मग चलत न होइहि हारी । छिनु छिनु चरन सरोज निहारी ॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं । मारग जनित सकल स्रम हरिहौं ॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं । करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं ॥
श्रम कन सहित स्याम तनु देखे । कहँ दुख समउ प्रानपति पेखे ॥
मग महि तृन तरु पल्लव डासी । पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥
बार बार मृदु मूरति जोही । लागिहि तात बयारि न मोही ॥

यह इसलिये कि वहाँ उनके प्राणप्रिय प्रभु का संग रहेगा जिनके वियोग की वे कल्पना तक न कर सकती थीं । उनकी स्पष्ट घोषणा है—

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे । भय विषाद परिताप घनेरे ॥
प्रभु वियोग लवलेस समाना । सब मिलि होहिं न कृपानिधाना ॥

परन्तु दुर्भाग्यवश यह संयोग कुछ महीनों के लिये होकर ही रहा और उन्हें रावण हर ले गया ।

यह है पवित्र सौन्दर्य, चाहे वह तन का हो चाहे मन का हो । उसका प्रभाव ही ऐसा पड़ता है कि अन्यों में वह सेवाभाव ही जाग्रत करता है । जिस अन्य का मन पहिले से ही बहुत विकृत हो चुका हो उसकी बात ही दूसरी है । कुछ इने गिने राक्षसों और राक्षस तुल्य अन्य व्यक्तियों को छोड़ सीताजी के सौन्दर्य और सौकुमार्य ने संसार की श्रद्धा ही अपनी ओर खींची थी । गोस्वामीजी ने तो रावण की कुदृष्टि को भी एक प्रच्छन्न भक्त का बाह्याडम्बर मात्र बता दिया है और इसलिये कहा है कि जब रावण ने सीता का हरण

किया और सीता ने अपनी पूर्ण तेजस्विता के साथ उसे फटकार बताई तब "सुनत बचन दससीस लजाना, मन महुँ चरन बन्दि सुख माना।"

रावण के यहाँ किस प्रलोभन की कमी थी परन्तु क्या सीताजी ने किसी भी वस्तु की ओर आँख उठाकर देखा ? उस शक्तिशाली दुर्दमनीय राक्षस-राज के यहाँ किस आतंक की कमी थी परन्तु क्या कोई भी अत्याचार सीता जी को किसी प्रकार अपने कर्त्तव्यपथ से विचलित कर सका ? ऐसा था उनका 'कुसुमादपि कोमल' होते हुए भी 'वज्रादपि कठोर' जीवन-सत्व।

जिन राम के लिए उन्होंने लङ्का में यमयातना से भी करोड़ गुण अधिक कष्टप्रद बन्दी जीवन बिताया उन्हीं राम ने उन्हें साधुवाद के दो शब्द तक न देकर एकदम 'दुर्वाद' कहे और अग्निपरीक्षा का आदेश दिया। थोड़ा भी आत्मसम्मान रखने वाली मनस्विनी नारी ऐसी परिस्थिति में एकदम झुंझला उठेगी। परन्तु सीता ने राम के प्रति रत्तीभर रोष न प्रकट किया और उनका आदेश एकदम शिरोधार्य कर लिया। कितना बड़ा आत्म समर्पण था उनके मन में राम के प्रति। विश्व के साहित्य में ऐसे दृष्टान्त दुर्लभ हैं।

राम के प्रति इतनी अद्वितीय तदीयता रखते हुए भी उन्होंने अपनी सामाजिक मर्यादा और अपने कौटुम्बिक व्यवहार कभी भुला दिये हों ऐसा प्रमाद उनसे कभी नहीं हुआ। उन्होंने राम के शक्तिशील सौन्दर्य का वर्णन सुना, अनायास आकस्मिक ढङ्ग पर उनके दर्शन पाये और न जाने किस जन्म-जन्मान्तर के संयोग की प्रेरणा से उनके श्रीचरणों पर अपना हृदय चढ़ा दिया। परन्तु आत्मसमर्पण का इतना बड़ा निश्चय हो जाने पर भी न तो माता पिता की इच्छा के विपरीत कोई कार्य किया और न अपने निर्णय का कोई उद्घोष ही किया। विवाह के बाद जब बनगमन की उन्हें अनुमति मिली उस समय वे सास को न भूलीं। देखिये:—

तब जानकी सासु पग लागी। सुनिय माय मैं परम अभागी॥
सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा॥
तजब छोभु जनि छाँड़िअ छोहू। करम कठिन कछु दोसु न मोहू॥

लङ्का विजय के बाद अयोध्या लौटने पर जब वे पट्टमहिषी के रूप में राम के साथ राजसिंहासन पर विराजीं उस समय—

यद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। विपुल सदा सेवा विधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥
जेहि विधि कृपासिन्धु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा विधि जानइ॥
कौशल्यादि सासु गृह माहीं, सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं।

यह था सीताजी का लोकोत्तर शील। वे सुकुमारी और ऐश्वर्यशालिनी थीं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे श्रम से अथवा गृह कार्य से किसी प्रकार मुँह मोड़ें। अपने आराध्य अथवा प्रियपात्र का प्रत्येक कार्य स्वतः अपने हाथों करने में जो आनन्द आता और सन्तोष मिलता है यह किसी भावप्रवण माता अथवा किसी महात्मा गांधी सरीखे देश सेवक के हृदय से पूछा जाय।

राम ने सीताजी को समझाया था कि वे वन न जायँ परन्तु वह समझाना कोई आदेश रूप न था किन्तु इस दृष्टि से था कि सीताजी को वन में कष्ट होंगे। अतएव सीता ने उसके विपरीत अपना दृष्टिकोण सामने रखने का निश्चय दिखाया। इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि उन्होंने राम की बात काटी अथवा अपने स्वार्थ को प्रमुखता दी। वे न तो अपने क्षुद्र सुख के लिये वन गईं न राम के ऊपर कभी भार रूप ही हुईं। हरण के उपरान्त भी उन्होंने अपने शील, चारित्र्य की रक्षा अपने ही मनोबल के आधार पर की और रावण सरीखे दुर्दान्त दानव के भी छक्के छुड़ा दिये। रामायण की पूरी घटना का प्रधान केन्द्र बिन्दु है "सीतायाश्चरितं महत्"। महर्षि वाल्मीकि ने इसीलिये रामकथा को "महान् सीता चरित्र" कहा है।

गोस्वामीजी एक पल के लिये भी राम और सीता का पारस्परिक वियोग सह नहीं सके हैं। इसीलिये उन्होंने सीता के निर्वासन वाली कथा को उड़ा ही दिया है और सीता के अपहरण वाली कथा को इस तरह घुमा दिया है कि असली सीता तो पावक में अलक्षित होकर प्रभु के साथ ही रहीं और "ललित नर लीला" के लिये केवल मात्र छाया-सीता का अपहरण हुआ। युगल रूप की उनकी वन्दना भी देखिये कितनी मार्मिक है—

> गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
> वन्दहुँ सीताराम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥

अब कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा के चरित्र देखिये। जिस तरह जीव के साथ ज्ञानवृत्ति, भाववृत्ति और क्रियावृत्ति का अभिन्न सम्बन्ध रहा करता है उसी प्रकार दशरथ के साथ उन तीनों पटरानियों का सम्बन्ध जुड़ा हुआ था। जब तक तीनों में सन्तुलन है तभी तक जीव को सुख शान्ति रहती है। भाव ने यदि ज्ञान से बगावत करके अपना प्रेयपूर्ण स्वार्थ साधना चाहा तो जीव का मरण समझिये। क्रिया ज्ञानानुगामिनी भी होती है और भावानुगामिनी भी। सुमित्राजी के दो पुत्र इसका संकेत देते हैं। परन्तु यदि ज्ञान और भाव विपरीत दिशाओं में हों तो क्रिया को ज्ञानानुसारिणी होना ही श्रेयस्कर है। भाव-प्रवण

कैकेयी ने जब ज्ञानमयी कौशल्या का विरोध किया तब क्रियाशील सुमित्रा ने कौशल्या ही का साथ दिया था।

माता सुमित्राजी कितनी व्यवहार कुशल और क्रियाशीला थीं इसके उदाहरण मानस के कई स्थलों पर मिल जाते हैं। चित्रकूट के प्रसङ्ग में जब अवध और मिथिला के रनिवास का सम्मिलन हुआ था, सुमित्राजी ने ही बातों के सिलसिले को दो बार वांछनीय मोड़ दिया था। राम के यौवराज्य के अवसर पर "चौकें चारु सुमित्रा पूरी, मनिमय विविध भाँति अतिरूरी।" राम की सेवा में क्रियाशीलता के साक्षात् अवतार लक्ष्मण के रूप से उन्होंने अपना ज्येष्ठ अंश अर्पित कर दिया था। वीर माता के अपने परम प्रिय पुत्र के प्रति उद्गार देखिये —

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय रामु वन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥

× × ×

पूजनीय पिय परम जहाँ ते। सब मानियहि राम के नाते॥

× × ×

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई॥

× × ×

राग रोषु इरिसा मदु मोहू। जनि सपनेहु इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार विकार विहाई। मन क्रम वचन करेहु सेवकाई॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। संग पितु मातु राम सिय जासू॥
जेहि न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

गीतावली में इस वीर माता के सम्बन्ध की बड़ी सुन्दर पंक्तियाँ दी हैं गोस्वामीजी ने। जिस माता का हृदय हनुमानजी के मुख से यह सुनकर भी कि समरभूमि में उसका प्राणोपम पुत्र मरणोन्मुख पड़ा हुआ है, इस विचार से प्रसन्न हो रहा है कि वह पुत्र राम के काम आया और आवश्यकता पड़े तो दूसरा पुत्र भी सेवा के लिये भेजा जा सकता है, वह निःसन्देह बड़ा पवित्र और बड़ा ऊँचा हृदय है।

कैकेयी माता के भावों का असन्तुलन ही रामायण के इतने बड़े काण्ड का उत्तरदायी ठहराया गया है। परन्तु गोस्वामीजी ने इस असन्तुलन के लिये उनको नहीं किन्तु सुरमाया को दोषी ठहराया है। वस्तुतः गोस्वामीजी ने इस मामले में तो प्रभु इच्छा ही को प्रधानता देकर सभी को दोषमुक्त कर दिया है।

कैकेयी को भड़काया मन्थरा ने, मन्थरा को भ्रमाया गिरा ने, गिरा को भ्रमाने के लिये भेजा देवताओं ने और देवताओं ने इसके लिये ऐसा सुन्दर तर्क दिया कि गिरा को जाना ही पड़ा। उनका तर्क था—"बिसमय हरस रहित रघुराऊ, तुम जानहु रघुवीर सुभाऊ। जीव करमबस सुख-दुख भागी, जाइय अवध देवहित लागी।" वनगमन से राम को तो कष्ट होने वाला नहीं क्योंकि वे हर्ष विषाद से परे हैं। रहे अन्य जीव, सो यदि अवधवासी दुखी होंगे तो वनवासी लोग सुखी भी तो होंगे। वे सब जीव लोग तो अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुख का भोग करते ही रहते हैं। यही तो विधि का विधान है। अतएव इस अवश्यंभावी विधि-विधान में यदि गिरा (मन्थरा अथवा कैकेयी भी) निमित्त रूपा बन गई तो उसे दोष कैसे दिया जाय।

भावप्रवण कैकेयी के पुत्र-स्नेह की आड़ लेकर ही उनसे इतना भीषण कृत्य कराया गया। उन्होंने अपने लिये कोई सुख साधनपूर्ण वर नहीं माँगा। जो किया अपने पुत्र की स्वत्व-रक्षा के लिये किया और वह भी उस परिस्थिति में जब उन्हें विश्वास दिला दिया गया था कि उनके प्रिय पुत्र का सम्पूर्ण स्वत्वाधिकार आसन्न भविष्य ही में छिन जाने वाला है। कौन भावशीला माता इस परिस्थिति में ऐसा ही न कर उठावेगी ? कैकेयीजी ने स्वप्न में भी अनुमान न किया होगा कि राजा दशरथ सचमुच ही मर जायँगे। भरत को राज्य देकर राजा दशरथ स्वतः वन की ओर प्रस्थान कर सकते थे। परन्तु आजकल की हृदयगति अवरोध के ढङ्ग की आकस्मिक मृत्यु से उनका शरीर छूट गया और कैकेयी के सब मनसूबे सहसा विफल हो गये। भरत के दृढ़ निर्णय ने कैकेयी को अपनी भूल सुझाई और वे अन्य रानियों के साथ दशरथ की चिता में जल मरने को तैयार हो गईं (भरत मातु सब गहि पद राखीं, रहीं राम दरसन अभिलाखीं)। उन्होंने भरपूर पश्चात्ताप किया। (कुटिल मातु पछितानि अघाई।) उनका वश चलता तो वरों की बात कटवाकर छोड़तीं परन्तु राजा दशरथ तो समाप्त हो चुके थे। अब वरों को काटता कौन ? उनके सिर तो अमिट कलंक का टीका लगा ही, परन्तु यह उन्हीं के वरों की शक्ति थी जिसने भारत का भाग्य पलट कर दक्षिण को निष्कंटक किया और भरत के समान उज्ज्वल चरित्र रत्न विश्व के इतिहास में चमकाया। गोस्वामीजी ने उनके मुँह से ठीक ही कहलाया है, "काहु कहौं सखि सूधि सुभाऊ, दाहिन बाम न जानहुँ काहू। अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह।" उनसे यदि राम का तथा अयोध्या का किसी प्रकार अहित हुआ तो इसे विधि-विधान के अतिरिक्त और क्या कहा जाय।

कौशल्या माता का चरित्र परम ज्ञानमय है। उनमें भाव प्रवणता की कमी हो यह बात नहीं है परन्तु उनकी भावनायें सदैव उनके विवेक से अनुशासित रहीं हैं। मनु ने तो प्रभु को पुत्र रूप में ही माँगा था परन्तु शतरूपा ने भक्तों का सुख, स्नेह, विवेक और आचरण सभी कुछ माँग लिया था। वही विवेकशीला शतरूपा इस जन्म में कौशल्या हुई थीं। कौशल्याजी की निम्नलिखित पंक्तियों में उनकी भावप्रवण वत्सलता की सरलता एवं विवेकमयी विशालता बरबस बरसी पड़ रही है—

राजु देन कहि दीन्ह वन, मोहिं न सो दुखलेसु।
तुम्ह बिनु भरतहिं भूपतिहिं, प्रजहिं प्रचण्ड कलेसु॥

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

× × ×

जौं सुत कहौ संग मोहिं लेहू। तुम्हरे हृदय होइ सन्देहू॥

× × ×

यह विचारि नहिं करउँ हठ, झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ॥

× × ×

अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥
अस विचारि सोइ करहु उपाई। सबहिं जिअत जेहिं भेंटहु आई॥

× × ×

बहु विधि विलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी।

यह था माता का हृदय जो वात्सल्य स्नेह का समुद्र होते हुए भी विवेक से पूर्णतः अनुशासित था।

गोस्वामीजी की कौशल्या माता को यदि आप वाल्मीकीय रामायण की कौशल्याजी से मिलान करेंगे तो तुरन्त पता चल जायगा कि गोस्वामीजी ने नारी पात्रों को कितना संवार कर चित्रित किया है। वाल्मीकीय रामायण की कौशल्याजी अपने सुख की बड़ी चिन्ता करती हैं और कैकेयी के प्रति पूरा सौतिया डाह दिखाती हैं। वे राम से कहती है—

त्वयि सन्निहितेऽप्येव महमासं निराकृता
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि॥

अर्थात् तुम्हारे रहते तो इस कैकेयी के द्वारा मेरी यह हालत हो रही थी, अब तुम्हारे चले जाने पर तो मेरापूरा-पूरा मरन हो जायगा, इस तरह

मेरी बुरी हालत करदी जायगी । अतएव—

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं गुरु स्वधर्मेण सुहृत्तया च ।
न त्वानुजानामि न मां बिहाय सुदुःखितामर्हसि पुत्र गन्तुम ॥

"मैं तुम्हें जंगल जाने की इजाजत नहीं देती । मुझ दुःखिनी को इस तरह छोड़कर तुम जा नहीं सकते । जैसे पिता तुम्हारे श्रेष्ठ हैं वैसे मैं भी तो तुम्हारी श्रेष्ठ हूँ । क्या पिता का आदेश ही पालनीय है माता का आदेश पालनीय नहीं है ?"

अब इन पंक्तियों से गोस्वामीजी की उपर्युक्त पंक्तियों का मिलान कीजिये । मानस की कौशल्या माता अपने सुख के लिये नहीं किन्तु भरत, भूपति और प्रजा के सुख के लिये चिन्तित हैं । "तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहिं प्रजहिं प्रचण्ड कलेसु ।" वे अपने में और कैकेयी जी में मातृत्वपद के सम्बन्ध का कोई अन्तर नहीं मानतीं । सौतिया डाह की कौन कहे सौत का भाव भी उनके मन में नहीं है । वे कहती हैं कि यदि केवल पिता की आज्ञा रही हो और माता कैकेयी की आज्ञा न रही हो तो वन न जाओ क्योंकि माता का दर्जा पिता से ऊँचा होता है । परन्तु यदि पिता दशरथ और माता कैकेयी दोनों ने आदेश दिया है तो वन अवश्य जाओ । ऐसा वन सैकड़ों अयोध्याओं के राज्य से बढ़कर होगा । गोस्वामीजी द्वारा चित्रित यह चरित्र कितना उज्ज्वल हो उठा है । मानस की तीनों पटरानियाँ राम भरत और लक्ष्मण सरीखे नर-रत्नों की माता कहीं जाने की पूरी क्षमता रखती हैं ।

रामकथा को विविध प्रकार के मोड़ देने वाली नारियाँ भी तीन हैं जिन्हें हम निकृष्ट नारियाँ ही कह सकते हैं । पहिली है ताड़का जिसके कारण राम को विश्वामित्र-आश्रम में आना पड़ा और फिर जिसके परिणाम में वे जनकपुरी ले जाये गये । जहाँ उनका विवाह सीताजी के साथ हुआ । दूसरी है मन्थरा जिसके कारण उनका यौवराज्य खण्डित हुआ और उन्हें बन जाना पड़ा । तीसरी है सूर्पणखा जिसके कारण सीताहरण और परिणामतः रावण वध हुआ । ताड़का है मूर्तिमन्त क्रोध, मन्थरा है मूर्तिमन्त लोभ और सूर्पणखा है मूर्तिमन्त काम । काम क्रोध और लोभ ही तो अपने तीन महाशत्रु हैं । इनका दमन नितान्त आवश्यक है । पुरुष प्रतीक होते तो गोस्वामीजी ने कठोरता से निग्रह कर दिया होता । बालि काम का प्रतीक था और रावण क्रोध का । उन दोनों का सरोष वध किया ही राम ने । परन्तु नारी होने के कारण गोस्वामीजी ने इन तीनों की बातें जरा नरमी से ही कही हैं । ताड़का की शक्ति विकृत थी इसीलिये वह एकदम आततायिनी बनकर 'क्रोध करि धाई' । किसी-किसी परिस्थिति में आततायिनी नारी का वध भी अनिवार्य हो जाता है अतएव राम ने "एकहि बान प्रान हरि लीन्हा" परन्तु "दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा" ।

दीन शब्द पर ध्यान दीजियेगा। क्या किसी पुरुष वर्गीय राक्षस के लिये भी इस शब्द का प्रयोग किया है गोस्वामीजी ने ? दो ही पंक्तियों में ताड़का का उल्लेख समाप्त। मन्थरा की बुद्धि विकृत थी। वह 'मन्द मति' थी। "नाम मन्थरा मन्दमति चेरि कैकेयी केरि।' परन्तु फिर भी उसके कुकृत्यों का दोष गोस्वामीजी ने 'गई गिरा मति फेरि' की ओर फेर दिया और जब शत्रुघ्न उसे "लगे घसीटन धरि धरि चोटी" तो गोस्वामीजी तुरन्त लिखते हैं "भरत दयानिधि दीन्ह छुड़ाई"। सूर्पणखा की भावना विकृत थी। वह 'दुष्ट हृदया' थी। "दुष्ट हृदय दारुण जिमि अहिनी"। परन्तु फिर भी वह तब तक दण्डनीय न समझी गई जब तक कि उसने सीताजी को डराने वाला भयङ्कर रूप नहीं धारण किया। आततायिनी बनकर इसने भी अपनी परिस्थिति के अनुकूल दण्ड पाया। कुल मर्यादा की नाक कटा देने वाली और उपदेश की बात न सुनने वाली सूर्पणखा के नाक कान बेकार ही थे। उसके रूप गर्व को और बढ़ा देने वाले इन अवयवों के रहने से लाभ ही क्या था। यों तो वह कामरूपिणी थी, अतएव अपना रूप बदल भी सकती थी परन्तु नसीहत के रूप में एक बार तो उसका रूप-गर्व खण्डित कर देना आवश्यक था। राम अथवा लक्ष्मण ने इससे अधिक कुछ नहीं किया। उसी दुष्ट हृदय दारुण जिमि अहिनी को प्रभुकार्य का निमित्त बनाकर गोस्वामीजी उसके मुँह से रावण को इतने सुन्दर धार्मिक तथा नीतिपूर्ण उपदेश दिलाते हैं जो एक हरिभक्त वैष्णव ही दे सकता था। यह था गोस्वामीजी का दृष्टिकोण ऐसी विकृत शक्ति, विकृत बुद्धि और विकृत चित्त वाली नारियों के भी प्रति।

जब निम्न कोटि की इन कुनारियों के प्रति भी गोस्वामीजी का यह सद्भाव था तब तारा और मन्दोदरी सरीखी उच्चकोटि की अरि-नारियों के विषय में तो कहना ही क्या है। वे अरि नारियाँ हुईं तो क्या हुआ, अनार्या बानरी अथवा निशाचरी हुईं तो क्या हुआ। गोस्वामीजी ने उनके विशुद्ध हृदय का, और उस हृदय में प्रतिफलित हो उठने वाले सत्य का (अर्थात् यह कि राम से बैर न करने ही में कल्याण है) बराबर ध्यान रखा है और उनके सम्मान के प्रति सदैव जागरूक रहे हैं। जो रावण अपने सगे भाई को लात मार सकता है वही रावण मन्दोदरी की कठोर से कठोर कटूक्तियाँ चुपचाप सह लेता है और नारी सम्मान के प्रतिकूल कोई चेष्टा तक नहीं करता। प्रकृत अभिमानी बालि भी तारा की सलाह को झिड़कियों से नहीं किन्तु मीठे तर्कों से टालकर आगे बढ़ा था परन्तु इस पर भी उसे राम की झिड़की सुननी पड़ी। "मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना, नारि सिखावन करेसि न काना ?"

यह है मानस के नारी पात्रों का चरित्र-चित्रण।

मानस के अन्य प्रधान नर पात्र

रामचरित मानस प्रधानतः राम की चर्चा के लिये कहा गया है। वह प्रधानतः पुराण ग्रन्थ है न कि काव्य-ग्रन्थ। अतएव उसमें राम के अतिरिक्त राम भक्तों ही की चर्चा हुई है न कि काव्य दृष्टि से उपयुक्त अन्य पात्रों की।

नर पात्रों में प्रधान तो भगवान राम हैं ही। उनके बाद नम्बर आता है भरत और लक्ष्मण का। फिर जगद्गुरु शङ्कर का—जो राम-कथा के आदि-प्रवर्तक हैं। इन सब की चर्चा हमने अन्यत्र कर ही दी है। शङ्करजी के अंशावतार हनुमान महावीर भी परम उल्लेखनीय हैं। हनुमानजी के साथ ही विभीषण और भुशुण्डि जी का भी भक्ति के क्षेत्र में अच्छा स्थान है। फिर दशरथजी और जनकजी का कहना ही क्या ? उन्हें तो भगवान् राम तक ने पूज्य पद दिया है। नारी पात्रों में सीताजी का चरित्र इतना विशद है कि अन्य सब स्त्री पात्रों के उज्ज्वल पक्ष का प्रायः उनमें समाहार हो जाता है। मानस के नवाह्न-पाठ का जो क्रम है उसमें एक-एक दिन के क्रम से क्रमशः इन्हीं नौ पात्रों में से एक-एक की चर्चा विशिष्ट रूप से हुई है। पहिले दिन का पाठ रामावतार के पूर्व तक के प्रसङ्ग का है। उतनी कथा के प्रधान भक्त पात्र हैं शङ्कर जो श्रवणानुरागी अथवा सत्संगानुरागी हैं। दूसरे दिन का पाठ धनुष-यज्ञ के पूर्व तक बढ़ता है जिसमें प्रधान स्थान मिला है विदेहनन्दिनी सीता को जिन्हें हम कीर्तनानुरागिणी अथवा हरिकथानुरागिणी कह सकते हैं। तीसरे दिन का पाठ राम-विवाह की पूर्णता तक चलता है जिसमें प्रमुखता स्वभावतः दशरथजी की मानी जायगी जो निश्चय ही स्मरणानुरागी तथा अमानित्वयुक्त गुरुपदपंकज सेवी हैं। इसी प्रकार चौथे दिन के प्रमुख पात्र लक्ष्मण, पाँचवे के भरत, छठे के जनक, सातवें के हनूमान, आठवें के विभीषण और नवें दिन के पाठ में उल्लेखित प्रमुख भक्तपात्र भुशुण्डिजी हैं। ये नवोंपात्र यदि एक ओर भागवत प्रोक्त नवधा भक्ति (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन) के प्रतीक हैं तो यही दूसरी ओर शबरी के प्रति कही हुई नवधाभक्ति ('प्रथम भगति सन्तन कर संगा' आदि) के भी प्रतीक हैं। इन पात्रों के चरित्रों का मनन करना मानसानुरागियों के लिये निःसन्देह बहुत कल्याणप्रद होगा और गुणग्रहण की दृष्टि से बहुत लाभकारी होगा।

फिर वशिष्ठ, विश्वामित्र, नारद, भरद्वाज सदृश ऋषि पुंगवों, निषाद-

राज गुह, केवट, जटायु, सुग्रीव अङ्गद जाम्बवान सदृश वन्यों एवं बालि रावण और मेघनाद सदृश विद्वेषियों (वैर भाव से स्मरण करने वालों) के चरित्रों से भी मनुष्य बहुत कुछ सीख सकता है।

अपने पात्रों के चरित्रों को माँज कर उज्ज्वल बनाने में गोस्वामीजी बड़े सिद्धहस्त रहे हैं। उन्होंने दशरथ का चरित्र बड़ा उज्ज्वल बनाया है। अन्य रामायणों में चित्रित दशरथ-चरित्र की अपेक्षा मानस के दशरथ का चरित्र बड़ा निर्मल और मर्मस्पर्शी हुआ है। उनकी उत्कट हार्दिक अभिलाषा रही है कि राम बन न जायँ परन्तु उन्होंने राम को कभी कोई ऐसी हिकमत नहीं सुझाई जो उनके दिए हुए वचनों को तोड़ने में बढ़ावा देने वाली कही जासके। वाल्मीकि के दशरथ ने राम से कहा—"मुझे जबरदस्ती कैद करलो और राजा बन जाओ।" मानस के दशरथ यह बात कभी कह ही नहीं सकते थे।

राजा दशरथ का लोक व्यवहार अत्यन्त उत्तम था। जिसे इन्द्र भी अर्धासन देने को उत्सुक हो उसके लोक व्यवहार का क्या कहना। "दशरथ धन सुनि धनद लजाई। ऋधि सिधि सम्पति नदी सुहाई, उमँगि अवध अम्बुधि पहँ आई। नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे, लोकपु करहिं प्रीति रुख राखे, त्रिभुवन तीनि काल जगमाहीं, भूरि भाग दशरथ सम नाहीं।" जो उन्होंने कैकेयी के सामने कहा था कि "कहु केहि रंकहि करहुँ नरेसू, कहु केहि नृपहिं निकासहुँ देसू, सकउँ तोर अरि अमरउ मारी, काह कीट बपुरे नरनारी" वह अतिशयोक्ति पूर्ण कथन न था, फिर भी अपने लोक व्यवहार में उन्होंने कभी ऐसी निरंकुशता नहीं बरती। राम के यौबराज्य के समय भी वे कहते हैं—"जौ पाँचहि मन लागहि नीका, करहु हरषि हिय रामहिं टीका।" 'भारत' की वही पाँचजन्य संस्कृति रही है जिसे आज 'जनतंत्रवाद' कहा जा रहा है परन्तु जिसका समादर रामायण के दशरथ कर रहे हैं और जिसका शङ्ख महाभारत के कृष्ण ने भी फूँका था। फिर प्रजा क्यों न दशरथ को प्राणों के समान चाहती। गुरु वशिष्ठ से और तपोधन विश्वामित्र से उन्होंने किस प्रकार नम्रता पूर्ण व्यवहार किया है तथा उन्हें कितना ऊँचा समादर दिया है यह उपयुक्त प्रसङ्गों में देखिये। रात्रि के चौथे पहर ही में उठकर वे दैनिक कार्य प्रारंभ कर देते थे (पिछली पहर भूप नित जागा) और अथक परिश्रम से कभी डरते न थे। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे लोक व्यवहार में आसक्त हो चुके थे। उनका लोक व्यवहार उत्तम से उत्तम था फिर भी वे उसमें अनासक्त थे। यह इससे सिद्ध होता है कि एक बार जब उन्होंने सहज ही एक दर्पण में अपने मुख की प्रतिच्छाया देखकर अपना मुकुट ठीक करना चाहा तब उन्होंने उस प्रतिच्छाया में देखा कि कान

के पास कुछ बाल सफेद हो चले हैं, मानों वे घोषणा कर रहे हैं कि अब बुढ़ापा आ चला। अतएव लोक व्यवहार के लिये शीघ्र ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दो।" जो काँखते कराहते हुए भी लोक व्यवहार की अपनी पद-प्रतिष्ठा को जकड़े रखना चाहते हों वे दशरथ का यह पक्ष देखें।

दशरथ का रागद्वेष बड़ा उदात्तीकृत था। उनका द्वेष किसी प्राणी अथवा किसी वस्तु से न होकर आलस्य सरीखे मानव मन के शत्रुओं के प्रति रह गया था। और उनका राग यों तो प्राणिमात्र में प्रेम का रूप धारण करके फैल चुका था क्योंकि हाथी का शिकार करते-करते धोखे में एक मुनि कुमार की हत्या करके उन्होंने बहुत गहरा सबक पा लिया था। परन्तु राम में आकर वह एकदम पुँजीभूत हो गया था। राम के बिना वे रह न सकते थे। राम का सन्देश लाने वाले जनक-दूत उनके "भैया" बन गये (भैया कहहु कुसल दोउ बारे)। राम का आतिथ्य करने वाले जनकराज की बड़ाई बखानने में वे स्वतः 'भाट' बन गये (बहु विधि भूप भाट जिमि बरनी)। राम को कुछ दिनों के लिए माँग कर ले जाने वाले महामुनि उनकी आँखों में कुछ देर के लिये तो खटक ही उठे थे। राम के वन गमन प्रसङ्ग में भी सुमन्त से उनकी जिह्वा "फिरेहु गये दिन चारि" ही कह सकी। दिनचारी सूर्य के अस्त होते-होते घर लौट आना। यह संकेत। इससे अधिक का वियोग असह्य होगा। यह भाव। ऐसी अपूर्व प्रीति दशरथ की थी रामजी में। परमात्मा के प्रति इसी प्रकार की होनी चाहिए।

दशरथ की सूझबूझ अथवा विवेकनिष्ठा भी बहुत ऊँचे दर्जे की थी। वे कर्तव्य का निर्णय करना भी जानते थे और उस निर्णीत कर्तव्य पर दृढ़ रहना भी जानते थे।

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचनु न जाई॥
नहिं असत्य सम पातक पुँजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥
सत्यमूल सब सुकृत सुहाये। वेद पुरान विदित मुनि गाये॥

ऐसा उन्होंने कहा ही नहीं किन्तु करके भी दिखा दिया। मनुष्य में इन्द्रियाँ हृदय और बुद्धि तीनों हैं जिनके कारण वह लोक व्यवहार, रागद्वेष और सूझ-बूझ के क्षेत्र में अग्रसर होता है। जो इन तीनों को न केवल उदात्त बनाता हुआ किन्तु इन तीनों में सन्तुलन बनाये रखता हुआ आगे बढ़ सकता है वही धन्य है। राम सीता भरत लक्ष्मण सब में यह सन्तुलन था। बेचारे दशरथजी में यह सन्तुलन न रह पाया इसीलिये उन्हें जीवन से हाथ धोना पड़ा। उनका प्रेम भी बड़े ऊँचे दर्जे का था परन्तु उनकी कर्तव्यनिष्ठा भी कम ऊँचे दर्जे की नहीं

कही जा सकती। हाँ उन्होंने वर देने का वचन दे दिया यह जाने बिना कि क्या माँगा जायगा। यह सूझबूझ का असन्तुलन था। परन्तु एक बार जो वचन दे दिया उसका निर्वाह उन्होंने प्राण देकर भी पूर्ण किया है यह उनका सत्यप्रेम था। एक ओर सत्यप्रेम और दूसरी ओर रामपद प्रेम अथवा एक ओर कर्तव्य की कठोरता और दूसरी ओर प्रेम की मृदुता इन दोनों का कैसा घोर द्वन्द्व दशरथ के जीवन में उपस्थित हुआ और उस द्वन्द्व को निभाने में किस प्रकार प्राणों की आहुति देनी पड़ी है दशरथ को, यही तो उनके जीवन में दर्शनीय है। दशरथ इसी द्वन्द्व के कारण महामहिम हो उठे हैं। कर्तव्य और उदात्तप्रेम की बलिवेदी पर जो अपने प्राणों का मोह निछावर कर सकता है वही महामहिम है।

बन्दहुँ अवध भुवाल, सत्य प्रेम जेहि रामपद।
बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥

जनक का जीवन अपेक्षाकृत सन्तुलित कहा जा सकता है। राम को देख कर उन्हें भी कहना पड़ा 'सहज विराग रूप मन मोरा, थकित होत जिमि चन्द चकोरा' 'इन्हहिं विलोकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्म सुखहिं मनु त्यागा।' राम की शक्ति उनके इन्हीं गुणों के कारण तो उनके यहाँ पुत्री रूप से प्रकट हुई। प्रेम और कर्तव्यनिष्ठा की ऊँचाई रखते हुए भी उन्होंने अपना लोकव्यवहार कहीं शिथिल न होने दिया। अयोध्या के घटना चक्र की उन्होंने उपेक्षा रत्ती भर भी न की। इधर भरत चित्रकूट चले और उधर उन की खुफिया पुलिस के लोग समाचार देने तिरहुत पहुँचे। 'भरत चित्रकूटहिं चले, चार चले तिरहूति'। समाचार सुनते ही जनक तुरन्त सदल बल चित्रकूट की ओर चल पड़े। राजनैतिक प्रतिस्पर्धा में गृहकलह और बन्धु विरोध कोई असामान्य बात नहीं रहा करती ऐसा अवसर बचाने का ही प्रधान उद्देश्य लेकर जनक वहाँ पहुँचे थे। परिस्थिति का अध्ययन कर उन्होंने भरत चरित्र की महिमा समझी परन्तु अपनी सूझबूझ के कारण उन्होंने राम के मन्तव्य ही को संबल ठहराया और इस प्रकार चित्रकूट सभा के अन्तिम निर्णय में एक बड़े सहायक हुए। योग और भोग का सामञ्जस्य अपने जीवन में कैसे किया जाता है, ब्रह्मविचार और प्रभु प्रेम को एक साथ लेकर कैसे चला जा सकता है, राजर्षि होते हुए भी ब्रह्मर्षियों तक का गुरुपद कैसे प्राप्त किया जा सकता है—यह सब देखना हो तो जनकजी का जीवन-चरित्र देखा जाय।

हनुमत चरित्र की विशेषता पर तो हम सुन्दर काण्ड विषयक चर्चा के समय कुछ संकेत देंगे ही। राम-परिवार के न होने पर भी वे अपने

गुणों के कारण राम पंचायत में सम्मिलित हैं। मारुति की पूजा के बिना राम की पूजा अधूरी मानी जाती है। एक उपनिषद में तो यहाँ तक कहा गया है कि रामजी ने लोक के भरण पोषण का भार अर्थात भक्तों की मनोवांछा पूरी करने की सामर्थ्य अपने परम भक्त पवनात्मज हनुमानजी को सौंप दी है। गोस्वामी जी कहते हैं। :—

बन्दहु पवन कुमार, खलबन पावक ज्ञान घन।
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर।।

यह सोरठा उनके व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश डाल रहा है। वे कुमार हैं, आजन्म ब्रह्मचारी हैं और पवन की भाँति प्राणवान तथा अप्रतिहत गति वाले हैं। कहा जाता है कि वे अजर अमर हैं और अमोघ रघुपति बाण की तरह वायुवेग से उड़ सकते हैं, ऐसी अद्भुत योग सिद्धियाँ उनमें हैं। प्रभंजन ने रुद्र का अंश केसरी-पत्नी माता अंजना के गर्भ तक पहुँचाया था इसलिये वे प्रभंजन पुत्र कहे जाते हैं। इन सभी अर्थों में वे पवन-कुमार हैं। जिस पाठक को इनमें से जितने अर्थ रुचें उतने ही वह स्वीकार करले।

परम्परागत इतिहास साक्षी है कि हनुमानजी खलबन पावक रहे हैं। बड़े-बड़े खल राक्षसों को उन्होंने मटियामेट कर दिया है। लंका में जैसा पावक काण्ड उन्होंने उपस्थित किया वह विश्व विश्रुत है। कवितावली में उसका वर्णन देखा जाय। फिर कैसे करारे मुक्के होते थे उनके कि रावण तक भी दहल उठा था। जो राम के पौरुष की भी उपेक्षा करने में नहीं चूका है वह रावण हनुमान जी के पौरुष का कई बार लोहा भी मानता और उल्लेख भी करता है। बहादुरी वह है जिसकी प्रशंसा शत्रु के मुँह से भी निकल पड़े। शक्ति और शौर्य के इतने प्रकाण्ड भाण्डार थे वे जिसकी कोई सीमा कभी देखी ही न जा सकी।

पवन कुमार में पशुबल ही असीम रहा हो यह बात नहीं। वे ज्ञानमय भी थे अर्थात बुद्धिबल और चरित्र बल भी उनमें असीम था। हमारे यहाँ ज्ञान का तात्पर्य केवल बुद्धि तक सीमित नहीं है। शंकराचार्य ने कहा भी तो है कि "तद्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणाम" अर्थात ज्ञान वह है जो इन्द्रियों का प्रमाद शान्त कर दे। सच्चे ज्ञान का सबसे बड़ा लक्षण है अहंकार-राहित्य। हनुमानजी इतने शक्तिशाली थे परन्तु अभिमान उन्हें छू तक नहीं गया था। उन्होंने राम के वर-दूत का कार्य कितनी सुन्दरता और चतुरता से निभाया है यह सुन्दर काण्ड में देखते ही बनता है। उन्होंने किस चतुराई से सुग्रीव का काज संवारा, विभी-षण को अपना मित्र बना कर किस प्रकार सगुण शरीर धारी राम की ओर उन्मुख किया, और राम के सम्मुख समय समय पर किस खूबी की काव्यमय

उक्तियाँ कहीं और आवश्यकतानुसार बातों का रुख पलटा है। यह सब किष्किन्धा, सुन्दर और लंका काण्डों में दर्शनीय हैं। वाल्मीक रामायण साक्षी है कि वे बड़े साक्षर पण्डित थे। वानर कुल में भी जो विद्या और ज्ञान का ऐसा धनी हो सकता है वह अनायास ही जगद्वन्द्य भी हो सकता है।

हनुमान जी की चौथी विशेषता है कि "जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर" उन्होंने राम को अपने हृदय में सदा के लिये बसा लिया है। वे शक्ति और ज्ञान ही में अग्रगण्य नहीं किन्तु भक्ति में भी अग्रगण्य हैं। वस्तुतः भक्ति में उनकी अग्रगण्यता तो सर्वोपरि है। अन्यत्र कथाओं में है कि एकबार तो उन्होंने हृदय चीर कर भी दिखा दिया था कि देखलो राम की झाँकी वहाँ है कि नहीं। 'राम की सत्ता ही सब कुछ है मेरी सत्ता कहीं कुछ नहीं' यह भाव हनुमान जी के मन में सदा सर्वदा विराजमान रहा। अपने प्रभु की सत्ता के सम्मुख सर्वथा विलीन कर देना—यह साधना का उत्कृष्टतम लक्षण है। उन्हें आप प्रभु का ही मानस विचार अथवा मनोबल समझिये। यहाँ एक बात और है। वे राम के अनन्य उपासक थे परन्तु किस रूप के ? बाल रूप के ? युगल रूप के ? चिदचिद विशिष्ट रूप के ? सपार्षद रूप के ? नहीं, नहीं, नहीं, नहीं, नहीं। इनमें से किसी भी रूप से उनका विरोध नहीं था। सभी तो उन के परम आराध्य प्रभु के रूप थे अतएव सभी में उनकी श्रद्धा थी, सभी में उनका प्रेम था। परन्तु उनके हृदय आगार में जो राम बसते थे वे 'शरचाप धर' राम थे। चाप अथवा कार्मुक है कर्मयोग का प्रतीक और अप्रतिहत लक्ष्यभेदी बाण है अप्रतिहत गति वाले ज्ञानयोग का प्रतीक। स्वतः राम का सौंदर्य है भक्ति योग का प्रतीक। हनुमानजी का इष्ट आराध्य अतएव एकांगी नहीं किन्तु सर्वाङ्गी था। वह सर्वोदय का मूर्तिमन्त आदर्श था। फिर, शरचाप धर आराध्य होगा कर्म का अनुरागी आराध्य न कि कर्म से विरागी आराध्य। हमारे इष्ट प्रभु जगत की रक्षा में तत्पर हैं। वे सच्चे अर्थों में विश्वंभर हैं। ऐसा ध्यान भक्त को लोक कल्याण के पथ से हटने नहीं देता। हनुमान जी ने ऐसे ही ध्यान के कारण परहित के लिये अपना निजत्व सदैव अर्पित रखा। वह निजत्व आप ही अर्पित हो गया क्योंकि वे तो इतने प्रभुमय होगये थे कि उन्हें निज पर के बोध का अवकाश ही कहाँ था।

भौतिक शक्ति (खलवन पावक) आत्मिक शक्ति (ज्ञानघन) और दैविक शक्ति (जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर) का इतना सुन्दर सामञ्जस्य था हनुमानजी में कि उनका जीवन भी अपने ढङ्ग का निराला और अनुकरणीय हो जाता है।

गोस्वामीजी ने नारद को एक कलहकारी, मायाचारी के रूप में नहीं

किन्तु एक सत्य परायण लोक हितैषी परम कारुणिक भक्तशिरोमणि सर्वत्र सम्पूज्य देवर्षि के रूप में चित्रित किया है। यही नारदजी का वास्तविक रूप है। उनकी गति निर्बाध है, उनका प्रवेश ब्रह्मलोक से लेकर राक्षस कुलों तक है और सब कहीं वे सम्मान भाजन माने गये हैं। क्योंकि वे न तो कभी झूठ बोले और न हित की बात बताने में किसी के सामने आगा-पीछा किया। वशिष्ठ और विश्वामित्र भी नारद की तरह के महर्षि हैं यद्यपि वे देवर्षि न हो कर ब्रह्मर्षि रहे अतएव इसी लोक के मर्त्य प्राणी की तरह चित्रित किये गये हैं। परन्तु दोनों ही त्रिकालदर्शी थे "जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना।" दोनों ही व्यवहार तथा परमार्थ दोनों मार्गों के निष्णात पण्डित थे। दोनों को ही 'गुरु' का सम्मान्य पद दिया गया है। जिस श्रेष्ठ पुरुष की प्रेरणा से जीवन उज्ज्वल होकर भविष्य चमकादे वही गुरु है। राम की शिक्षा दीक्षा के प्रथम गुरु वशिष्ठ और द्वितीय गुरु हैं विश्वामित्र। शास्त्रज्ञान गुरु वशिष्ठ से प्राप्त हुआ और शस्त्रज्ञान गुरु विश्वामित्र से। अयोध्या की राज्यव्यवस्था के सँवारने में यदि वशिष्ठ का योग रहा है तो रघु-कुल और निमिकुल का सम्बन्ध जोड़ कर पूरे भारत का भाग्य सँवारने में विश्वा-मित्र का योग रहा है। किस हिकमत से वे राम को लाये, उनके बल पौरुष के प्रमाण पाकर उन्हें बला-प्रतिबला नाम की विद्याएँ दीं, उन्हें मिथिला लिवा ले गये और सीतादर्शन एवं धनुर्भङ्ग के अवसर उपस्थित कराये, यह सब विस्तार पूर्वक मानस की पंक्तियों में ही देखा जावे।

गुरु का दर्जा हर किसी को नहीं दिया जा सकता। परन्तु जो उस दर्जे का अधिकारी है उसके प्रति सम्मान भी असाधारण ही दिया जाता था यह अपनी भारतीय परम्परा रही है। 'जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं, ते जनु सकल विभव बस करहीं।' 'गुरु आयुसु सब धरम क टीका।' 'गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान'। आदि-आदि वाक्य इस सम्बन्ध में अवलोकनीय हैं। चक्रवर्ती दशरथ के बालकों के लिये किसी भी फीस पर वशिष्ठ अथवा विश्वा-मित्रजी का 'ट्यूशन' नहीं लगाया गया किन्तु वे बालक उनकी सेवा में अर्पित किये गये और उन्होंने तपोवनों में जाकर विद्याभ्यास किया। 'गुरु गृह पढ़न गये रघुराई, अल्प काल सब विद्या पाई।' गुरु की सेवा सुश्रूषा और उनके सम्मान का इतना ध्यान था भगवान राम को कि नम्रता और शिष्टता की हद करदी थी उन्होंने। इस सम्बन्ध में बालकाण्ड और अयोध्याकाण्ड के प्रसङ्ग देखे जायँ। राम तो राम हैं, स्वतः दशरथ और जनक भी इन गुरुओं के सम्बन्ध में कितने नम्र दिखाये गये हैं। जिसमें हमारे चरित्रको उज्ज्वल बनाकर ऊँचा उठाने की

क्षमता है और इस लोक से लेकर परलोक तक के सम्पूर्ण वैभव दिला सकने की शक्ति है। उसके तो हम जितने अधिक कृपा भाजन बन सकें उतना ही उत्तम। सच्चा कृपा भाजन वही हो सकता है जो श्रद्धा के साथ आत्म-समर्पण कर सके।

न आज उस दर्जे के गुरु ही दिखाई पड़ते हैं और न उस दर्जे का आत्म-समर्पण ही। यह प्रारब्ध का दोष और समय का फेर है। परन्तु जिस दर्जे के गुरु हों उस दर्जे का आत्म-समर्पण तो चाहिये ही। जिससे हमने दो अच्छी बातें सीखीं उसके लिये हम यदि दो मीठे शब्दों का प्रयोग करदें तो हमारा क्या बिगड़ता है। परन्तु आज दिन उद्दण्ड विद्यार्थियों में उतना भी नहीं हो पा रहा है। कारण शायद यह भी हो कि इस बीच अनधिकारी गुरुओं ने शिष्यों की अन्धश्रद्धा का बहुत नाजायज फायदा भी उठा लिया है। परन्तु विवेक बुद्धि द्वारा अब भी इन दोनों में सन्तुलन स्थापित कराया जा सकता है। गुरु के प्रति श्रद्धालु होना ही गुरु की विद्या, गुरु के चरित्र और गुरु के निर्हेतुक प्रेम द्वारा आत्म-विकास कर लेने का बड़ा सुगम साधन है। यह साधन हाथ से खोना न चाहिये। हाँ, यह अवश्य है कि श्रद्धा अन्धश्रद्धा न बनकर विवेकमयी श्रद्धा रही आवे।

सद्गुरु लोग मनाते होंगे कि उन्हें राम का-सा शिष्य मिले परन्तु हम शिष्यगण तो यह भी चाहेंगे कि सद्गुरुओं के रूप में इस भारत को फिर से वशिष्ठ और विश्वामित्र के समान क्रान्तदर्शी महात्मा मिलते रहें जिससे ज्ञान और कर्म के पथ अधिकाधिक प्रशस्त होते रहें।

सद्गुरु शंकर

भारतीय सगुण साधना की दो प्रधान धाराएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। एक है शैव साधना और एक है वैष्णव साधना। दोनों साधनायें मनुष्य की दो भावनाओं की द्योतक हैं। निवृत्ति प्रधान लोग प्रायः शिव उपासक होते हैं और प्रवृत्ति प्रधान लोग विष्णु उपासक। ज्ञान-प्रधान उपासकों को शिव बहुत रुचते हैं और कर्मप्रधान उपासकों को विष्णु। शान्ति की महासमाधि शिव में और आनन्द का सजीव उल्लास विष्णु में है। असामान्यता के उदात्तीकृत रूप शिव हैं और सर्व सामान्यता के सुन्दर पूर्णत्व विष्णु हैं।

पहिले पहल जो लोग वस्तु से प्रभावित हुए। वे सूर्य को सबसे अधिक चमत्कारी मानकर सूर्योपासना में प्रवृत्त हुए और जो लोग कृति से प्रभावित हुए वे दहन को सबसे अधिक चमत्कारी मानकर अग्नि-उपासना में प्रवृत्त हुए। [दहन देखते ही देखते वस्तु का रूप बदल देता है, उसे एक दम मिटा डालता है और सहज ही महा भयङ्कर मृत्यु का स्वरूप धारण कर लेता है।]

सूर्योपासना ही विकसित होकर विष्णु उपासना में परिणत हो गई और क्रमशः अवतारवाद के सहारे राम और कृष्ण के समान पूर्ण पुरुषों की उपासना का रूप धारण कर गई। अग्नि उपासना ही विकसित होकर यज्ञ-पूजा रुद्र पूजा और महा मृत्युञ्जय शिवपूजा के रूप में चल निकली। यह विकास किस प्रकार हुआ इसका इतिहास निःसन्देह बड़ा रोचक है। परन्तु वह इस समय अपने लिये विषयान्तर होगा। इस प्रसङ्ग में केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि मृत्युञ्जय शिव की आर्य कल्पना में मृत्यु की प्रतीक अनार्यों की समाधिशिला भी सम्मिलित हो गई और महाकाल तथा महा-मृत्युञ्जय शब्द हो गये। वे आर्यो और अनार्यों—देवों और दानवों के समान आराध्य होकर महा-देव बन गये। वे केवल रुद्र ही होकर न रहे, शिव भी हो गये क्योंकि संहार के साथ सृजन की क्रिया भी तो बँधी हुई होती है एक का संहार तो दूसरी वस्तु का सृजन। लिंग पूजा को कोई यज्ञ का प्रतीक मानते हैं कोई सृजन के आनन्द का प्रतीक। आर्य तथा अनार्य भावना के अनुसार लोग अपना अपना अर्थ निकाल लें परन्तु है वह प्रतीक हो क्योंकि संस्कृत में लिंग का अर्थ ही होता है चिह्न या प्रतीक।

इसी प्रकार का एक प्रतीक विष्णु का भी है। नर्मदा का गोल गौर शिलाखण्ड यदि शिव का प्रतीक हुआ तो गण्डकी का गोल श्याम शिलाखण्ड विष्णु का प्रतीक हुआ परन्तु विष्णु के साथ अवतारवाद जुड़ा रहने से उनकी उपासना राम और कृष्ण के रूप में ही विशेष हुई। शालग्राम शिला में भी यही भावना प्रधान रही। शिव के साथ अवतारवाद न जुड़ा इसलिये वे अपने प्रतीक रूप में ही विशेष पूजित हुए। नर्मदा का शिलाखण्ड न सही तो मृत्तिका तो सब कहीं उपलब्ध है ही। लोगों ने पृथ्वी का (पार्थिव) शिवलिङ्ग बना कर पूजा की और पूजा के बाद उसका विसर्जन कर दिया। संसार के अणु अणु में तो सदाशिव विराजमान हैं। किसी भी मृत्त-पिण्ड को उनका प्रतीक मानकर उसी में उनकी प्राण-प्रतिष्ठा करली और पूजा के बाद फिर उसका विसर्जन कर दिया। प्रतीक उपासना का कितना सुन्दर रूप है यह—

शिव विश्वात्मा हैं—नश्वर जगत् के महास्मशान में बिहार करने वाले एकमात्र अविनश्वर तत्त्व हैं—विष्णु विश्वम्भर हैं—जगत की नश्वरता का भरण-पोषण करने वाले लीलामय। दोनो की कल्पनाएँ अलग। दोनों की विचार-धारायें अलग। परन्तु फिर भी अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचकर दोनों धारायें एक हो जाती हैं, दोनों आराध्य एक हो जाते हैं। जो शिव हैं वही विष्णु हैं। जो शैव है वही वैष्णव है। पहुँचे हुए लोगों के लिये तो यह ठीक ही है परन्तु जो वहाँ तक न पहुँच पाये उन्होंने अलगाहट को ही सब कुछ मान लिया। आपस में लट्ठ चलने की कई बार नौबतें आईं। संकीर्ण सम्प्रदायवादियों ने साम्प्रदायिक चिन्ह स्वरूप माथे के तिलक की बनावट को भी पाप और पुण्य तथा नरक और स्वर्ग के दायरे में ला घसीटा। शैव साधना विशेषतः व्यक्ति की आन्तरिक शान्ति और व्यक्तित्व के यथेच्छ ऐश्वर्य की साधना बनी इसलिए उसमें दक्षिणाचार वामाचार सभी प्रविष्ट हो गया। मन्त्र-तन्त्र साधना, शाक्तमत, बौद्धों का वज्रयानी महासुखवाद, इत्यादि, इत्यादि, अनेकानेक धारायें उसमें आईं जिनसे कुछ लाभ भी हुए और कुछ हानियाँ भी हुईं। वैष्णव-साधना विशेषतः समाज के आन्तरिक कल्याण और सामूहिकत्व के सात्विक उत्कर्ष की साधना रही इसलिये उसने नैतिकता को कट्टरता से अपनाया। मांस-मदिरा और असामाजिक वीभत्स कठोर अनार्य साधनाओं से अपने को बचाते-बचाते वह शैवों और उनके आराध्य सदाशिव से भी अपने को बचाने लगी। परिणाम यह हुआ कि दोनों में सङ्कीर्णता आगई और एक ही राष्ट्रीय संस्कृति के दो प्रबल दल एक दूसरे के विरोधी हो गये।

परन्तु धार्मिक सहिष्णुता इस भारतभूमि की सदा से विशेषता रही है।

इसीलिये शैवों और वैष्णवों का यह विरोध भी उथला-उथला और निम्न स्तर ही में अटक कर रह गया। इसमें ऐसे-ऐसे सन्त होते ही आये जिन्होंने शैवों और वैष्णवों को एक ही समाज-वपु की दो आँखों के समान कहने को भिन्न परन्तु वास्तव में अभिन्न बताया। वैष्णव आचार्यों में कुछ तो यहाँ तक आगे बढ़े (हमारा मतलब स्मार्त वैष्णवों से हैं) कि उन्हें विष्णु अर्थात् राम कृष्ण की उपासना के साथ ही शङ्कर की भी पूजा अर्चा करने में कोई झिझक नहीं रही। सामान्य भारतीय तो न केवल इष्टाद्वैतवादी है (अपने इष्टदेव को ब्रह्म से अभिन्न मानने वाला है) किन्तु ध्येयाद्वैतवादी भी है (जिस समय जिस देव का ध्यान कर रहा हो उसे ही ब्रह्म मान कर उसे ही सब कुछ मान लेने वाला भी है। विष्णु का ध्यान किया तो कहा 'तुम्हीं मेरे माता पिता हो, शिव का ध्यान किया तो कहा तुम्हीं मेरे माता-पिता हो।') सम्प्रदाय निरपेक्षता का इतना ऊँचा मन्त्र जिन स्मार्त वैष्णवों ने सर्वसाधारण तक पहुँचा दिया है) वे निःसन्देह बड़े साधुवाद के पात्र हैं। स्मार्त वैष्णव ही नहीं कई शैव सन्त भी इसी प्रकार की उदार भावना वाले हुए हैं। जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य ही को देखिये, कितने ललित शब्दों में और कैसी गहरी भावनाओं के साथ उन्होंने विष्णु, कृष्ण आदि की स्तुतियाँ की हैं। भारतीय समाज उन लोगों का भी परम कृतज्ञ है।

हम पहिले ही कह आये हैं कि निवृत्ति (ज्ञान, वैराग्य) कर्मसन्यास, शान्ति निर्द्वन्द्वता सर्वातिरेकता, अग्नि की सी लयशीलता, मृत्युञ्जयता, रुद्रता के साथ शिवता और नश्वर जगत् की सारभूत अविनश्वरता की चाह वालों ने 'ब्रह्म को शिवशङ्कर के रूप में देखा है और प्रवृत्ति (लोक-अनुराग) कर्मयोग आनन्द सामाजिक सुव्यवस्था सर्वसम्मान्यता (सामान्य मानवता) के साथ ही सूर्य की सी तेजस्विता और विश्वम्भरता की चाह वालों ने उसी ब्रह्म को विष्णु रूप में देखा है। भक्तों की चाह के अनुसार ही एक ही ब्रह्म के दो अलग-अलग रूप बन गये।

शिवशङ्कर तत्त्व धर्म के वृषभ पर अधिष्ठित हुआ। संन्यासी रूप में वह वैरागी जगत के महा स्मशान की भस्म से अपना शृङ्गार किये रहता है। मृत्यु-ञ्जय होकर उसने काल का हलाहल भी पी लिया है और विषधर सर्पों को अपना आभूषण बनाया है। दुर्गा शक्ति (सृजन-संहार-शक्ति) से अभिन्न रहता हुआ भी वह (अर्ध नारीश्वर) अपनी ही शक्ति की मुण्डमालाएँ पहन कर अपनी सदा-शिवता स्वतः सिद्ध कर रहा है। ज्ञान का तृतीय नेत्र तुल्य चन्द्र उसके भाल पर है, शान्ति की शीतल गङ्गा उसके मस्तक से प्रवाहित हो रही है। त्रितापों

को छेदन करने वाला त्रिशूल उसके एक हाथ में और कल्याण मंत्रों से चैतन्य कराने वाला शब्द-सार डमरू दूसरे हाथ में है। अग्नि शिखा की तरह जटाधारी वह निर्द्वन्द्व एकाकी न केवल प्रथम पूज्य विघ्न विनाशन गणराज का पिता है किन्तु सुर सेनापति षड्मुख (षडैश्वर्य सम्पन्न) कार्तिकेय का भी पिता है। काली (संहार) और गौरी (सृजन) शक्तियों का एक मात्र स्वामी वही है। देवों और दानवों का परम आराध्य वही है क्योंकि अपना शिवत्व कौन न चाहेगा।

आत्म-कल्याण शिवतत्व है तो जगत्-कल्याण विष्णु-तत्व। यही विश्वम्भर तत्व है। यह अधिष्ठित होगा व्यापक दृष्टि वाले ऊर्ध्वगामी गरुड़ रूपी विकास तत्व पर। यदि वह देश, काल के भीतर रहा तो मत्स्य, कच्छ, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि के क्रम से विकासशील चैतन्य तत्व होकर जगद् व्यवस्था का सूत्रधार होगा और यदि देश काल के परे हुआ तो नारायण रूप से काल की शेष शय्या पर अकाल पुरुष बनकर निष्क्रिय लेटा रहेगा। कृति रूपी ब्रह्मा का उद्गम स्थल यह ही है। जगद् ऐश्वर्य की लक्ष्मी उसी के पाँव पलोटती है। नारदादि लोकानुग्रहकारी महर्षिगण उसी की स्तुति गाते हैं। परन्तु जगत्-कल्याण तत्व होने के कारण व्यक्ति-कल्याण-कामी दानवों (राक्षसों), दुष्टों, वाममार्गियों को वह कभी रुच नहीं सकता। उनका उनसे द्वेष ही रहेगा। यद्यपि यह निश्चित है कि उसके विरोधी जड़ मूल से उखड़ने ही वाले हैं क्योंकि जगद्मात सर्वकल्याणोन्मुखी है जिसे वे विरोधी मिटा नहीं सकते। विश्व के भरण-पोषण का प्रतीक है क्षीर। उसी क्षीर के सागर में उसका निवास है। शंख और चक्र (जो देश और काल के प्रतीक हैं) उसके प्रधान आयुध हैं (क्योंकि विश्व का विस्तार देश और काल के भीतर ही तो है)। गदा (संहार का प्रतीक) और पद्म (सृष्टि का प्रतीक) भी उसके आयुध हैं परन्तु वे गौण हैं क्योंकि वह प्रधानतः विश्वम्भर है न कि विश्वकर्ता या विश्व-हर्ता। पीतमुख वाले प्रभावग्रस्त ही उसके अम्बर हैं—वस्त्र हैं—जिन्हें वह हृदय से लगाये रहता है और जिन्हें वह अपनी नीलिमा से अनुरञ्जित करके हरा-भरा बना देता है। स्वतः वह नील है क्योंकि आकाश की भाँति निर्वर्ण होकर भी सवर्ण जान पड़ता है और सबका अनुराग अपने में लीन कर लेता है। बुद्धि-वादियों की लात खाकर भी वह अडिग रहा इसीलिये सर्वश्रेष्ठ कहाया।

पुराणकारों ने इन दोनों रूपों के अनुसार दोनों के अलग-अलग आख्यान सुनाये और क्रमशः दोनों के अलग-अलग परिवार और अलग-अलग कथानक बन गये। नासमझों ने दोनों ओर खींचतान की और अलग-अलग सम्प्रदाय बना दिये। आश्चर्य तो यह है कि समझदार लोग भी कभी-कभी साधना की अनन्यता

में अपने इष्टदेव की तुलना में दूसरों के इष्टदेव को ओछा और अवन्दनीय कहने लगते हैं। कदाचित् श्रद्धा और विश्वास के अतिरेक का यह भी तकाजा हो।

गोस्वामी तुलसीदासजी के युग में भी इष्टदेवों को लेकर इसी तरह की खींचतान थी। आत्मशक्ति और परमात्म शक्ति एक ही है इसलिये मनुष्य का आदर्श पूर्णत्व भी मनुष्य की अन्तरात्मा में ही निहित है। यही सर्वश्रेष्ठ भारतीय सिद्धान्त है। परन्तु जो लोग उस आदर्श पूर्णत्व की उपलब्धि के लिये केवल अपना ही बल पर्याप्त नहीं मानते वे किसी आराध्य का सहारा ताकते हैं। वह आराध्य कोई सन्त हो, सद्गुरु हो या इष्टदेव हो। इष्टदेव में जब तक पूर्ण श्रद्धा न होगी तब तक उसका आदर्शपूर्णत्व हमारे हृदय में भलीभाँति अङ्कित न होगा और जब तक उसकी शक्ति पर पूर्ण विश्वास न होगा तब तक उससे हमें पूर्ण लाभ भी न होगा। वह प्रभु (सर्व समर्थ) है, वह कृपासिन्धु (जीवों के प्रति अद्वैत की करुणा से पूर्ण) है, वह भक्तवत्सल (आराधक का कल्याण करने वाला तथा उसकी सदिच्छाएँ पूर्ण करने वाला) है—इस बात का परम विश्वास तो होना ही चाहिये। विश्वासः फलदायकः। 'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा' श्रद्धा और विश्वास के साथ अपनी रुचि का इष्टदेव चुनने में हरकोई स्वतन्त्र है। जो चाहे शिव को चुने, जो चाहे विष्णु को चुने, जो चाहे वह किसी अन्य को— दुर्गा को, जिनेन्द्र को, क्राइस्ट को, अल्लाह को, या अन्य किसी को—अपना इष्टदेव चुनले। परन्तु इतना अवश्य है कि जिसे वह चुने उसे पूर्ण प्रभु, पूर्ण कृपासिन्धु और पूर्ण भक्तवत्सल मान तथा जानकर चुने। गोस्वामीजी ने राम को इष्टदेव चुना और उनके प्रभुत्व, कृपासिन्धुत्व और भक्तवत्सलता को खूब अच्छी तरह हृदयङ्गम किया। उनके राम उनकी दृष्टि में विष्णु परिवार के होते हुए भी विष्णु से बहुत बड़े थे। वे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा थे। गोस्वामीजी की दृष्टि में वे शिव, दुर्गा सभी से बहुत बड़े थे। परन्तु गोस्वामीजी को इष्टदेवों के सम्बन्ध की खींचतान बिलकुल पसन्द न थी। उन्होंने न तो किसी के इष्टदेव का खण्डन किया न किसी को अवन्दनीय बताया। सभी में उन्होंने अपने अपने इष्टदेव की झाँकी देखी। 'सियाराम मय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।' परन्तु भारतीय वैदिक परम्परा की शब्दावली में अपने भाव व्यक्त करने के कारण उन्होंने राम, कृष्ण और शिव की एकात्मता दिखाने का ही प्रयत्न किया है। विनयपत्रिका के अनेक पद इसके साक्षी हैं। आजकल का जमाना होता तो कदाचित् अल्लाह और गौड को भी वे किसी तरह समेट लेते। दुर्गा अथवा शक्ति की एकात्मता शिव में हो जाती है और विष्णु तथा उनके अन्य अवतारों की एकात्मता राम में। अतएव इष्टदेव के रूप में राम और शिव

की ही विशेष चर्चा मानस में मिलती है। शैवों और वैष्णवों के झगड़े देखते हुए इन दोनों इष्टदेवों में सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित कर देना गोस्वामीजी के समान प्रतिभाशाली स्मार्त वैष्णव के लिये परम आवश्यक भी था।

ज्ञानी लोग हजार बार कहते रहें कि देवों का रूप या उनका चरित्र भक्तों के मस्तिष्क की कल्पना है परन्तु श्रद्धा और विश्वास की महत्ता को स्वीकार करने वाले भक्त अपने इष्टदेव के नाम, रूप, लीला और धाम को कभी कल्पित मान ही नहीं सकते। आधिदैविक स्तर का सत्य भी उनके लिये ध्रुव सत्य है। शुष्क तर्कवादियों के लिये तो उनकी वही फटकार हो सकती है जो गोस्वामीजी ने कथाकार शङ्करजी के मुख से प्रश्नकर्त्री पार्वतीजी को दिलाई है। गोस्वामीजी अपने प्रभु राम को जितना ध्रुव सत्य मानते थे उतना ही शङ्कर को भी। अतएव शिव-चरित्र विषयक पुराण की कथाओं में भी उनकी वही आस्था थी जो रामचरित्र विषयक पुराणों में हो सकती थी। जहाँ कहीं कथाभेद या चरित्र विषयक पाठभेद आया उसका समाधान उन्होंने कल्पभेद के सहारे बड़े मजे में कर लिया है। 'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं।' किसी कल्प में ऐसा भी हुआ होगा और किसी कल्प में वैसा भी हुआ होगा, यह कहकर ऐतिहासिकता की दृष्टि वाले तार्किकों का मुँह बड़े मजे में बन्द किया जा सकता है। अविश्वासियों की तो फिर बात ही दूसरी है। उनके लिये इष्टदेवों का प्रकरण है ही नहीं।

पुराणों की कथाओं का सार गोस्वामीजी ने 'व्यास समास स्वमति अनुरूपा' पद्धति से ग्रहण किया है। कहीं उन्हें विस्तार से कहा, कहीं संक्षेप में कहा, कहीं स्वमति के अनुसार उसको नये ढङ्ग से कहा ताकि कथा का जो मुख्य उद्देश्य है इष्टदेव के प्रति श्रद्धा और विश्वास की वृद्धि—उसका पोषण ही हो। उन्होंने देखा कि शिव पुराणों में भी ऐसी कथायें हैं जिनसे विदित होता है कि शिव ने रामनाम की महिमा गाई है और रामभक्ति को प्रश्रय दिया है। इसी प्रकार वैष्णव पुराणों में भी ऐसी कथायें हैं जिनसे विदित होता है कि परम वैष्णव के नाते शिव का सम्मान अद्वितीय है। प्रायः सभी पुराणों में यह है कि ज्ञान की तथा साधना की मन्दाकिनी के प्रवाह के प्रधान स्रोत शङ्करजी ही हैं। अध्यात्म रामायणादि कई ग्रन्थों ने शिव को ही रामभक्ति तथा रामकथा का आदि प्रवर्तक माना है। गोस्वामीजी ने इन सब का लाभ उठाते हुए शिव और राम का बड़ा सुन्दर सम्बन्ध अपने 'मानस' में स्थापित किया है।

वे शङ्कर को आदि गुरु मानते हुए कहते हैं—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणं
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वंद्यते।

गुरु पितु मातु महेश भवानी। प्रनवउं दीनबन्धु दिन दानी॥
सेवक स्वामि सखा सिय पीके। हितु निरुपधि सब विधि तुलसी के॥

× × ×

सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ राम चरित चित चाऊ॥

× × ×

सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउं सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥

× × ×

संभु कीन्ह यह चरित सोहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा॥

× × ×

सादर सिवहिं नाइ अब माथा। बरनउँ बिसद रामगुन गाथा॥

× × ×

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा॥
तातें राम चरित मानस वर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर॥

× × ×

अब सोइ कहहुँ प्रसङ्ग सब, सुमिरि उमा वृषकेतु।

उन्होंने मानस के विविधि पात्रों से शङ्कर की महिमा कहाई है। सतीजी तो खैर कहती ही हैं—"जगदातमा महेश पुरारी, जगत जनक सबके हितकारी।" अथवा "प्रभु समरथ सर्वज्ञ शिव सकल कला गुन धाम, जोग ज्ञान वैराग्य निधि अनत कल्पतरु नाम।" भुक्तभोगी नारदजी भी कहते हैं—"बरदायक प्रनतारति भंजन, कृपा सिन्धु सेवक मन रंजन। इच्छित फल बिनु सिव अवराधे, लहिय न कोटि जोग जप साधे। संभु सहज समरथ भगवाना।" सप्तर्षिगण पार्वतीजी से कहते हैं "तुम माया भगवान शिव सकल जगत पितु मातु।" याज्ञवल्क्यजी कहते हैं "शिवपद कमल जिन्हहिं रति नाहीं, रामहिं ते सपनेहु न सुहाहीं। बिनु छल विश्वनाथ पद नेहू, राम भगत कर लच्छन एहू।" वशिष्ठजी कहते हैं "सोचिय वयसु कृपिन धनवानू, जो न अतिथि सिव भगत सुजानू।" भुशुण्डि प्रकरण में कहा गया है, 'शिव सेवा कै फल सुत सोई, अविरल भगति राम कै होई।"

गोस्वामीजी के आराध्य इष्ट राम स्वतः कहते हैं—

अउरउ एक गुपुत मत, सबहिं कहहुँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि॥

लिंग थापि विधिवत करि पूजा । सिव समान प्रिय मोहि न दूजा ।।
सिव द्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहु मोहि न पावा ।।
संकर विमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ़ मति थोरी ।।
शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कल्प भरि, घोर नरक महँ वास ।।
जे रामेश्वर दर्शन करिहहिं, ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं ।
जो गङ्गाजलु आनि चढ़ाइहिं, सो सायुज्य मुकुति नर पाइहिं ।
होइ अकाम जो छल तजि सेइहिं, भगति मोरि तेहि संकर देइहिं ।

लङ्का-विजय के लिये प्रस्थान करते समय वहाँ की शैव संस्कृति के प्रति अपना सम्मान व्यक्त करने के लिये रामेश्वर-स्थापना से बढ़कर और कौन वस्तु हो सकती थी । इस एक कृत्य से ही राम ने बता दिया कि उनका विरोध व्यक्ति की दुर्भावना से है न कि उसकी या उसके राष्ट्र की सुसंस्कृति से ।

जब नारदजी ने शाप में दिये गये अपने दुर्वचनों के प्रति पश्चात्ताप करते हुए कहा—"मैं दुर्वचन कहे बहुतेरे, कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे" । तब राम ने जो उत्तर दिया वह देखिये :—"जपहु जाय संकर सत नामा, होइहि हृदय तुरत विस्रामा । कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे, असि परतीति जाय जनि भोरे । जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी । सो न पाव मुनि भगति हमारी ।'

गोस्वामीजी के मानस के प्रायः सब प्रशस्त पात्र शिव के भक्त बताये गये हैं । दशरथ के लिये कहा गया है "आप चढ़ेउ स्यन्दन, सुमिरि हर गुरु गौरि गणेसु" । "प्रभु प्रसाद सिव सबइ निबाहीं, यह लालसा एक मन माहीं ।" "सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी, तुम प्रेरक सबके हृदय सो मति रामहिं देहु ।" कौसल्या के लिये कहा गया है—"दिये दान विप्रन विपुल, पूजि गनेस पुरारि ।" भरत के लिये कहा गया है—"विप्र जिवाइ देहिं बहु दाना, सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना । माँगहिं हृदय महेस मनाई, कुसल मातु पितु परिजन भाई ।' अयोध्या के पुरवासी मनाते हैं—"सब के उर अभिलाष अस, कहहिं मनाय महेसु । आपु अछत युवराज पद रामहिं देहिं नरेसु ।" सुनयनाजी कहती हैं—सेवक राउ करम मन बानी, सदा सहाय महेसु भवानी" स्वतः रामजी भी—

"गनपति गौरि गिरीस मनाई, चले असीस पाइ रघुराई" ।
"राम लखन सिय जान चढ़ि, संभु चरन सिरु नाय" ।
"मुदित नहाइ कीन्ह सिव सेवा, पूजि यथा विधि तीरथ देवा ।"
"अस कहि बंधु समेत नहाने, पूजि पुरारि साधु सनमाने ।"

वे अपने वर्षा और शरद वर्णन के प्रसंग में भी कह उठते हैं—

"जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही ।"

विष्णुजी सब देवताओं सहित किस नम्रता के साथ शिव-विवाह का प्रस्ताव ब्रह्माजी से कराते हैं ! देखिये :—

सब सुर विष्नु विरंचि समेता, गये जहाँ सिव कृपा निकेता ।
पृथक पृथक तिन्ह कीन्ह प्रशंसा, भये प्रसन्न चन्द्र अवतंसा ।
बोले कृपा सिन्धु वृषकेतू, कहहु अमर आये केहि हेतू ।
कह बिधि तुम्ह प्रभु अन्तरजामी, तदपि भगति बस बिनवउ स्वामी ।
सकल सुरन्ह के हृदय अस, संकर परम उछाह ।
निज नयननि देखा चहहिं, नाथ तुम्हार विवाह ।।

गोस्वामीजी इसीलिये इस प्रसंग में बोल उठे हैं :—

जगत मातु पितु संभु भवानी, तेहि सिंगारु न कहउँ बखानी ।

परन्तु उन्होंने—"अशिव वेष, शिव धाम कृपाल" का विचित्र शृङ्गार अवश्य कराया है जो हास्य और कौतूहल के अच्छे रस की सृष्टि करता है । देखिये :—

सिवहिं सम्भुगन करहिं सिंगारा, जटा मुकुट अहि मौर सँवारा ।
कुण्डल कङ्कन पहिरे व्याला, तन विभूति पट केहरि छाला ।।
ससि ललाट सुन्दर सिर गंगा, नयन तीन उपवीत भुजंगा ।
गरल कण्ठ उर नरसिर माला, असिव वेष सिवधाम कृपाला ।
कर त्रिसूल अरु डमरु विराजा, चले बृसह चढ़ि वाजहिं बाजा ।

उनका लावण्य पूर्ण नख-शिख भी गोस्वामीजी ने एक जगह दिया है—

कुन्द इन्दु दर गौर सरीरा, भुज प्रलम्ब परिधन मुनि चीरा ।
तरुन अरुन अम्बुज सम चरना, नख दुति भगत हृदय तम हरना ।
भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी, आनन सरद चन्द छबि हारी ।
जटा मुकुट सुर सरित सिर, लोचन नलिन बिसाल ।
नीलकण्ठ लावण्य निधि, सोह बाल विधु भाल ।
बैठे सोह काम रिपु कैसे, धरे सरीर सान्त रस जैसे ।

मजा तो उस प्रसङ्ग में है कि भरद्वाज जी ने रामचरित्र जानना चाहा और याज्ञवल्क्यजी ने प्रसङ्ग को घुमाकर शिवचरित्र (शिव विवाह) की गाथा गाना आरम्भ किया । भरद्वाज जी ने टोका नहीं, प्रत्युत उनकी 'बहुतक प्रीति कथा पर बाढ़ी, नयन नीरु रोमावलि ठाढ़ी ।" तब याज्ञवल्क्यजी को कहना पड़ा—

"प्रथमहिं मैं कहि सिव चरित बूझा मरमु तुम्हार।
सुचि सेवक तुम राम के रहित समस्त विकार ॥

राम के समस्त विकारहीन शुचि सेवक के लिए तो शिव चरित्र भी उतना ही प्रिय होगा जितना रामचरित्र, भक्ताग्रगण्य का चरित्र भी उतना ही प्रिय होगा जितना भगवन्त का चरित्र। जो राम वही शिव, फिर विरोध कैसा ?

गोस्वामीजी ने इसीलिए न केवल प्रत्येक काण्ड के आदि में किन्तु कहीं-कहीं मध्य में भी (उदाहरणार्थ 'नमामीशमीशान निर्वाण रूपं' वाला उत्तर काण्ड का रुद्राष्टक देखिए) शङ्करजी की बड़ी भावपूर्ण वन्दना की है। उनके शङ्कर वाम मार्ग के पोषक नहीं किन्तु दक्षिण मार्ग के पोषक — श्रुतिपथ पोषक हैं। वे कहते हैं 'जो नहिं करहुँ दण्ड सठ तोरा, भ्रष्ट होइ स्रुति मारग मोरा।' इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा "मूलं धर्मतरोर्विवेक जलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददम वैराग्याम्बुज भास्करं ह्यघहरं ध्वान्तामहं तापहं" अथवा यो ददाति सतां शंभुः कैवल्यमपि दुर्लभं। खलानां दण्ड कृद्योऽसौ शंकरः शं तनोतु माम्।" उनकी कृपालुता के विषय में गोस्वामीजी कहते हैं "जरत सकल सुरवृन्द, विसम गरल जेहि पान किय। तेहि न भजसि मतिमन्द को कृपालु संकर सरिस।" संसार के पाप ताप को केवल निर्हेतुक दया के कारण अकेला हजम कर जाने वाला और कौन है। गोस्वामीजी की यह स्तुति भी देखिए कितनी भावपूर्ण है।

वामांगे च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
भाले बाल विधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्।
सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशंकरः पातुमाम् ॥

भूधर सुता और भूतिविभूषणता, (ऐश्वर्य और वैराग्य) बाल विधु और व्यालराट् (शिवत्व और रुद्रत्व) देवापगा और गरल (अमृत और विष) का अपूर्व आश्रय है उनमें। क्रियाशक्ति की दुर्गा, ज्ञानशक्ति की चन्द्रकला और भाव-शक्ति की गङ्गा जिनका सहारा पाकर ही शोभायमान है। इस प्रकार जो सत् चित् आनन्द तो है ही परन्तु जिनका आश्रय भस्म (श्वेत रङ्ग वाला सतोगुण) व्याल (क्रोध का प्रतीक रजोगुण) और गरल (परम विध्वंसक तमोगुण) भी ताक रहे हैं। वे निःसन्देह सुरवर (देव श्रेष्ठ) हैं, अजर अमर (सर्वरा) सर्वाधिप (चराचर के स्वामी) हैं, शर्व (जगत् संहारक) होकर भी सर्वगत (घट घट वासी अणु परमाणु में व्याप्त) हैं और शशिनिभ शिव (उज्ज्वल कल्याण के मूर्तस्वरूप) हैं। वे श्री शङ्कर (अद्भुत समृद्धशाली भगवान् शङ्कर)

हमारी रक्षा करें—हमें सम और विषम परिस्थितियों में अडिग रखें।

यह वन्दना अयोध्याकाण्ड (द्वितीय सोपान) के प्रारम्भ की है। इस काण्ड के कथानक में कई लोगों को सम और विषम परिस्थितियों से हो कर आगे बढ़ना है। अतएव इस प्रसङ्ग में यह वन्दना कितनी सटीक बैठी है यह सहृदय सज्जन भली भाँति समझ सकते हैं। जीवन की सम और विषम परिस्थितियों को सँभालते हुए आगे बढ़ने वाले जीव के लिए यह वन्दना कितनी स्फूर्तिदायिनी होगी इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

———

गोस्वामीजी और नारी

गोस्वामीजी की रचनाओं से यह तो स्पष्ट है कि वे वैदिक परम्परा के प्रति बड़े निष्ठावान थे। श्रुति-सम्मत हरिभक्ति-पथ उनको परम मान्य था। यह अवश्य है कि उसे वे विरति और विवेक की कसौटी पर भी कस लिया करते थे।

आधार ही को परम धर्म मानकर उसके सम्बन्ध की जो वैदिक परम्परा यहाँ स्थापित हुई और हजारों वर्षों से चली आई है, उसका स्वरूप दर्शानेवाला परममान्य ग्रन्थ है मनुस्मृति। अतएव गोस्वामीजी की नारी-विषयक भावनाओं को समझने के पहिले मनुस्मृति के वाक्यों का मनन कर लेना अधिक उपयुक्त होगा।

मनुस्मृति के अध्याय ६ श्लोक ६६ में कहा गया है "प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थंच मानवाः" उसी अध्याय के श्लोक ३३ में कहा गया है—

क्षेत्रभूता स्मृतानारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीज समायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम्॥

स्पष्ट ही है कि इस प्रसङ्ग में नर-नारी का अर्थ संयोग-सक्षम-अवस्था-विशेष के नर-नारियों से है न कि बाल या वृद्ध व्यक्तियों से।

बीज और क्षेत्र की यह उपमा नर और नारी की स्वभाव-भिन्नता का आज भी कई प्रकार से संकेत दे रही है। (क) बीज में पितृ-प्रधानत्व है और क्षेत्र में मातृ-प्रधानत्व। (ख) बीज विस्तारशील है—चारों ओर फैलने की उसकी प्रवृत्ति है, क्षेत्र सङ्कोचशील है—अपने ही घेरे में बँधकर रहना उसके लिए स्वाभाविक है। (ग) बीज में आत्मा अर्थात् जीव के गुण हैं—वह ऊपर उठना चाहता है (वृक्ष रूप में) और क्षेत्र में माया के गुण हैं—वह बीज को भी अपने में जकड़कर रखना चाहता है। (घ) बीज का पितृत्व आप अपने में पूर्ण रह सकता है परन्तु क्षेत्र का मातृत्व बीज के संयोग की अपेक्षा रखता है अतएव वह बीज के आश्रित है। (च) सृष्टि की वृद्धि के लिए दोनों का पारस्परिक आकर्षण स्वाभाविक है किन्तु क्षेत्र तो एक समय में एक ही बीज को अपना क्षेत्रीय सर्वस्व अर्पण कर सकता है जबकि बीज अनेकों की संख्या में एक ही क्षेत्र की ओर आकृष्ट हो सकते हैं अतएव आवश्यक है कि उन्हें इस प्रकार के अवसर न दिये जायँ। (छ) बीज स्वार्थी है—वह केवल अपनी वृद्धि चाहता है, क्षेत्र त्यागशील है, वह अपना रस देकर बीज को पुष्ट करता है। अतएव

क्षेत्रभूता धरती देवी कहाई किन्तु बीज देवता न बन सका। (ज) क्षेत्र भोग्य है और बीज भोक्ता, अतएव यह क्षेत्र का ही अधिकार है कि वह बीजों के अनुचित आक्रमण से अपनी सुरक्षा की अपेक्षा करे। (झ) क्षेत्र का लक्ष्य है बीज का हित और बीज का लक्ष्य है जगत् का हित। अतएव क्षेत्र का धर्म हुआ पातिव्रत्य और बीज का धर्म हुआ लोक-कल्याण। (ट) क्षेत्र गुरुत्वाकर्षण वाला अथवा यों कहिये कि आकर्षण के गुरुत्ववाला होते हुए भी इतना त्यागमय है कि सन्तान में वह अपनी परम्परा का आभास भी नहीं देता और उसे बीज ही की परम्परा में प्रख्यात होने देता है। प्रत्येक वृक्ष जाति इसीलिये बीज-प्रधान रहा करती है। वह क्षेत्रप्रधान कहा ही नहीं सकती। मनुजी ने अध्याय ९ के श्लोक २५ में कहा है—

बीजाय चैव योन्याश्च बीज मुत्कृष्टमुच्यते।
सर्वभूत प्रसूतिर्हि बीज लक्षणलक्षिता॥

बीज की उत्कृष्टता से भारतीय नर-समाज पुरुष-प्रधान हुआ और उसने इसी दृष्टिकोण से सामाजिक व्यवस्था का पूरा ढाँचा निर्मित किया। मनुजी ने भी यही किया। इस दृष्टि से यह आवश्यक हुआ कि नर की वंश-परम्परा को विशुद्ध रखा जाय और एतदर्थ एक ओर तो नर-नारी के चरित्र-बल पर जोर दिया जाय और साथ ही दूसरी ओर उन दोनों के अनियमित मेल-जोल पर कड़ा नियन्त्रण लगाया जाय।

चारित्र्य-बल के सम्बन्ध में तो मनुजी ने बहुत कुछ कहा है। उनकी स्पष्ट घोषणा है कि "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति (अध्याय ९, श्लोक ९४)। काम के उपभोग से कामनाएँ शान्त नहीं होतीं, उल्टे और बढ़ जाती हैं। अतएव संयत जीवन बिताना ही नर-नारी दोनों का ध्येय होना चाहिए। यह संयत जीवन आत्म-प्रेरणा ही पर विशेष निर्भर रहता है न कि किसी बाहरी नियन्त्रण पर। अध्याय ९ के १२ वें श्लोक में उन्होंने कहा है कि बाहरी बन्धनों से नर और नारी को अलग-अलग बाँध कर नहीं रखा जा सकता। उनकी असली सुरक्षा तो उनके अपने ही चरित्र-बल से होती है।

मनुजी का कहना है कि नर यदि तप्त अङ्गार है तो नारी घृतकुम्भ है। उनका एकत्र स्थापन क्षोभ उत्पन्न किये बिना रह नहीं सकता। अध्याय २ के श्लोक २१५ में वे कहते हैं कि नर को चाहिए कि वह माँ, बेटी या बहिन के साथ भी एकान्त में घनिष्ठता न स्थापित करे क्योंकि बड़े-बड़े विद्वान भी इन्द्रियों के फेर में पड़ जाते हैं—"बलवानीन्द्रियग्रामो विद्वांसमयकर्षति।" नर और नारी में बहुत मेल-जोल बढ़ा और चारित्र्य-बल बहुत प्रबल न रहा तो कामुकता

बढ़ेगी, समाज में उच्छृङ्खलता और परस्पर कलह बढ़ेगी और सम्भव है कि फिर इन मेल-जोल वालों का जीवन भी नारकीय दुःखप्रद बन जाय तथा उनके सामने आत्महत्या के सिवाय और कोई गत्यन्तर न रह जाय। स्वच्छन्द मेल-जोल में प्रतिबन्ध रहा तो, जैसा मनुजी ने अध्याय ६ के सातवें श्लोक में कहा है– प्रसूति-रक्षा, चारित्र्य-रक्षा, कुल-रक्षा, आत्म-रक्षा और धर्म अथवा कर्तव्य-रक्षा—सभी का अधिक सुयोग रहेगा। "स्यां प्रसूति चरित्रं च कुल मात्मानमेवच, एवं च धर्म प्रयत्नेन जायां रक्षनहि रक्षति।"

इसके साथ ही नर-नारी के मेल-जोल पर मनु आदि ने पहिला नियन्त्रण लगाया विवाह की प्रथा से। इस नियन्त्रण में कामुकता को किसी प्रकार का अनुचित प्रश्रय न मिलने पावे इसलिये मनुजी ने विधवा-विवाह को, जो केवल काम-प्रवृत्ति के सन्तोष के लिये रचा जाता है पशुधर्म बताया (अध्याय ६, श्लोक ६६–६७) और गान्धर्व-विवाह को अत्यन्त मर्यादित कर दिया। उत्तम विवाह वह माना गया जो 'कोर्टशिप' पर (या घोटुल के मेल-जोल पर) नहीं किन्तु अभिभावकों के निर्णय के अनुसार तय किया जाय। उद्देश्य यह कि वंश-प्रजनन का पवित्र कार्य सम्बन्ध भोगासक्ति का नहीं किन्तु धर्म-मर्यादा का अनुयायी होकर चले।

दूसरा नियन्त्रण लगाया गया उन दोनों के कर्त्तव्यों की भिन्नता बता कर। नारियों को सन्तान के प्रतिपालन का, गृहस्थी की साज-सँभाल रखने और उसे सुन्दरता के साथ चलाने का, शुचिता का वातावरण बनाये रखने का, कुल-परम्परा के धर्मों के सञ्चालन का, भोजन की व्यवस्था आदि का कर्त्तव्य सौंपा गया। (देखिये अध्याय ६, श्लोक ११)

"अर्थस्य संग्रहे धैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मे न पक्त्यां च पारिणाहस्य रक्षणे।"

और मद्यपान करना, दुष्टों के संग रहना, इधर-उधर घूमना, खूब सोना, पति से दूर रहना, दूसरों के घर में बसना, ये सब उनके लिए बड़े दूषण माने गये हैं। (देखिये अध्याय ६, श्लोक १३)

विवाह-मर्यादा को अटूट जान कर वे पतिसेवा ही को अपना परम धर्म मानें, इसलिये कहा गया :—

"विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्वजा सततं देववत् पतिः॥ ५।१५४
नास्ति स्त्रीनां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणां।
पति सुश्रूषते येन तेन स्वर्ग महीयते॥ ५।१५५

कैसा भी पति हो, दुःशील हो दुर्गुणी हो, कुछ हो, उसको देववत् मान कर उसकी सुश्रूषा की जाय। केवल पातिव्रत्य से ही नारी स्वर्ग की अधिकारिणी हो जाती है।

आजकल के जमाने में ये बातें अटपटी सी लगने लगी हैं। पतिसेवा को छोड़कर अन्य प्रकरण शायद इतना अटपटा न लगे। पतिसेवा का प्रकरण भी अटपटा क्यों लगना चाहिये। नियम तो सर्वसाधारण के लिये और सर्व-सामान्य स्थिति के लिए बनाए जाते हैं जिनमें असाधारण व्यक्तियों और असाधारण परिस्थितियों के लिये अपवाद बनने की गुंजाइश बराबर रहती है। परन्तु यदि अपवादों ही को प्राधान्य दिया जाया करे तो नियम कभी चलने न पावें। प्रत्येक सिपाही की मनोवृति को खुली छूट दे दी जाय तो सैन्य-सञ्चालन ही सम्यक रूप से न हो सके और न युद्ध में विजय ही मिल सके। समाज के सर्वाङ्गीण विकास के लिये जो नियम बनाये जाते हैं उनके सम्मुख कई बार असाधारण परिस्थितियों को भी नतमस्तक होना पड़ता है। रही बात यह कि नियन्त्रण का लक्ष्य नारी ही को क्यों बनाया गया सो उसका उत्तर कुछ तो इतिहास देगा, कुछ समाज-व्यवस्थापकों का पुरुष-प्रधानत्व देगा और विशेष रूप से देगा बीज वृक्ष का वह प्राकृतिक न्याय जो पहिले ही संकेतित कर दिया गया है। बीज वृक्ष न्याय को वृक्ष तक खींच ले जाने से तो किसी अंश में नर का बहुपत्नीत्व क्षम्य हो जाता है किन्तु नारी के बहुपतित्व की तो उस न्याय में कल्पना भी नहीं की जा सकती।

मनुजी ने देखा होगा कि प्रकृति ने नारी को सन्तान के सम्बन्ध में नर का आश्रित बनाया है और मातृत्व-भावना के कारण उसे नर से अधिक आकर्षक तथा नर से अधिक लालसामयी भी बनाया है। अतएव उसे घर और उसके बालबच्चों के दायरे ही में बाँध रखना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के तथा समाज के सम्यक् विकास के लिये भी अधिक अनुकूल होगा। मन जिधर लगा दिया जाय उधर ही रम जाता है। उसकी जैसी आदत डाल दी जाय उसी में वह रस लेने लगता है। अतएव व्यापक कल्याण की दृष्टि से मनु को ऐसी व्यवस्था बाँधने में कोई झिझक न हुई होगी।

मनुजी को नारियों से कोई विद्वेष तो हो नहीं सकता था, अतएव उन्होंने उनकी प्रशंसा भी जी खोलकर की है। वे कहते हैं—"प्रजनार्थ नारियों की सृष्टि हुई है अतएव ये महाभागा हैं, पूजनीय हैं, गृह की दीप्ति हैं, स्त्री और श्री में कोई अन्तर न समझना चाहिए—"प्रजनार्थं महाभागा पूजार्हा गृहदीप्तयः स्त्रियः

श्रियश्च गेहेषु न विशेषोस्ति कश्चन:" ६, २६। जिस कुल में स्त्रियाँ पूजित होती हैं उस कुल में देवता प्रसन्न रहते हैं और जो कुल इनका अपमान करते हैं उनके सब धर्म-कर्म निष्फल होजाते हैं बहू-बेटियों को दुःख देने वाले कुल शीघ्र नष्ट होजाते हैं इसलिये इनको गहने-कपड़े, भोजन आदि से सदैव सम्मानित करते रहना चाहिये।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैस्तास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया: ।।३।।५६
शोचन्ति जामयौ यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
ना शोचन्ति तु अत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ।।३।।५७
तस्मादेता सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूति कामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेगुत्सवेगु च ।।३।।५६

परन्तु जहाँ उन्होंने नारी के ऐसे सामान्य रूप दिखाये हैं वहाँ नर उनकी ओर अनुचित रूप से आकृष्ट न होते रहें, इसलिये, नरों की विचारदृष्टि के लिये नारी के भीषण चित्र भी खींच दिये हैं। अध्याय २ के श्लोक २१४ में मनुजी कहते हैं:—

अविद्वांसमलंलोके विद्वांसमप्यॉ पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथंनेतुं कामक्रोधवशानुगम् ।।

जो भी व्यक्ति देहधारी है, अतएव काम-क्रोध के वशीभूत है उसे, चाहे वह विद्वान् हो, चाहे मूर्ख एक प्रमदा आसानी से कुमार्ग में खींच सकती है।

अध्याय ६ के श्लोक १४, १५, १६, १७, १८ में वे कहते हैं:—

नैता रूपं परीक्षान्ते नाशं करसि संस्थितिः।
सरूपं वा विरूपंवा पुमानित्येवभूजते ।।
पौश्चात्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽ पीह भर्तृष्येता विकुर्वतं ।।
एवं स्वभावं ज्ञात्वासां प्रजापति निसर्गजं।
परमंयत्नमातिष्ठेत् पुरुषो रक्षणं प्रति।
शस्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधननार्जवं।
नास्ति स्त्रीणां क्रियाभंचरिति धर्मे व्यवस्थितिः।
निरिन्द्रिया ह्यमंत्राश्च स्त्रियोऽ नृतमिति स्थितिः ।।

अर्थात्—प्रमदाओं को तो चाहिये पुरुष। वे कैसे भी हों। उनकी भोगेच्छा, उनकी चञ्चल चित्तता और स्वार्थ के लिये कुटुम्ब के प्रति स्नेहशून्यता उनका स्वभाव है। ऐसा विचार कर नर को चाहिये कि उनके रक्षण के प्रति विशेष सतर्क रहे। काम, क्रोध कुटिलता, कुचर्या, द्रोह, विलासिता और स्वार्थपरता

आदि तो मानों नारियों ही के लिये बनाये गये हैं। धर्म ने ही व्यवस्था की है कि उनके कोई संस्कार वेदमन्त्रों से न हों अतएव वे सहज ही निरिन्द्रिय (जड़) अमन्त्र (अज्ञ) और अनृत (अपावन) हैं। (इस अपावनता के सम्बन्ध में कदाचित् मनु का ध्यान नारी के उस प्राकृतिक विकार पर भी गया होगा जो प्रतिमास कम से कम चार दिनों के लिये तो होता ही है।)

जो उत्पथ में ले जाने वाली हो वह पूजनीय कैसी ? भोगेवश प्रधान, चञ्चल चित्त वाली तथा स्वार्थ के लिए कुटुम्ब के प्रति स्नेहशून्य रहने वाली है उसकी अपूजा से कुटुम्व की सब क्रियायें निष्फल क्यों हो जायेंगी ? जिसमें आठ-आठ अवगुण सदा भरे हैं उसे गृहदीप्ति क्यों कहा जाय ? जो जड़ है, अज्ञ है, अपावन है, वह महाभागा कैसी ? वह लक्ष्मी कैसी ? मनुजी पागल तो नहीं थे जो इस तरह का परस्पर-विरुद्ध प्रलाप करें। अतएव उनकी इस नारी-निन्दा को किसी विशिष्ट उद्देश्य को पूरक मानकर ही उसका मर्म समझने का यत्न करना चाहिये। हमारी समझ में वह उद्देश्य वही है जो हमने ऊपर बताया है। यह नारी-निन्दा केवल उसके प्रमदात्व की ही निन्दा है—उस रूप की जिससे बचकर चलना नर के लिये अभीष्ट है।

गृह-व्यवस्था नारी के लिये है, समाज-व्यवस्था पुरुष के लिये है। समाज-व्यवस्था की दृष्टि से आवश्यक है कि पुरुष गृह-व्यवस्था की मर्यादा बाँधकर नारी का नियन्त्रण करे। पुरुष प्रभुत्वशील है, नारी भावशील है। भावशीलता में विवेक का असन्तुलित हो जाना स्वाभाविक रहता है। वह सुमतिपूर्ण—विवेकपूर्ण होगी तो गृह-सेवा में स्वर्ग उतरेगा, वह कुमतिपूर्ण-अविवेकपूर्ण होगी तो सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण वह झूठ, धोखा, मायाचार आदि के आठ-आठ अवगुण अपनायेगी और ये अवगुण ही नारी के स्वभाव बन जायेंगे। भावशीलता असन्तुलित होकर सद्गुणों का भी तो ऐसा अतिरेक कर सकती है कि वे दुर्गुण की कोटि में आ जायँ। जैसे बच्चों के प्रति अत्यन्त लाड़, अभ्यागतों और वेषधारी साधु नामधारी अतिथियों के प्रति अत्यन्त दान या अत्यन्त सेवा। अतएव प्रभुत्वशील पुरुष का कर्त्तव्य है कि उन्हें नियन्त्रित रखे। वे विरक्ति की नहीं किन्तु सामाजिक नियन्त्रण की अधिकारिणी हैं। पुरुष सामाजिक नियन्त्रण का तीव्र अधिकारी या पात्र तो है ही—इन्हहिं कुदृष्टि विलोकै जोई, ताहि वधे कछु पाप न होई। साथ ही विरक्ति और संयम का भी तीव्र अधिकारी है। नारी-समाज की सार्वजनिक विरक्ति कुछ अपवादों के रहते हुए भी समाज-वृद्धि के लिये घातक है। नर-समाज की विरक्ति, यदि उसमें कुछ अपवाद रहे, तो इस प्रकार घातक न होगी। अतएव नारियों की अपेक्षा नरों के मन में ही

विपरीतलिंगी व्यक्तियों के प्रति विरक्ति की भावना जाग्रत करने की प्रबल आव-श्यकता है। नारी के लिये इतना ही आवश्यक समझा गया कि वह गृह-कार्य से, गृह-धर्म और पातिव्रत के नियमों से नियन्त्रित रहे। नर के लिये यह आव-श्यक समझा गया कि वह नारी का सर्वथा सम्मान और संरक्षण तो करे ही, साथ ही उसके संगत्याग के लिये भी सचेष्ट होकर उसके श्यामपक्ष का ध्यान रखे ताकि रक्षक रहने वाला वह उनका भोग-भक्षक न बनने पावे। यह श्यामपक्ष यदि उसके लिये कुछ बढ़ा-चढ़ाकर अतिरञ्जित रूप से वर्णित किया जाय तो उद्देश्य को देखते हुये, प्रशस्त ही कहा जायगा।

स्त्रियों की स्वतन्त्रता के नियन्त्रण का अभिप्राय इतना ही है कि उनको अनुचित यौन-सम्बन्ध के लिए प्रोत्साहन न मिलने पावे और उनकी निन्दा का तात्पर्य इतना ही है कि नर-वर्ग भी नारियों के प्रमदा रूप से दूर झिझकता रहे। मातृ रूप में नारी देवी है। कन्या रूप में भी नारी देवी है। धर्मपत्नी रूप में भी नारी देवी (सती-साध्वी) है। केवल प्रमदा रूप में ही वह नियन्त्रित रखने योग्य है। तन-मन-धन के विकास में नर और नारी का कोई विशेष अन्तर नहीं। आचरण के विकास में दोनों की मर्यादाएँ अलग-अलग हैं। समाज के विकास के लिए मर्यादा का यह अन्तर आवश्यक माना गया। नर का आच-रण क्षेत्र है समाज, नारी का आचरण-क्षेत्र है कुटुम्ब। नर का सेव्य है जीविको-पार्जन का साधन—राजा, साहूकार या समाज। नारी का सेव्य है कुटुम्ब-वृद्धि का एकमात्र साधन उसका पति। पति सेवा में कुटुम्ब-सेवा समाहित है और यदि प्रत्येक कुटुम्ब सुव्यवस्थित हो जाय तो समाज-सेवा वनी बनायी हुई है। जो नर समाज-सेवा के लिये गार्हस्थ्य धर्म पालन करता है उसकी सेवा और साज-सँभाल का एकमात्र भार उसकी नारी पर है। यह तो हुआ आचरण का क्षेत्र—कर्त्तव्य का क्षेत्र। ताड़ना अर्थात् नियन्त्रण का क्षेत्र तो है वही प्रमदा रूप। नारी-निन्दा अर्थात् नारी के प्रमदा रूप की निन्दा। प्रमदा ही तो मूर्ति-मती माया है और माया को सहज अपावन कहना, सहज जड़अज्ञ कहना, सब तरह शोभा देता है।

नारी शब्द के इस प्रमदा वाले अर्थ का संस्कार भारतीय परम्परा में इतना अधिक घर कर गया कि नारी की जहाँ कोई कमजोरी दिखाई पड़ी वहीं कह दिया गया "आखिर नारी ही तो है।" यह भारत की ही बात नहीं, संसार भर के साहित्य में प्रायः यही देखा गया है। परन्तु ऐसी उक्तियों के अतिरिक्त यदि कवि नारी-सम्मान के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक है और नारी-चित्रण उज्ज्वल से उज्ज्वल रूप में रख रहा है तो केवल इन परम्परागत उक्तियों के

कारण उसकी कटु आलोचना करना शोभा नहीं देता। समझ लेना चाहिए कि उसकी कटुक्तियाँ नारी के प्रमदा रूप के प्रति हैं। जिस रूप से यह अपने वर्ग की पुरुष जाति को बचाना चाहता है।

अब तुलसीदासजी की नारी-विषयक भावनाओं का मुलाहिजा किया जाय। उन्होंने रामचरितमानस के प्रत्येक नारी पात्र की उज्ज्वलता को बड़े सुन्दर ढङ्ग से सामने रखा है। राम वन-गमन विषयक नारी-दुर्बलता के लिए भी उन्होंने देवताओं को ही दोषभागी बनाया है। तारा की अवहेलना के लिए उन्होंने बालि को फटकार दिलाई है और रावण तक से मन्दोदरी का कोई अपमान नहीं कराया। शूर्पणखा के समान दुष्ट हृदया को भी 'हरिहिं समये बिनु सतकर्मा' सरीखे सुन्दर उपदेश देनेवाली बताया है। परम पद तक के अधिकार में नर नारी को समान बताया है ("रामापति रत नर अरु नारी, सकल परम गति के अधिकारी") पातिव्रत्य के तुल्य ही एक पत्नीव्रतत्व को भी ध्येय बताया है (एक नारिव्रत रत नर नारी, ते मन क्रम वच पति हितकारी)। परन्तु जहाँ नारी की दुर्बलता अथवा हीनता का प्रश्न आया है वहाँ पुरानी परम्परागत उक्तियों का सहारा लेकर उन्हें सर्वसामान्य रूप से 'सहज अपावनि नारि, नारि सहज जड़ अज्ञ, बिधिहु न नारि हृदय गति जानी, सकल कपट अघ अवगुन खानी, नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं, अवगुन आठ सदा उर रहहीं, तिन महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि, नारि विश्व माया प्रकट, जिमि स्वतन्त्र भये बिगरहिं नारी, भ्राता पिता पुत्र उरगारी, पुरुष मनोहर निरखत नारी, प्रमदा सब दुख खानि, सकल ताड़ना के अधिकारी आदि भी कह दिया है। उद्देश्य यही है कि मनुष्य नारी के मायाचार रूप से सतर्क रहें। 'दीपसिखा सम जुवति तनु मन जनि होसि पतङ्ग' यही सब कथनों का सार है।

'स्रक चन्दन वनितादिक भोगा' की कोटि में आने वाला नारी का भोग्य रूप वैराग्येच्छुक साधकों के लिए दूर रखने की वस्तु है ही। राम के उपासकों को काम के सभी उपकरणों पर ऐसी ही अनास्था रहनी चाहिए। नारी तो उन सब उपकरणों में तीव्रतम उपकरण है अतएव गोस्वामीजी ने ही नहीं, प्रायः सभी सन्तों ने अपनी वाणियों में उसके प्रति—उसके इस श्याम पक्ष वाले रूप के प्रति—बड़ी तीखी उक्तियाँ कही हैं।

सत्य शब्दों में उतर कर एकाङ्गी ही रह जाता है क्योंकि शब्दों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे केवल एकांगो ज्ञान ही करा सकते हैं। शब्दों का अर्थ अपने प्रसङ्ग की सीमाओं में बँधा रहता है। अतएव अपने प्रसङ्ग से हटाकर गोस्वामीजी की किसी उक्ति को नारी के सर्वाङ्ग सत्य का उद्घाटक मान लेना

सर्वथा अनुचित होगा।

देश-काल-पात्र के अनुसार जैसे युग-धर्म बदलता रहता है वैसे ही युग-भावना भी बदलती रहती है। आज की नारी-विषयक भावना वही है जो राम के समय की, मनु के समय की अथवा गोस्वामीजी के समय की थी, यह तो कहा ही नहीं जा सकता। तब इतिहास की बात को इतिहास के लिए छोड़ कर वर्तमान के लिए जो अनुकूल हो वह ग्रहण करते हुए आगे बढ़ना चाहिये। विचार यह किया जाय कि गोस्वामीजी की उक्तियों से हजारों लाखों साधकों को लाभ पहुँचा है कि नहीं—केवल नर ही नहीं किन्तु नारियों की भी। यदि वे लाभप्रद रही हैं तो नारी-स्पर्धा के इस युग में उनकी उक्तियों पर एकाङ्गी दृष्टिकोण से ही विचार कर के उनकी पूरी रचनाओं को भला-बुरा क्यों कहा जाय। आज मानस का रस लेने के लिए लोग पुत्रेष्टि-यज्ञ सरीखी बातों पर उपेक्षा की दृष्टि डाल कर—उन्हें युगधर्मानुकूल न मान कर—आगे बढ़ सकते हैं। जिन्हें नारी-विषयक उक्तियों पर भी इसी तरह की शङ्काएँ हैं उन्हें पूर्ण अधिकार है कि वे ऐसी उक्तियों पर उपेक्षा की दृष्टि डाल कर आगे बढ़ चलें। उनकी कई उक्तियाँ तो अपने नये प्रसङ्ग में अपने ऐसे नये अर्थ भी दे रही हैं जो परम्परागत अर्थ से मिलते-जुलते होते पर भी सर्वथा नवीन हैं और किसी प्रकार आक्षेप योग्य हैं ही नहीं। 'का न करै अबला प्रबल, जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं, गयउँ नारि बिस्वास' आदि ऐसी ही उक्तियाँ हैं। आवश्यकता है कि गोस्वामीजी की उक्तियों का देश-काल-पात्र के अनुसार सहृदयतापूर्वक मर्म समझा जाय और फिर इच्छानुसार उन्हें ग्रहण किया जाय अथवा उनकी उपेक्षा कर दी जाय या उनका त्याग किया जाय।

गोस्वामीजी का नारी-विषयक वर्णन श्रुतिसम्मत परम्परा के अनुरूप तो है ही। वह विरति-संयुत भी है। परन्तु वह कहाँ तक विवेक-संयुत भी है इसी का यथामति दिग्दर्शन कराने के लिए ऊपर का विवेचन किया गया है। उन्होंने जितनी भी कटूक्तियाँ कही हैं उनकी पूरी जिम्मेदारी चाहे उन पर हो चाहे उनके पात्रों पर (मानस के व्यक्तियों पर) परन्तु हैं वे सब मनु के वाक्यों के अनुवाद मात्र।

मानस के उपाख्यान

मानस की प्रधान कथा के साथ कुछ प्रसङ्ग इस प्रकार जुड़े हुए हैं, चाहे उनका सीधा सम्बन्ध उस प्रधान कथा से हो या न हो, कि वे बड़े मजे में उप-कथाओं का काम दे सकते हैं। इनमें से प्रत्येक उपकथा साभिप्राय रखी गई है जो गोस्वामीजी की प्रबन्ध-चातुरी का स्पष्ट ही उद्घोष करती है। वह प्रधान कथा की कहीं सहचरी और कहीं प्रतिचरी बन कर उसकी सौन्दर्य-वृद्धि कर रही है। ऐसी उपकथाओं में प्रतापभानु का आख्यान, नारदमोह का आख्यान, शिव-विवाह का आख्यान, अहिल्या उद्धार का आख्यान, परशुराम का आख्यान, केवट का आख्यान, वाल्मीकि तथा अनुसूया के आख्यान, जयन्त का आख्यान, सुतीक्ष्ण का आख्यान, शबरी का आख्यान, सुबेल शैल का आख्यान, भुशुण्डि के आख्यान, आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इन्हें उपाख्यान भी कह सकते हैं।

प्रतापभानु के उपाख्यान से रावण की प्रच्छन्न भक्ति और उसके प्रच्छन्न सुकृतत्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। नारद मोह के उपाख्यान से प्रभु की विरहलीला का स्पष्टीकरण होता तथा अरण्यकाण्ड के उनके और नारद के सम्वाद का स्वारस्य अनेक गुण अधिक बढ़ जाता है। शिव विवाह का उपा-ख्यान विनोदात्मक रूप से रामविवाह के आख्यान के लिये सुन्दर विपर्यय (प्रति चारी) का काम देता है मानो वह तस्वीर का ऐसा फ्रेम हो जो तस्वीर के रंग को दूना दमका दे। नारी-सम्मान विषयक राम की भावनाओं की झाँकी दिखाने के लिये अहल्योपाख्यान है और यह सुन्दर संयोग ही है कि उसके उद्धार के तुरन्त बाद ही राम को सीता की प्राप्ति हुई।

परशुराम के आख्यान का नाटकीय कौशल तो वह प्रसङ्ग पढ़ने ही से भलीभाँति स्पष्ट हो सकता है। राम के गले में जयमाला पड़ चुकी थी और आगत नरेश लोग विद्रोह की तैयारियाँ कर रहे थे। लक्ष्मणजी का क्रोध उन पर भड़क रहा था और सभामण्डप युद्धस्थल बनने ही वाला था कि परशुराम पहुँच गये। राजाओं को उनके पौरुष का पता था और राम तथा लक्ष्मण के मन में उस अकारण पौरुषाभिमान का कोई मूल्य ही न था। अतएव हँसी-हँसी और व्यङ्ग-व्यङ्ग ही में भंग होता हुआ रंग फिर नये रंग दिखाकर चमक उठा।

केवट का उपाख्यान वनयात्रा के करुणापूर्ण कथारस में श्रोता को विप-र्यय का मानसिक विश्राम देने के लिये एक सुन्दर हास्य रस का प्रसङ्ग उपस्थित

कर देता है। वाल्मीकि तथा अनसूया के उपाख्यान राम के दिव्यत्व की महिमा और सीता के पातिव्रत्य की महिमा प्रकट करने के लिये हैं जो आगे के भावों को समझने में सहायक होंगे। जयन्त का आख्यान यह दिखाने के लिये है कि राम में इतनी शक्ति थी कि वे यदि चाहते तो सीतापमानकारी रावण को भी इसी तरह क्षणमात्र में दण्ड दे सकते थे तथा उनके सुर कार्य का यह अर्थ नहीं है कि वे सुरों का अनुचित पक्षपात करेंगे अथवा सुरमात्र को अदण्ड्य मानेंगे। सुतीक्ष्ण, शरभङ्ग और शबरी के आख्यान बताते हैं कि राम की वनयात्रा ने योगनिष्ठ महात्माओं से लेकर सामान्य आदिम जातीय नारी तक को कितनी कृतार्थता दी। सुवेलशैल की झाँकी युद्धारम्भ की पूर्व भूमिका का अत्यन्त कलात्मक चित्रण उपस्थित करती है। भुशुण्डि के आख्यान भक्ति-रहस्य का दिग्दर्शन कराने के लिये रामकथा के सुन्दर उपसंहार रूप हैं।

प्रधान कथा के भी कुछ अङ्ग ऐसे हैं जिनका उपयोग प्रवचनकारगण उपाख्यानों के रूप में किया करते और उनका रसमय विवरण उपस्थित करके श्रोताओं को आनन्द विभोर किया करते हैं। ऐसे प्रसङ्गों में जनक फुलवारी (वाटिका प्रसङ्ग), धनुषयज्ञ, राम विवाह, भरत भेंट, बालि-वध, लङ्कादहन, विभीषण शरणागति, समुद्र निग्रह, अङ्गद दूतत्व, धर्मरथ आदि-आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। ये वस्तुतः उपाख्यान नहीं परन्तु उपाख्यान बनाकर प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उपाख्यान तो परशुराम संवाद, केवट प्रसङ्ग, वाल्मीकि परामर्श, शबरी भेंट, सुवेल की झाँकी आदि को भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रधान कथा के विकास से इन सबका घनिष्ठ सम्बन्ध है और न अहल्या उद्धार, जयन्त निग्रह, सुतीक्ष्ण प्रीति आदि के प्रकरणों को स्वतन्त्र उपाख्यान कहा जा सकता है क्योंकि उनका भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध रामचरित्र से ही है। इस दृष्टि से प्रतापभानु कथा, नारदमोह कथा, शिवविवाह कथा तथा भुशुण्डि कथा को ही स्वतन्त्र उपाख्यान का पद दिया जा सकता है। परन्तु उपक्रम रूप से प्रथम तीन कथाओं का और उपसंहार रूप से अन्तिम कथा का सम्बन्ध गोस्वामी जी ने प्रधान कथा के साथ इस तरह जोड़ दिया है कि वे भी मुख्य कथारस के पोषक ही बनकर खिल उठे हैं।

प्रवचनकारों को देश, काल, पात्र का विचार रखना परम आवश्यक होता है। श्रोता मण्डली किस प्रकार की है, युग की माँग क्या है तथा उस माँग की बात सुनने का उन श्रोताओं के पास किस हद तक का समय है, मनोगत बातें प्रकट करने का स्थल उपयुक्त है कि नहीं, इत्यादि बातों का विवेक प्रवचनकार को होना ही चाहिये। व्यास-पद्धति से पूरी रामकथा तो कहीं कहीं ही

सुनी जाती है। आजकल के व्यस्त जीवन में लोगों के पास प्रायः समय-संकोच रहा ही करता है। अतएव परिस्थिति के अनुकूल किसी उपकथा या उपाख्यान का प्रसङ्ग छेड़ कर श्रोताओं को रसार्द्र कर देना ही व्यासगणों को विशेष रुचता है। परन्तु प्रवचनकारों को इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि पूरी रामकथा के समान उसके ये उपाख्यान भी 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से भरपूर हैं। सन्तप्रवर गोस्वामीजी के कवि हृदय की अनुभूति ही उसका सत्यं है जिसके अन्तर्गत न केवल तत्व विचार किन्तु चरित्र-चित्रण और मानवमन की विविध भावनाओं का भी समावेश किसी न किसी अंश में हो जाता है। श्रोताओं के मानसिक उन्नयन की शक्ति ही उसका शिवं है और इस शक्ति को प्रेरणा देने वाली रोचक शैली ही उसका सुन्दरम् है। उपाख्यानों के विवेचन में रोचकता का ध्यान तो रखा ही जाय परन्तु वह इस प्रकार रखा जाय जिससे शिवं और सत्यं की किसी प्रकार हत्या न होने पावे। जो इन तीनों का बराबर ध्यान रखता है वही गोस्वामीजी की वाणी का सच्चा प्रवचनकार हो सकता है।

ऋषि-पत्नी उपाख्यान—गौतमनारी के उपाख्यान को गोस्वामीजी ने अत्यन्त संक्षिप्त रूप दिया है। सामयिकता की माँग हो सकती है कि उस पर विस्तार से प्रकाश डाला जाय। नारी का पत्थर बनना और पत्थर का नारी बनना एक बड़ा आश्चर्य ही है। इसी प्रकार अहल्या के साथ इन्द्र की कामुकता का प्रसङ्ग भी बड़ा अद्भुत सा लगता है। और फिर तुर्रा यह है कि अहल्या पंच कन्याओं में मानी गई है जिनका नित्य प्रातः स्मरण प्रत्येक मनुष्य के लिये महापातक नाशक कहा गया है। "अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती, मन्दोदरी तथा पंच कन्याः स्मरेन्नित्यं महापातक नाशनम्" । ये पाँचों नारियाँ ऐसी रही हैं जिनका संसर्ग एक ही पुरुष तक सीमित नहीं रहा परन्तु फिर भी ये प्रातः स्मरणीय आजीवन कुमारिकाएँ ही मानी गईं। गोस्वामीजी की पंक्तियाँ भी देखिये। प्रभु के पूछने पर विश्वामित्रने शिला भूता गौतमनारी की सब कथा तो सुनादी और विशेष यह कहा कि वह धैर्य धारण किए हुए आपकी चरण-कमल-रज की आकांक्षा कर रही है, उस पर कृपा कीजिये। कहाँ पत्थर और कहाँ धैर्यपूर्ण आकांक्षा। फिर देखिये, 'शोक नशावन पद पावन' का स्पर्श होते ही उसने प्रेम अधीर होकर "पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करइ पाना" का वर माँगा परन्तु गई वह आनन्दभरी होकर पतिलोक ही में।

कुछ लोगों ने अहल्या की कथा को रूपक मात्र बताया है। कुछ ने ऐतिहासिक घटना माना है। वाल्मीकि ने उसे पत्थर नहीं बनाया परन्तु इन्द्र के

प्रति आसक्त होना भी संकेतित किया है। प्रभु के पूछने पर विश्वामित्र ने क्या कथा कही है यह तो वे ही जानें क्योंकि गोस्वामीजी ने कुछ खुलासा किया नहीं परन्तु सब बातों का पूर्वापर विचार करते हुये हमें ऐसा जँचता है कि किसी वर्षाकालीन रात्रि में मेघस्थ विद्युत् का वैभव देखकर शृङ्गार भावना शून्य तपोधन गौतम ऋषि की युवती पत्नी अहल्या का मानस-संयम कुछ ढीला पड़ गया होगा जिसे कठोर तपस्वी गौतम सह न सके होंगे और उन्होंने उसका परित्याग कर दिया होगा। वह बेचारी परित्यक्ता होकर पाषाणवत् उपेक्षित पड़ी रही। भले ही यह मानस-संयम की शिथिलता किसी परपुरुष के लिये नहीं किन्तु अपने ही पति गौतमऋषि के लिये रही हो परन्तु गौतमजी की दृष्टि में थी तो वह एक नारी-हृदय की शिथिलता ही। उन प्रभावशाली महर्षि के त्यागे हुये व्यक्ति को द्विज समाज आश्रय दे दे यह तभी सम्भव हो सका जब मखरक्षा के अवसर पर अपना प्रभाव दिखाने वाले राम ने उसे पनाह दी। तब तो राम से प्रभावित द्विज मण्डली ने और गौतम ऋषि तक ने उसे अपनालेने में आना-कानी न की। तपःपूत अहल्या का प्रायश्चित्त पूर्ण हो गया। जो मानस-संयम के लिये भी इतना बडा प्रायश्चित कर सके उसे आजीवन कुमारिका ही कहा जायगा और प्रातःस्मरणीय ही माना जायगा। प्रभु शील देखते हैं और समाज चारित्र्य देखता है। उपर्युक्त पाँचों नारियाँ कामुकता से परे रही हैं और उनका शील बहुत ऊँचे दर्जे का रहा है। अहल्या के शील में जो नारी सुलभ सामान्यता थोड़ी देर के लिये उदित हुई उसका उसने कठोर प्रायश्चित भी कर लिया। अतएव इन पाँचों नारियों को प्रभु ने राम अथवा कृष्ण रूप से सदैव पर्याप्त सम्मान दिया और शास्त्रकारों ने इन्हें 'पंच कन्या' की पदवी दी तथा जताया कि समाज इनके चारित्र्य को इनके शील से परखे न कि बाहरी व्यवहार से।

अहल्या का जार-सम्बन्ध यदि मान भी लिया जाय तो पर पुरुष के छल अथवा बलात्कार में यदि नारी का कोई कामुक सहयोग नहीं है तो उसके लिये उस नारी का परित्याग कर देना समाज के लिये कहाँ तक उचित कहा जा सकता है? शास्त्रकार तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—देखिये अत्रिस्मृति इत्यादि—कि बलपूर्वक हरी गई नारी में यदि दस्युओं का गर्भ भी रह जाय तो भी वह सर्वथा त्याज्य नहीं है। उसके प्रति सदैव उदार दृष्टिकोण रखना चाहिये। अहल्या को शरण देकर प्रभु ने यही दृष्टिकोण ऋषियों के सम्मुख रखा। इस उदार दृष्टिकोण को भूलकर वर्तमान युग के भारतीय समाज ने कई भूलें कीं जिसके कारण उसे कई प्रकार के दुष्परिणाम भोगने पड़े और भोगने पड़ रहे हैं। यह सच है कि लङ्काकाण्ड में राम ने सीता की अग्निपरीक्षा लेकर उन्हें

अपनाया और यहाँ अहल्या को योंही शरण दे दी परन्तु गोस्वामीजी ने उस अग्निपरीक्षा का कारण ही दूसरा देदिया है। अहल्या और सीता की परिस्थितियाँ भी भिन्न थीं और मनोबल भी भिन्न थे। प्रत्येक कथा का मर्म उस कथा की परिस्थिति के दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

बालि-बध—बालि-बध के उपाख्यान पर भी अनेक टीका-टिप्पणियाँ हुई हैं। बालि के दो प्रश्न थे। एक तो यह कि राम ने धर्महेतु अवतार लेकर भी उसे व्याध की तरह–छिप कर या कठोरता धारण कर–क्यों मारा। और दूसरा यह कि राम ने किस अवगुण के कारण उसे मारा। राम ने दूसरे प्रश्न का उत्तर पहिले दिया। उन्होंने कहा—"अनुजबधू, भगिनी, सुत नारी और कन्या—ये चारों एक बराबर सम्मान्य हैं। इन्हें जो कुदृष्टि से देखता है वह निश्चय ही बध के योग्य है। नारी-सम्मान की मर्यादा कितनी ऊँची उठा दी गई है। इन पंक्तियों में [इसी प्रसङ्ग में कुछ लोग गोस्वामीजी की वे पंक्तियाँ कहते सुने गये हैं जिनमें सुग्रीव और विभीषण को अपनाने की बात कहते हुए गोस्वामीजी ने लिखा है "जेहि अघ बधेउ ब्याध इव बाली, पुनि सुकण्ठ सोइ कीन्ह कुचाली। सोइ करतूति विभीषण केरी, सपनेहु सो न राम हिय हेरी।" इन दोनों प्रसंगों में कोई पूर्वापर विरोध नहीं है। गोस्वामीजी ने स्पष्ट ही लिखा है "रहति न प्रभुचित चूक किये की, करत सुरति सय बार हिये की।" सो, विभीषण और सुग्रीव में 'हिये की' भावना शुद्ध थी यद्यपि भ्रातृ पत्नी को अपनी पत्नी बना लेने की उनकी क्रिया शिष्ट लोकमर्यादा के अनुसार उसी प्रकार की 'कुचाली' या 'करतूति' कही जायगी जैसी बालि की। शिष्ट दृष्टि से यह 'किये की' चूक है परन्तु अनार्य परम्परा में प्रचलित चाल के अनुसार मृत ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी को अपनी पत्नी बना लेना देवर के लिए क्षम्य माना जाता है जब कि जीवित लघु भ्राता की पत्नी को जबरदस्ती अपनी पत्नी बना लेना जेठे भाई के लिए किसी प्रकार क्षम्य नहीं समझा जाता। अतएव बालि का कृत्य हुआ 'अघ' जिसके लिए वह मारा गया और सुग्रीव का उसी प्रकार का कृत्य हुआ 'कुचाल' जो उपेक्षित किया गया। भाव निश्चित रूप से शुद्ध हो या होगया हो तो चाल आपही आप शुद्ध हो जायगी—तुरन्त नहीं तो कालान्तर में सही। उसके लिए फिर अलग से दण्ड व्यवस्था की आवश्यकता नहीं पड़ा करती।] अब रहा पहिले प्रश्न का उत्तर, सो राम ने कहा कि बालि जानता था कि सुग्रीव उनके शरणागत हो चुका है और शरणागत प्रतिपालन उनका प्रधान धर्म है। तारा ने इसका स्पष्टीकरण किया था। सुग्रीव की कण्ठमाला ने इसका संकेत दिया था। तब उनकी उपेक्षा करके सुग्रीव को मारना मानो स्पष्ट ही उन्हें चुनौती

देना था। उसे जान लेना चाहिये था कि राम समीप ही हैं और उनका वरद हस्त अथवा अभयद अस्त्र अपने आश्रित की रक्षा के लिए अनुकूल अवसर पर अवश्य ही अग्रसर हो जायगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से तो बालि बध की यह कथा निर्दोष है ही क्योंकि परात्पर प्रभु के सभी कृत्य परदे की आड़ से हुआ करते हैं। हम उन्हें नहीं किन्तु उनके संकेतों के परिणाम ही देखते हैं। परन्तु राजनैतिक दृष्टि से भी यह कथा निर्दोष हो जाती है क्योंकि एक तो बालि उद्घोषित अपराधी की कोटि में आ चुका था जिसे किसी भी प्रकार से समाप्त कर देने का प्रत्येक नागरिक को अधिकार हो जाता है, दूसरे यह कि यदि ललकार कर युद्ध छेड़ा जाता तो अङ्गद सरीखे महानुभावों को भी इस ओर या उस ओर से युद्ध में प्रवृत्त होना पड़ता और व्यर्थ का वीर-संहार होने लगता।

भुशुण्डि उपाख्यान—भुशुण्डिजी के उपाख्यान को गोस्वामीजी ने कई जगह "इतिहास" कहा है मानों भौतिक जगत् में भी कभी यह घटना घटी हो। मानस के अनुसार राम कथा के मूल वक्ता हैं शङ्करजी जिनसे पार्वतीजी ने भुशुण्डि विषयक आख्यान का प्रश्न पूछा है। वे दोनों हैं अध्यात्म जगत् के तत्त्व। भुशुण्डि और गरुड़ ठहरे अधिदैव जगत् के प्राणी। हम लोग हैं अधिभूत जगत् के जीव। इसलिये हमारा इतिहास भौतिक जगत् तक सीमित हो गया है। सर्वश्रेष्ठ अध्यात्म जगत् के तत्त्वों की दृष्टि में यदि अधिदैव जगत् की घटना भी इतिहास के नाम से सम्बोधित हो जाय तो क्या आश्चर्य! हमें यदि कौवे का बोलना और गरुड़ का सुनना तथा मनुष्यों का वह सब समझ लेना कुछ अटपटा सा लगता हो तो हम इसे एक रूपक या प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग भी मान सकते हैं। उपाख्यान की तह पर पहुँचा जाय। सतह की फेनों में उलझने से कुछ रस मिलने वाला नहीं।

'एक कल्प ही में नहीं अनेक कल्पों में इन्हीं राम का अवतार हुआ है। इस बात का प्रत्यक्ष साक्ष्य काकभुशुण्डि के उपाख्यान से दिलाया गया है। भुशुण्डि किसी कलियुग में अयोध्या के शूद्र थे। शिव सेवा में उनका मन लगा और वे उज्जयनी के शिवमन्दिर में एक वैदिक ब्राह्मण से दीक्षा लेकर मन्त्र जप करते रहे—ध्यान दीजिये कि शूद्रों को भी वैदिक ब्राह्मण लोग मन्त्र दिया करते थे और उनका भी मन्दिर प्रवेश में अधिकार था—परन्तु उन्हें हरि-जनों—विष्णु भक्तों से द्वेष था—मन में साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता थी। इस द्वेष के कारण एक बार उन्होंने गुरु का भी अपमान किया जिससे सर्प आदि विविध योनियों में उन्हें भटकना पड़ा। परन्तु फिर भी शङ्कर के आशीर्वाद से उनकी

चेतना बनी रही और गति अप्रतिहत रही। उन्हीं के आशीर्वाद से रामभक्ति भी मिली। अन्त में द्विजदेह पाकर वे लोमश ऋषि से दीक्षा लेने गये। वे चाहते थे सगुण ब्रह्म विषयक दीक्षा और ऋषि देने लगे निर्गुण ब्रह्म विषयक दीक्षा। दोनों में विवाद चल पड़ा। तब मुनि ने क्रुद्ध हो कर शाप देदिया जिससे भुशुण्डिजी को कौवा हो जाना पड़ा। उनकी सहनशीलता देख मुनि द्रवित हुए और शम्भुप्रसाद से मिले हुए रामचरितमानस का रहस्य बताया। अनेकानेक अन्य वरदान भी दिये। इस वायस शरीर से भुशुण्डिजी नीलमणि शैल पर रह रहे हैं। जब गरुड़ उनसे मिलने गये थे उस समय तक उन्हें वहाँ रहते-रहते २७ कल्प बीत चुके थे। वे अनायास अपना काक-शरीर त्याग सकते थे परन्तु क्योंकि राम-रहस्य का बोध इसी शरीर द्वारा हुआ था इसलिए उसे वे त्याग नहीं रहे थे। उनका तो सिद्धान्त था "सोइ पावन सोइ सुभग शरीरा, जो तनु पाइ भजिय रघुवीरा।" आस्तिक सदाचारी का शूद्र शरीर नास्तिक दुराचारी के ब्राह्मण शरीर की अपेक्षा निश्चय ही अधिक पावन है, अधिक सुभग है।

भुशुण्डि की भावुकता का रस पाकर वह रामचरित मानस इतना सुधास्वादीय हो गया कि मानस के आदि-प्रवर्तक शङ्कर भी वह रस पान करने के लिये मराल बन कर वहाँ रहे थे। यही नहीं, जब राम के आधिदैविक रूप के उपासक गरुड़ को उनके आधिभौतिक रूप की लीलाओं में कुछ शङ्काएँ हुईं तो शङ्करजी ने उन्हें काकभुशुण्डि ही के पास भेजा। क्यों ? पहिले तो इसलिये कि जो श्रद्धा का क्षेत्र है उसके विषय की शङ्काओं का समाधान बहुत काल तक सत्सङ्ग करने पर ही होता है दूसरे इसलिये कि शङ्का के समाधान के लिये पहिले अपना ज्ञानाभिमान दूर कर देने की हिम्मत आजानी चाहिये—पक्षि-राज को भी शंकुनाधम कौवे के पास तक नम्र होकर पहुँचने में झिझक न होनी चाहिये। तीसरे इसलिये कि जो जिस भाषा—जिस भावप्रकाशन शैली—को ग्रहण कर सकता है उसका वास्तविक समाधान उसी भाषा द्वारा हो सकता है। "खग जानै खग ही की भाषा।"

भुशुण्डि ने सम्मान सहित गरुड़ को अपनाया और रामचरितमानस की जो कथा कही उसका उल्लेख अनुक्रमणिका रूप में शङ्करजी ने किया है—मानो पूरी पुस्तक की विषय-सूची इसी बहाने उन्होंने प्रकट कर दी है। फिर भुशुण्डि ने गरुड़ को बढ़ावा देते हुए कहा "हे गोसाईं खगसाईं। तुम्हें भ्रम या मोह हुआ तो क्या आश्चर्य, इस संसार में किसे मोह नहीं हुआ ? सगुण लीलाओं का मर्म समझना आसान नहीं हुआ करता। एक बार मुझे भी प्रभु का शिशुरूप देख कर मोह हो गया था—भ्रम हो गया था। उस समय उन्होंने मुझे पकड़ना चाहा

और मैं भागा। अखिल ब्रह्माण्ड में मैं मारा-मारा फिरा परन्तु प्रभु की भुजा से छुटकारा न मिला। जब हताश होकर आँखें बन्द करलीं तो उनके सामने ही उपस्थित हो गया और उनकी एक हँसी के झोके में मैं उनके मुँह ही में समा गया। वहाँ उनके उदर में मैंने अनेक ब्रह्माण्ड देखे और सैंकड़ों वर्षों तक उन ब्रह्माण्डों में भटकता रहा। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में मैंने राम का वही रूप देखा। मेरे सैंकड़ों कल्प वहीं बीत गये। दो घड़ी ही में यह सब होगया। मुझे विकल देख राम फिर हँसे और मैं बाहर आ गया। तब राम ने बरदान दिया—

"भगति, ज्ञान, विज्ञान, विरागा। जोग, चरित्र, रहस्य-विभागा।।
जानव तें सब ही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा।।"

[मानो हरिरस के ये सातों सोपान उन्होंने मेरे लिये सुलभ कर दिये।] उन्होंने अपना भक्तिविषयक सिद्धान्त भो सुनाया जिसे रामगीता कह सकते है। यह सब तो जो मैंने देखा सुना. वह बताया अब अपना अनुभव भी बताए देता हूँ कि हरिभजन के बिना क्लेश नहीं जा सकते। राम कृपा के बिना राम की प्रभुता नहीं जानी जा सकती। वह जाने बिना उनमें प्रतीति नहीं हो सकती और प्रतीति के बिना प्रीति नहीं हो सकती। प्रीति के बिना भक्ति दृढ़ न होगी और भक्ति के बिना न क्लेश ही दूर होंगे न और कुछ सिद्ध होगा। राम की महिमा करोड़ों विष्णुओं से भी बढ़कर है। उनकी थाह पाना असम्भव है।"

यों तो गरुड़ ने भुशुंडि से अनेक प्रश्न पूछे हैं परन्तु तत्व विषयक उनके दो प्रश्न महत्वपूर्ण हैं। एक है ज्ञान और भक्ति की तुलना वाला प्रश्न और दूसरा है मानस रोग वाला प्रश्न। भुशुन्डि ने तत्व विषयक जितनी भी बातें कही हैं—चाहे वे किसी प्रश्न के प्रत्यक्ष उत्तर में हों चाहे परोक्ष उत्तर में—वे सभी महत्वपूर्ण और परम मननीय हैं। जान पड़ता है कि रामकथा के प्रवाह में भक्ति सिद्धान्त पर गोस्वामीजी जो न कह पाये थे वह कहने के लिये ही और जो कह पाये थे उसकी जोरदार पुनरावृत्ति के लिये ही यह उपसंहार रूपा भुशुण्डि कथा कही गई है। भुशुण्डि की उन तत्वोक्तियों के अतिरिक्त उनके द्वारा जो कलि-वर्णन हुआ है वह भी बड़े मार्के का है।

ज्ञान और भक्ति की तुलना में सर्व प्रथम तो उन्होंने यही कहा कि भक्ति और ज्ञान दोनों ही भवसंभव खेद दूर करने वाले हैं अतएव उस दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं। परन्तु उन दोनों का जो अन्तर है वह दो दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जायगा। ज्ञान वैराग्य योग विज्ञान—ये सब पुरुष वर्ग के प्रतापी साधन हैं परन्तु माया एक ऐसी नारी है जो बड़े-बड़े पुरुषों को नचा देती है। भक्ति भले ही दीन हीन नारी हो परन्तु है तो वह नारी वर्ग की इसलिये उसे माया नचा

ही नहीं सकती। फिर मजा यह कि परमात्मा की प्रेयसी तो भक्ति है, माया तो उसकी नर्तकी मात्र रखेली या दरबार में नाच-गाकर रिझाने वाली मात्र है, अतएव माया तो भक्ति से सदैव डरा करती है। ज्ञान से वह इस प्रकार क्यों डरने चली। दूसरा दृष्टान्त है वैराग्यदीप और भक्तिमणि का। जब जड़ और चेतन की ग्रन्थि पड़ जाती है तभी जीव माया विवश होकर संसारी बनता है। वह ग्रन्थि दिखाई पड़ सकती है—और तब बुद्धि द्वारा खोली जा सकती है—यों तो विज्ञान दीप के प्रकाश से या भक्तिमणि के प्रकाश से। परन्तु विज्ञान-दीप प्रज्ज्वलित करना बहुत साधन-सापेक्ष तथा श्रम-सापेक्ष है। इतने पर भी वह प्रज्ज्वलित हो उठा तो विषयाधिष्ठाता देवगणों का विघ्न प्रारम्भ हो जाता है और उसके बुझने की सम्भावनाएँ उपस्थित हो जाती हैं। अतएव ज्ञान का पंथ कृपाण की धारा है। इतने पर भी अति दुर्लभ कैवल्य पद का सुख उसके द्वारा यदि मिल भी गया तो भक्ति के बिना वह टिक नहीं सकता। भक्तिमणि की यह खूबी है कि उसे "दिया घृत बाती" इत्यादि के कोई साधन चाहिये ही नहीं। वह सुगम है, सुखद है, उसमें कोई विघ्न नहीं। वह मणि ही नहीं चिन्तामणि है जो विपक्षी को भी मित्र बनादे और सब मानस रोग दूर कर दे। इस मणि के बिना सुख मिल ही नहीं सकता। जिसके पास यह मणि है उसके पास मुक्ति तो "अनइच्छित बरियाई" आ जायगी। अतएव इस मणि की प्राप्ति के लिये ही प्रयत्नवान् होना चाहिये। इसकी प्राप्ति के तीन साधन हैं। पहिला है रामकृपा जिसके बिना यह प्राप्य ही नहीं। यह है प्रभु सापेक्ष साधन। दूसरा है ज्ञान और वैराग्य रूपी नयनों के सहारे सुमति कुदारी से रामकथा की रुचिर खदानों का भाव सहित उत्खनन। यह है स्वसापेक्ष साधन। तीसरा है सत्संग जिसके बिना भी यह प्राप्य नहीं है। यह है पर-सापेक्ष साधन। भक्ति के लिये ज्ञान-वैराग्य भी कितने आवश्यक हैं यह न केवल नयनों की तुलना से स्पष्ट किया गया है किन्तु उन्हें ढाल तलवार बनाकर मद मोह लोभ पर विजय प्राप्त करने के नाम को ही भक्ति बताया गया है।

मानस रोग वाले प्रश्न का उत्तर भी मनन करने योग्य है। ये रोग रहते हैं सबमें परन्तु बिरले ही इन्हें लख पाते हैं। लखे जाने पर—आत्म विश्लेषण या साइकोएनेलिसिस होने पर—ये कुछ क्षीण अवश्य हो जाते हैं। परन्तु नष्ट ये तभी होते हैं जब इन्हें विषयों का कुपथ्य न मिलने पावे। जिस पर अपना विश्वास जम जाय ऐसे सद्गुरु रूपी वैद्य से जब रामभक्ति रूपी सजीवनमूल श्रद्धा रूपी अनुपान के साथ दी जाय तभी ये रोग दूर हो सकते हैं। इस रोग नाश में भी रामकृपा की प्रधानता मानना चाहिये। रोग दूर हो रहे हैं यह तब

जाना जा सकता है जब हृदय में वैराग्य का बल बढ़ने लगे, सुमति की क्षुधा बढ़ने लगे और विषयाशा रूपी दुर्बलता दूर होने लगे। विमल ज्ञान जल से जब अपने स्नान होने लगें तब समझना चाहिये कि रोग दूर हुए। इन सब रोगों का मूल है मोह जो काम, क्रोध, लोभ रूपी बात, पित्त और कफ में वैषम्य उत्पन्न करके तरह-तरह के रोग पैदा करता है। विषयों के लिये विविध मनोरथ, विषयासक्तिपूर्ण ममता, ईर्ष्या, जलन, दुष्टता, मन की कुटिलता, अहङ्कार, दम्भ, कपट, मद, मान, तृष्णा, त्रिविध ईसणा, मत्सर, अविवेक आदि असंख्य रोग ही तो हैं जो मानस को व्यथित किया करते हैं। शरीर के भी अनेक रोग मानस के इन रोगों से ही उद्भूत होते हैं अतः इन्हें ही वस्तुतः सन्निपात शूल, दाद, खाज, क्षय, कुष्ट, जलोदर, ज्वर आदि समझना चाहिए। कलिधर्म वर्णन की कुछ पंक्तियाँ ये हैं:—

भये लोग सब मोह बस लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान ग्यान निधि, कहहुँ कछुक कलिधर्म॥
ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि मोह बस करहिं विप्र गुरु घात॥
भये बरनसंकर कलि भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख भये रुज सोक वियोग॥
श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ संयुत बिरति विवेक।
तेहि न चलहिं नर मोहबस कलपहिं पंथ अनेक॥
इरिषा परुखाच्छर लोलुपता, भर पूरि रही समता विगता।
सब लोग वियोग विसोक हये, बरनास्रम धर्म अचार गये॥
दम दान दया नहिं जान पनी जड़ता परवंचनताति घनी।
तनु पोषक नारि नरा सगरे, पर निन्दक जे जग मों बगरे॥
सुनु व्यालारि कराल कलि मल अवगुन आगार।
गुनहु बहुत कलियुग कर बिनु प्रयास निसतार॥
कृतयुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
कलि कर एक पुनीत प्रतापा, मानस पुण्य होइ नहिं पावा।
प्रगट चारि पद धरम के कलि महँ एक प्रधान।
जेन केन विधि दीन्हे दान करइ कल्यान॥

तात्पर्य यह कि जब मोहवश होकर लोग क्षुद्र स्वार्थ साधना में तत्पर हो जायँ और उनकी कथनी तथा करनी में वैपरीत्य आ जाय तभी समझ

लीजिये कि कलियुग आ गया। उसमें जन्मगत और कर्मगत वर्णसंकरता बढ़ती है। नये नये मनमाने पंथ चलाए जाते हैं, लोग पाप करते रहते और दुःख पाते रहते हैं तथा रोग, शोक वियोग आदि की वृद्धि होती है। सारांश यह कि उसमें समता विगत हो जाती है क्योंकि लोगों के मन में रहती है ईर्ष्या, वचनों में रहती है परुषाक्षरता और क्रिया में रहती है लोलुपता। परन्तु जहाँ उसमें इतने दोष हैं वहाँ उसमें कुछ गुण भी अपूर्व हैं। पहिला गुण तो यह है कि यही ऐसा युग है जिसमें केवल प्रभु के नामोच्चारण के साधन से ही भव पार किया जा सकता है। भगवान् के विमल गुण गणों का गान करके मनुष्य बिना प्रयास भवसागर से पार हो जाते हैं। दूसरा गुण यह है कि इस युग में मानसिक पुण्य संकल्पों का तो शुभ फल मिलता है परन्तु मानसिक पापों का कुफल नहीं भोगना पड़ता। तीसरा गुण यह है जिस प्रकार हो सके दान किया जाय। उससे कल्याण ही होगा।

पहिले गुण का लाभ तभी मिल सकता है जब नामोच्चारण के साथ निश्छल हृदयता और प्रभु-प्रेम की यथेष्ट मात्रा भी सम्मिलित हो। तीसरे गुण का लाभ भी तभी मिलेगा जब दान देश काल और पात्र का पूरा विचार रख कर दिया जाय नहीं तो अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। दूसरे गुण की बात बड़ी शंकास्पद ही समझनी चाहिये। मानसिक पाप मन तक ही सीमित न रह कर प्रायः क्रिया में उतर आते हैं और इसलिये वे कुफलदायक हो ही जाते हैं। हाँ, पतितों को आशावादिता का सन्देश देकर शुभ सङ्कल्प की ओर उन्मुख करने के लिये इस गुण को हम एक प्रकार का प्रोत्साहन-वाक्य मान सकते हैं।

भुशुण्डिजी का कहना है कि कलिधर्म का उदय समग्र विश्व के लिये तो अपने कालक्रम से ही होता है परन्तु मनुष्य, मनुष्य के हृदय में युगधर्मों का चक्र प्रायः नित्य ही चला करता है। "नित युग धर्म होहिं सब केरे, प्रबल राम माया के प्रेरे"। इसलिए "बुध जुग धरमु जानि मनमाहीं, तजि अधरमरति धरम कराहीं।" क्या करें कलियुग है ऐसा कहने से काम न चलेगा। प्रत्येक दिन प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने हृदयस्थ कलियुग को दूर करके सतयुग की प्रतिष्ठा करावे।

मानस के उपाख्यान (२)

पुष्पवाटिका प्रसङ्ग

पुष्पवाटिका प्रसङ्ग मानस का अत्यन्त आकर्षक उपाख्यान है। अपने भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही अर्थों में वह परम रोचक है। पहिले भौतिक अर्थ देखिये।

जनकजी के उस श्रेष्ठ बाग में बसन्त ऋतु लुब्ध होकर डेरा डाल चुकी थी। नारी हृदय के आकर्षण के लिये इससे उपयुक्त और कौन स्थल होगा। वहाँ चातक [स्वाती का प्रेमी—शरद् रसग्राही पक्षी] कोकिल [वसन्तरसग्राही पक्षी] कीर [ग्रीष्म ऋतु के पके फलों का प्रेमी पक्षी] चकोर [शीतल चन्द्र युक्त शिशिर ऋतु का प्रेमी पक्षी] विहङ्ग [शैत्य के अनुसार अपने निवासस्थान बदले रहने वाले हंस आदि पक्षी जो हेमन्त के प्रेमी कहे जा सकते हैं] कूजन कर रहे थे और मोर [वर्षा ऋतु में मस्त रहने वाले पक्षी] नाच रहे थे। मानों ये सब पक्षी बता रहे थे कि उस बाग में बसन्त की प्रधानता होते हुए भी हरएक ऋतु का वैभव एक साथ पटा पड़ा था। बाग के मध्य में मणिसोपान निर्मित एक सुन्दर सरोवर था जिसमें सतयुगी वैभवों की आभा झलकाने वाला सतोगुणी उज्ज्वल निर्मल सलिल, त्रेता युगीन वैभवों को आभा झलकाने वाले सात्विक-राजस रागी बहुरङ्ग सरसिज, द्वापर युगीन आभा झलकाने वाले राजस-तामस रङ्गोंयुक्त जलखग कूजते थे और कलियुगीन वैभव की आभा झलकाने वाले तामसरङ्गी भृङ्ग गूँज रहे थे। जल और स्थल दोनों का ही पूर्ण मोहक सौन्दर्य वहाँ विद्यमान था। राम और लक्ष्मण दोनों ही बन्धुओं ने चारों ओर की वह छटा देखी, मालियों से पूछा और प्रफुल्ल होकर सुमन लेने लगे—मानों मालियों ने ही नहीं वृक्षों ने भी अपने सु-मन आप ही आप उन्हें अर्पित करना प्रारम्भ कर दिया हो।

देश की [परिस्थिति की] अनुकूलता के साथ काल की भी अनुकूलता देखिये। ठीक उसी अवसर पर—"निज अनुरूप सुभग वर" माँगने के लिये भवानी-पूजन के हेतु सीताजी जननी द्वारा उसी बाग में भेजी गईं। गातीं-बजातीं सुभग सयानी सखियाँ साथ थीं। इधर सीताजी ने वर माँगा उधर एक सखी ने टहलते-टहलते अनायास उस 'सुभग वर' का पता पा लिया।

पात्र की अनुकूलता का तो फिर कहना ही क्या था। दोनों ही अनिंद्य सुन्दर यौवन के मैदान में उतरे हुए और हृदय के सौदे के लिये तैयार, देखा तो आँखों ने जिसके पास वाणी नहीं थी और वर्णन करने वाली होती है जीभ जो देख सकती नहीं। 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी।' फिर सुन्दरता का यथार्थ वर्णन हो कैसे। सीता के हृदय में अति उत्कण्ठा जाग उठी। अन्य सखी ने श्रवणानुराग में पुट चढ़ाते हुए कहा "अहे, ये वे ही हैं जिनकी चर्चा घर-घर हो रही है। 'बरनत छवि जहँ तहँ सब लोगू, अवसि देखियहि देखन जोगू'। दर्शन-योग का पूरा लाभ उठा लिया जाय।" उत्कण्ठा व्याकुलता में परिणत हुई और दर्शनों का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया। पूर्व जन्म का अनुराग पूरे वेग से उमड़ उठा। मजा यह कि इस सब क्रिया में स्नेह और शील दोनों का संरक्षण होता चल रहा था।

प्रेम तो दोनों ओर पलता है। राम का हृदय इसका कोई अपवाद न था। अलङ्कार-ध्वनि के श्रवणानुराग ने दर्शनानुराग के फल दिखाये और राम के निर्निमेष नयन सीताजी के मुख की ओर टकटकी लगा बैठे। अवर्णनीय था वह रूप राम के लिये भी। उनका सराहत (काम शरों से आहत) हृदय ही सराहना करता रह गया कि:—

"जनु विरंचि सब निज निपुनाई, बिरचि विस्व कहं प्रगटि देखाई।
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छबि गृह दीप सिखा जनु बरई।
सब उपमा कवि रहे जुठारी, केहि पटतरउँ विदेह कुमारी।"

कितनी खूबी है इन तीन पंक्तियों में। इन्हें मिलाइये कवि कुलगुरु कालिदास के महाकाव्यों से। कुमारसंभव में पार्वती के रूप का वर्णन है :—

'सर्वोपमाद्रव्य समुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकत्र सौंदर्य दिदृक्षयेव'।

कविकुलगुरु कहते हैं कि अपनी निर्मित सुन्दर वस्तुओं का एकत्र सौंदर्य देखने ही के लिए मानो विधाता ने वह पार्वतीरूप प्रयत्नपूर्वक बनाया था। गोस्वामीजी के राम प्रथम पंक्ति द्वारा मन में कहते हैं कि मानों विधाता ने अपना समस्त नैपुण्य संसार को दिखाने के लिए सीताजी के रूप में सँजो कर रख दिया है। कहाँ स्वतः देखना, कहाँ दूसरों को दिखाना। ध्वनि यह भी है कि इस सीता-तनु का निर्माण तो विधाता की शक्ति के बाहर रहा होगा। उसने तो अपना सब नैपुण्य उसमें सँजो भर दिया है। कविकुलगुरु के दूसरे महाकाव्य रघुवंश में इन्दुमती के रूप का वर्णन है :—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा

नृपेन्द्रभागाट्टि इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।

भाव यह है कि इन्दुमती दीपशिखा की भाँति स्फूर्तिमती, कान्तिमती, तन्वंगी, प्रभावोत्पादिनी इत्यादि इत्यादि थी। उपमा इतनी मार्मिक थी कि कालिदास इस उपमा की छाप वाले कहाने लगे। "दीपशिखा कालिदास" यही उपमा गोस्वामीजी के राम को भी भाई परन्तु इसे कितना ऊँचा उठा दिया है उन्होंने। देखिये दूसरी पंक्ति—'सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छविगृह दीपशिखा जनु बरई'। संसार रूपी छविगृह में कितने भी सौंदर्य प्रसाधन क्यों न भरे हों परन्तु जब तक यह दीपशिखा न होगी तब तक उनका कोई मूल्य न होगा। वे सब अन्धकार में अनाकर्षक बने पड़े रहेंगे। यह दीपशिखा जलन या ईर्ष्या उत्पन्न करने वाली नहीं किन्तु साक्षात् सौन्दर्य को भी अभिनव सुन्दरता से चमका देने वाली है। मतलब यह है कि अशिष्ट भावों को भले ही यह पतंग बना कर भस्म कर दे परन्तु शिष्ट सुन्दर भावों को दिव्य आनन्द के सौन्दर्य से यह और चमका देती है। कविकुलगुरु के तीसरे सुप्रसिद्ध काव्य मेघदूत में यक्ष पत्नी का वर्णन है "सा तत्रस्याद युवति विषये सृष्टिराद्येव धातुः।" भाव यह कि विधाता ने मानो उसे नारी-सौन्दर्य का प्रथम साँचा—पहिला माडल—बनाया था जिसकी अनुकृति में अन्य सुन्दर-सुन्दर नारियाँ बनाई गईं। गोस्वामीजी के राम का हृदय कहता है कि जो विदेह-कुमारी हो—बिना देह वाली अव्यक्त मूल प्रकृति, सम्पूर्ण विश्व सौन्दर्य की मूलभूता महामाया, ही कुमारी बन कर आगई हो, उसे विधाता का बनाया माडल कैसे कहा जाय? कवि-परम्परा ने नारी सौन्दर्य की रसानुभूति कराने के लिए प्राकृतिक और अप्राकृतिक सुन्दर सुन्दर पदार्थों का सहारा उपमान रूप में ताका है। गोस्वामीजी के राम का हृदय स्पष्ट घोषित कर रहा है कि "सब उपमा कवि रहे जुठारी, केहि पटतरउँ विदेह कुमारी"। इसी पंक्ति की व्याख्या सी करते हुए कवि गोस्वामीजी अन्यत्र कहते हैं:—

सिय सोभा नहिं जाइ बखानी, जगदम्बिका रूपगुन खानी।
उपमा सकल मोहिं लघु लागी, प्राकृत नारि अङ्ग अनुरागी।
सिअ बरनिअ तेहि उपमा देई, कुकवि कहाइ अजस को लेई।
जौं पटतरिय तीय महँ सीया, जग अस जुअति कहाँ कमनीया।
गिरा मुखर तनु अरध भवानी, रति अति दुखित अतनुपति जानी।
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही, कहिय रमासम किमि बैदेही।
जौं छबि सुधा पयोनिधि होई, परम रूपमय कच्छप सोई।

सोभा रजु. मंदरु सिंगारू, मथइ पानि पंकज निज मारू।
एहि विधि उपजइ लच्छि जब, सुन्दरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय सम तूल।।

इस प्रसङ्ग में हमें बरबस एक परवर्ती कवि का कवित्त स्मरण हो आता है जिसने राधिका के मुख-निर्माण पर अपनी कल्पनाएँ उड़ाई हैं। परन्तु फिर भी वह न तो गोस्वामीजी का भाव-गाम्भीर्य पा सका है और न कल्पना-सौकुमार्य। कवित्त फिर भी अपने ढङ्ग का बड़ा चमत्कारिक है जो यों है:—

सुषमा के सिन्धु को सिंगार के सुमन्दर तें,
मथि कै सुरूप सुधा सुख सों निकारे हैं।
करि उपचार तासों स्वच्छता उतारे, तामें,
सौरभ-सहाय श्री सुहास रस डारे हैं।
कवि रस रङ्ग ताको सत जो निकारे तासों,
राधिका-बदन बेस विधि ने सँवारे हैं।
बदन सँवारि कै जो हाथ धोय डारे, सोई,
जल भयो चन्द कर-झारे भये तारे हैं।।

राम का आकर्षण निश्छल आकर्षण था इसलिए अनुज लक्ष्मण के समक्ष भी अपने मनोभाव प्रकट करने में—और आगे चल गुरु के समक्ष भी सब बातें स्पष्ट कहने में—उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ। सीताजी का आकर्षण भी निश्छल था किन्तु नारी-सुलभ शील की मर्यादा उनमें इतनी अधिक थी कि न तो वे ही सखियों से कह सकीं कि वे राम पर आसक्त हो गई हैं और न सखियाँ ही कह सकीं कि वे उनका मनोभाव जान गई हैं। और तो और स्वतः जगज्जननी पार्वतीजी से भी जिनके मन्दिर में वे दुबारा गईं, सीताजी अपने हृदय की बात खोल कर न कह पाईं। शील की आड़ से प्रेम की ज्योति अध-खिली झिलमिलाहट में ही अपना अपूर्व आकर्षण रखती है। उसका सौन्दर्य इसी रूप में प्रशस्त है।

सखियाँ सीता को ले तो जाती हैं राम का दर्शन करने परन्तु लक्ष्य कराती हैं लता-ओट का, जिसके पीछे राम हैं और जिसे देखने पर सहज ही राम के दर्शन हो जायँगे। सीता ने देखा। आँखों ने अपनी निधि पहचानी वह निधि जिसकी तिलभर श्यामता पाकर पुतलियाँ ससांर के रूपदर्शन में समर्थ हो सकी हैं—और वे भी निर्निमेष होगईं। आँखें झँप कर बन्द हो गईं मानों सीताजी की चातुरी ने उस मूर्ति को नयन मार्ग से हृदय की कोठरी तक झटपट पहुँचा कर कपाट बन्द कर दिये हों। मजा यह कि राम ने जब देखा तब भी

आँखें चार नहीं हुईं और सीता ने जब देखा तब भी आँखें चार नहीं हुईं। फिर भी दोनों दोनों के ऊपर निछावर हो गये।

सखियों ने उस समय का राम का वह नखशिख सौन्दर्यशाली रूप देखा। वह शोभा ही नहीं किन्तु शील का भी निधान था। तब सखियाँ अपने ही स्वार्थ से देखती रह जातीं यह कैसे हो सकता था। सीता इस रूपदर्शन से वञ्चित क्यों रह जायँ। उन्होंने तो नयन बन्द कर रखे हैं। उन्हें कहा भी कैसे जाय कि जिनके ध्यान में मग्न हो वे समक्ष आगये हैं देखलो। रहस्य की बात खुल जाती इससे। एक सयानी समझदार सखी ने आखिरकार हिम्मत की। सीता का हाथ अपने हाथ में लिया—ताकि वे चौककर आँखें खोल दें—और बोली—"गौरी का ध्यान पीछे कर लेना पहिले उन भूपकिशोर को तो देख लो जिनकी चर्चा अभी हो रही थी।" सीता ने सङ्कोच पूर्वक आँखें खोल दीं परन्तु फिर वे खुली की खुली ही रह गईं। सखियाँ विलम्ब होते देख घबरा उठीं किन्तु कहें भी कैसे कि अब वापिस चलना चाहिये। प्रीति की बात भी गुप्त रह जाय और वियोग की बात का—चाहे वह क्षणिक वियोग ही क्यों न हो—अप्रिय उल्लेख न होते हुए भी यथेष्ट संकेत हो ही जाय, यह कैसे सधे। एक आली के मुँह से निकल पड़ा "पुनि आउब एहि बिरियाँ काली" और वह अपने ही वाक् कौशल पर मन ही मन अट्टहास कर उठी। उस गूढ़गिरा का अभीष्ट परिणाम हुआ और सीताजी सङ्कोच, भय, धैर्य, विवेक सभी का सहारा लेकर लौटीं परन्तु लौटते-लौटते भी लौट-लौट कर, लोटपोट करने वाली उस छवि पर लट्टू होती गईं। कभी भूतलस्थ मृग को देखने का बहाना था, कभी नभस्थ पक्षी को देखने का बहाना था, कभी अन्तरिक्षस्थ तरुविस्तार को देखने का बहाना था। परन्तु लक्ष्य तो था रघुवीर-छवि का निरीक्षण।

'गहि पानी' और 'पुनि आउब येहि बिरिया काली' में कमाल के अर्थ भरे हैं। 'धीरज धरो' से लेकर 'पाणिग्रहण' के संकेत तक के अर्थ 'गहि पानी' में हैं और प्रत्येक मर्यादा की परिस्थिति के निर्वाह का अर्थ 'पुनि आउब एहि बिरियाँ काली' में है। इधर सीताजी को तो सन्तोष दिलाया ही जा रहा है कि कल फिर इस समय आयेंगे। उधर राम को भी संकेत है कि कल फिर आप इसी समय इधर पधारियेगा जिससे हमारी सखी को प्रसन्नता हो। यों तो संयोगात्मक भाषा की लपेट में स्पष्ट कहा ही जा रहा है कि बस अब लौटना ही चाहिये, आज बड़ी देर हो चुकी अब कल देखा जायगा; परन्तु यदि सीता को यह तरीका भी असह्य हुआ तो प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर काकु से तुरन्त इसका अर्थ बदला जा सकता है 'पुनि आउब येहि बिरियाँ काली ?' अर्थात् क्या यह

सुयोग बेला फिर आ सकती है ? अतः देख लो इसी निर्बाध परिस्थिति में जितना उन्हें देखा चाहो। एक अन्य अर्थ भी होता है। हे काली ! हे गौरी ! ऐसा आशीर्वाद दो कि इन दोनों के पारस्परिक दर्शनों की शुभ बेलाएँ इसी प्रकार बार-बार आवें। इधर सीताजी को संकेत भी है कि ऐसा करो जिससे भद्रकाली ये भद्र बेलाएँ सदैव उपस्थित करती रहें अथवा वह करो जिससे पिता-माता रुष्ट न होने पावें और कल फिर ऐसी ही मिलन बेला प्राप्त हो जाय।'

प्रभु ने जब सुख-स्नेह, शोभा और गुण की खानि जानकी को जाते जाना तब उनको सदैव-सदैव सान्निध्य के लिये अपने पास अङ्कित कर लेना चाहा। वे न हों तो उनका चित्र ही सही। परन्तु चित्र बने कैसे। शोभा के वेरंग कौनसा भौतिक पदार्थ दे सकता था ? फिर शोभा के साथ गुण—बाह्य सौन्दर्य के साथ अन्तः सौन्दर्य की राशियों का अङ्कन कैसे हो ? दोनों सौन्दर्यों के साथ स्नेह की सरस्वती का त्रिवेणी संगम जो वहाँ था वह कैसे चित्रित हो ? फिर इस त्रिवेणी की प्रभावोत्पादकता—सुख की प्रेषणीयता—कैसे दिखाई जाय ? निश्चय ही इस अपूर्व चित्रण के लिये रंग भी अनोखे चाहिये और फलक भी अनोखा चाहिये। गोस्वामीजी कहते हैं कि चारुचित्त से बढ़कर कोई भित्ति या फलक नहीं हो सकता था और परम प्रेम से बढ़कर कोई मृदु मसि—रंग की स्याही न हो सकती थी। दोनों ही अमिट थे और दोनों ही सतत विकासशील। उनके योग से बनाया गया चित्र—और वह भी सामर्थ्यशाली प्रभु रूपी चित्रकार के हाथों से—कितना जीवित जाग्रत और प्रभावशाली होगा, यह सहृदय लोग भलीभाँति समझ सकते हैं। विश्व-साहित्य में शायद ही किसी कवि ने ऐसा चित्र प्रस्तुत किया होगा।

सीताजी फिर से भवानी के मन्दिर गईं। उनकी शीलसम्पन्न विनय और उनका प्रेम देखकर भाव-विभोर भवानी तो स्तब्ध ही रह गईं परन्तु उनकी मूर्ति के गले में पड़ी हुई सुमन-माला से न रहा गया। उनका प्रतिनिधित्व करती हुई वह वरदान रूप में सामने खिसक पड़ी। जड़ीभूत प्रस्तर प्रतिमा भी सुमनमाला की यह चैतन्यता देख मुस्कुरा उठी और प्रसन्नता से आशीर्वादों की बौछारें कर उठी। परन्तु वे बौछारें भी बड़ी ही शिष्ट भाषा में हुईं।

अध्यात्म पक्ष में बाग तड़ाग है भगवद्भक्ति का सरोवर—रामचरितमानस, और बाग है संतसभा जिसमें श्रद्धा वसंत की तरह छाई रहती है। "संतसभा चहुँ दिसि अमराई, श्रद्धा ऋतु बसंत जहँ छाई"। इसी अर्थ-संकेत के लिए गोस्वामी जी ने इस भूप बागवर को "आराम" कहा है जिसका दूसरा अर्थ होता है वह वस्तु जिसमें राम परिपूर्ण रूप से व्याप्त हैं। 'आ समान्तात्

रामः यस्मिन्" । इस बाग में राम तो पहिले ही उपस्थित होकर भक्तों के दिए सुमन स्वीकार कर रहे थे । सीता रूपी जीवात्मा को यहीं पहुँचने पर प्रभु का दर्शन-लाभ होता है । जननी सुनयना है हरि कृपा जो उस बाग में जाने के लिये जीवात्मा को प्रेरित करती है । गिरिजा या भवानी है सात्विक श्रद्धा जिनके वरदान से प्रभु का अखण्ड सान्निध्य मिलता हैं । सुभग सयानी सखियाँ हैं जीव की अपनी हितप्रद भावनाएँ । प्रथम सखी है अपनी ही भाव दृष्टि और द्वितीय सखी है अपनी ही शास्त्र दृष्टि । नारद बचन है प्रारब्ध की प्रेरणा । इन सब के संयोग से जीव की पूर्व स्मृति उदित होती है और प्रभु की ओर अनुराग उमड़ पड़ता है ।

प्रभु भी निराकार रूप में लयशील श्याम और साकार रूप में प्रकाश-शील गौर हैं । दोनों ही बन्धु होकर भी एक हैं । परन्तु उनका वास्तविक रूप है निराकार ही । उसी पूर्णता की ओर जीवात्मा उन्मुख होती है । निराकार प्रभु होकर भी वे अपनी लीला स्मृति के सौंदर्य का स्वतः समर्पण अंगीकार करते रहते और अपनी ही अंशभूता जीवात्मा की ओर अपने कारुण्य के कारण स्वतः आकृष्ट होते रहते हैं । वही है प्रेम का द्वैत । कंकण किंकिणी और नूपुर की ध्वनियाँ ही हैं भजन कीर्तन के गीत वाद्य जो प्रभु का मन जीवात्मा की ओर आकृष्ट करते हैं । और लताभवन अथवा लताओट है शास्त्र वाक्य जो तत्व को अपनी आड़ में छिपाये रहता है । पिता का प्रण हैं सदाचार की अथवा लोक-धर्म की मर्यादा जो कभी-कभी भावभीनी ऐकान्तिक भक्ति के लिए व्यवधान रूप जान. पड़ने लगती है । जीवात्मा को प्रभु दर्शन के बाद भी प्रायः इस मर्यादा के कारण जगद् व्यवहार के क्षेत्र में लौटना पड़ता है । परन्तु लौटते हुए भी वह पृथ्वी, आकाश और अन्तरिक्ष की वस्तुओं के बहाने प्रभु की झाँकी ही देखती लौटती है । इस स्थिति द्वारा उसका जो विरह जगाया जाता है वह उसके प्रेम की परिपुष्टि ही के लिये होता है जिससे भवबन्धन रूपी भवचाप के भग्न होने की स्थिति आ जाती है और जीवात्मा सदैव के लिये परमात्मा की अर्धाङ्गिनी हो जाती हैं उनसे अभिन्न हो जाती है ।

यह है इस वाटिका-प्रसङ्ग का आध्यात्मिक अर्थ । पूरे प्रसङ्ग में यह अर्थ उस प्रकार का प्रसादगुण पूर्ण तो न होगा जैसा कि भौतिक पक्ष का अर्थ है परन्तु गोस्वामीजी की शब्दावली में आदि से अन्त तक इस प्रकार के अर्थ की ध्वनियाँ विद्यमान हैं जो सहज बोधगम्य भी हो सकती हैं । नमूना देखिये—

भूप बाग बर देखेउ जाई । जहँ बसन्त ऋतु रही लोभाई ।।
लागे बिटप मनोहर नाना । बरन बरन बर बेलि बिताना ।।

नव पल्लव फल सुमन सुहाये। निज सम्पति सुर रूख लजाये ॥
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत विहग नटत कल मोरा ॥
मध्यभाग सर सोह सुहावा। मनि सोपान विचित्र बनावा ॥
विमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जल खल कूजत गुंजत भृंगा ॥
बागु तड़ाग विलोकि प्रभु, हरषे बन्धु समेत।
परम रम्य आराम यह जो रामहिं सुख देत ॥

अर्थ होगा "परमात्मा ने आविर्भूत होकर उस श्रेष्ठ सन्त सभा का अवलोकन किया जहाँ श्रद्धा अभिन्न होकर प्रसरी पड़ी थी। उस सन्त सभा के नर और नारी षड्गुण सम्पन्न थे (देखिये दूसरी पंक्ति में 'व' की छः बार आवृत्ति)। वे अपने पल्लवों (अँगुलियों अर्थात् क्रियाओं), फलों (वाणियों) और सु-मनों से अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा, नम्र (नव झुके हुए) थे परन्तु फिर भी ऐसे शोभित हो रहे थे कि अपनी दैवी सम्पत्ति से देवताओं को भी रूखा सिद्ध करके लज्जित कर रहे थे। उस सभा में साधक भक्त भी थे और सिद्ध भक्त भी। कूजन वालों को समझिये साधक क्योंकि अभी उनकी वाणी अपने पराये का द्वैत रख ही रही है। नृत्य रत को समझिये सिद्ध क्योंकि वह बोलचाल की भाषा से परे की मस्ती में है। साधक भी विहंग हैं—ऊर्ध्वगति वाले हैं, परन्तु सिद्ध तो है मोर जिसे परमात्मा ने ही, पक्ष धारण करके, अपना लिया है। 'तुलसी हरि भये पक्षधर ताते कह सब मोर।' मोर के अतिरिक्त जो साधक विहंग हैं वे हैं चार। चातक है अतिभक्त का पक्का प्रतीक, कोकिल है जिज्ञासुभक्त का सच्चा प्रतीक, कीर है हर फल पर चोंच मारने वाला अर्थार्थी और चकोर है आराध्यचन्द्र को ओर टकटकी लगाकर देखते रहने वाला ज्ञानी भक्त का प्रतिरूप। ऐसी ही सन्त सभा के केन्द्र में होगा हरिचरित्र का सुरस सरोवर जिसमें हरिनाम के रत्न जड़े होंगे और जहाँ भक्ति का विमल सलिल—सुस्वादु रस, वैराग्य का निर्लेप कमल, ज्ञान के व्योम बिहारी रससिक्त पक्षी और तन्मयता-पूर्ण योग के भृङ्ग गूँजते होंगे।"

इसी प्रसङ्ग में वर्णित प्रभु के नखशिख को भी देखिये—

सोभा सींव सुभग दोउ वीरा। नीलपीत जलजात सरीरा ॥
मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छे बिच बिच कुसुम कली के ॥
भाल तिलक स्रम बिन्दु सुहाये। स्रवन सुभग भूषन छवि छाये ॥
विकट भृकुटि कच घूँघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे ॥
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास विलास लेत मन मोला ॥

मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं । जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ।।
उर मनि माल कंबु कल ग्रीवा । काम कलभ कर भुजबल सीवा ।।
सुमन समेत काम कर दोना । साँबर कुँवर सखी सुठि लोना ।।
केहरि कटि पट पीत धर, सुखमासील निधान ।
देखि भानुकुल भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान ।।

भौतिक स्तर पर इस नखशिख की जो विशेषता है उसकी हमने अन्यत्र चर्चा की है। आध्यात्मिक स्तर पर निराकार और साकार परमात्मा के कल्याणमय गुण गणों की चर्चा हुई है इस नखशिख में। इष्ट प्रभु में कितनी भावनाएँ झलक रही हैं यह देखिये। नील पीत जलजात शरीर अनासक्ति की भावना का द्योतन कर रहा है, मोरपंख भक्ति की स्वीकृति बता रहा है। कुसुमकली के गुच्छे जगरंजकता तथा परोपकार के प्रतीक हैं। भाल में तिलक रूप श्रमविन्दु कर्मभावना का प्रतीक है। श्रवण इन्द्रिय का सुभग भूषण ज्ञान भावना का प्रतीक है। विकट भृकुटि जगत् शासन की भावना व्यक्त करती है, घूँघरवाले बाल चक्करदार जगद्गति के नियमन की भावना व्यक्त कर रहे हैं, रतनारे सरोज लोचन अनुराग अथवा प्रभु की निर्हेतुक कृपा का द्योतन कर रहे हैं। चारु चिबुक नासिका कपोल का हासविलास भक्त का मन मोल ले लेने वाला उनका दाक्षिण्य भाव-सौन्दर्य है। उनकी ऐसी मुखछवि के आगे भक्त हृदय की सब कामनाएँ—सब वरेच्छाएँ—शिथिल हो जाती हैं, लज्जित हो जाती हैं। इसमें तो शक ही क्या है। उर में मणि की मालाएँ मुक्तात्माओं की भाव-राशियाँ हैं। कंबुकुलग्रीवा उनकी अभयवाणी का निर्घोष कर रही है—शङ्ख-ध्वनि कर रही है। भुजबल सीवाँ काम-कलभ कर जगत् संरक्षण की भावना का सुन्दर प्रतीक है। उनके वामकर सु-मन संग्रह किये हुए हैं। और दक्षिण कर वर देने को तत्पर हैं)। वे दो दीख पड़ते हुए भी दो नहीं हैं परन्तु उनका निराकार अथवा परात्पर रूप विशेष लावण्ययुक्त अतः विशेष आकर्षक है। उनका केहरि कटि वाला रूप असुरघालक रूप है। और पटपीतधर रूप दीन पालक रूप है। ऐसा है भानुकुल-भूषण का वह सुषमाशील निधान रूप जिसे देख कर जीवात्मा की सभी चित्त-वृत्तियों का आत्म-विभोर होजाना स्वाभाविक ही था।

हम पहिले ही कह आये हैं कि आध्यात्मिक अर्थ में सर्वत्र प्रासादिकता नहीं मिलेगी। उसके तो संकेत ही स्थल-स्थल पर प्राप्त होंगे। परन्तु भावुक हृदय के लिए दिव्य रस की उपलब्धि में उतनी व्यञ्जनाएँ भी बहुत हैं।

मानस के उपाख्यान (३)

(मैथिली परिणय)

उपाख्यान तो वस्तुतः वे हैं जो प्रधान आख्यान के साथ केवल प्रासंगिक रूप से सम्बद्ध हों । । हम उन्हें भी उपाख्यान कह सकते हैं जो है तो प्रधान आख्यान के ही अंग परन्तु जिनका यदि उल्लेखमात्र कर दिया जाता और विशद वर्णन न किया जाता तो भी प्रधान आख्यान के वर्णनक्रम की रोचकता में कोई विशेष बाधा न आती । परन्तु जो प्रधान आख्यान का अभिन्न अवयव हो उसे उपाख्यान कैसे कहा जा सकता है । इस दृष्टि से मैथिली परिणय की गणना उपाख्यानों में हो ही नहीं सकती । फिर भी कई लोग रामायण का अर्थ राम+ अयन अर्थात् गमन करके उनके वनबास से लेकर राज्याभिषेक की घटना को ही अथवा यों कहिये कि अयोध्याकाण्ड से लेकर लङ्काकाण्ड तक की कथा को ही, प्रधान आख्यान मानते हैं । उनकी दृष्टि में मैथिली-परिणय उपाख्यान ही हुआ । वह उपाख्यान न भी हो तो भी स्वतन्त्र आख्यान के रूप में वह सुना सुनाया जा ही सकता है । प्रवचनकारों के लिये तो यह प्रकरण रोचकता का आगार है ही और पूर्वकथिक वाटिका प्रसङ्ग इसी का एक अङ्ग है । अतः इसका भी संक्षिप्त दिग्दर्शन अनुपयुक्त न होगा ।

लावण्यधाम जनकपुरी का वर्णन देखिये—

बनइ न बरनत नगर निकाई । जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई ।।

× × ×

होत चकित चित कोट बिलोकी । सकल भुवन सोभा जनु रोकी ।।

× × ×

सूर सचिव सेनप बहुतेरे । नृप गृह सरिस सदन सब केरे ।

वहाँ एक अनूप अमराई देखकर दोनों बन्धुओं तथा मुनिमण्डली सहित विश्वामित्र ऋषीश्वर ने डेरा डाला । जनकजी उनके स्वागत को आये । गोस्वामी जी ने चतुरतापूर्वक उस समय राम की अनुपस्थिति दिखाई है । फुलवारी देखकर राम के आते ही जनक ने उन्हें देखा । विदेहराज जनक और भी विदेही बन गये । ये नारायण हैं कि विष्णु हैं कि परात्पर परब्रह्म ही है जिनकी ओर इतना प्रबल आकर्षण उमड़ा पड़ रहा है । जनक के इस प्रश्न का विश्वामित्रजी

पूरा उत्तर देने न पाये और राम की एक मुस्कुराहट ने उत्तर की सतह को अध्यात्म से अभिभूत भूमिका पर उतार दिया। बड़ा रोचक प्रसङ्ग बन पड़ा है वह।

जनक ने सादर उन्हें उस अमराई से हटाकर नगर में एक सुन्दर निवास स्थान में पधराया—सम्भवतः राजभवन के समीप ही। स्वयंवर के हेतु आगत नरेश तो बाहर की अमराइयों में—सर सरित समीपा—जहाँ तहाँ उतर पड़े थे। नये आवासस्थल पर पहुँचने के बाद राम ने देखा कि दिन अभी भी एक पहर बाकी है अतएव इस बीच नगर-निरीक्षण क्यों न कर लिया जाय। लक्ष्मण का नाम लेकर उन्होंने गुरु से आज्ञा माँगी और नगर-भ्रमण को निकले। निकलते ही मानों वे सबके चिर-परिचित हो गये। परिचित ही नहीं किन्तु घनिष्ठ आत्मीय तुल्य भी। बालक उनके अनुचर हुये, प्रौढ़ पुरवासी उन्हें देखने के लिये दौड़ पड़े और युवतियाँ तो (अर्थात् वे जो शील मर्यादा के कारण दौड़कर उन तक पहुँच नहीं सकती थीं) भवन-झरोखों से उस रूपसुधा का पान करके अपनी ही वाग्धारा में बह चलीं। एक ने उनके सौन्दर्य का बखान किया दूसरी ने शक्ति का और तीसरी ने शील का। चौथी जनक-हठ रूपी व्यवधान पर चिन्ता करने लगी, पाँचवीं विधि की भलाई पर विश्वास रख उस व्यवधान के विषय में आशावादी रुख अपनाने की बात कहने लगी, छठी ने युगल जोड़ी के मिलाप में ही लोक हित देखा, सातवीं ने स्नेहजन्य शङ्का की और आठवीं ने उसका समाधान कर दिया। इन आठों सखियों के शील और समर्पण-भाव ने मानो राम की भावी विजय पर मुहर छाप लगा दी। तभी तो "हिय हरषहिं बरषहिं सुमन, सुमुखि सुलोचनि वृन्द। जाहिं जहाँ जहँ बन्धु दोउ तहँ तहँ परमानन्द।" वे स्वागत सत्कार के फूल बरसा रहीं थीं, या भावी विजय-विषयक संकेत दे रही थीं। वे फूल थे या उन युवतियों के सु-मन थे जो बरसे पड़ रहे थे। वे सुमुखी-प्रसन्नवदना तथा सुलोचनी थीं अतएव स्वभावतः ही 'कमलसितस्रेनी' बरसी पड़ रही थी। हृदय का हर्ष ही तो तरंगायित होकर सुमनों के रूप में बरस रहा था। काम के सुमन-बाण चुभने के बजाय यहाँ बरसे पड़ रहे थे। सखियों में कान्ताभाव नहीं किन्तु वास्तविक सखी भाव का उदय हो रहा था जिसे रसज्ञों ने कान्ताभाव से भी ऊँचा माना है। सीता के आनन्द में उनका आनन्द था। प्रभु का अपनी ह्लादिनी शक्ति के साथ अभिन्न संयोग रहे यही तो निःस्वार्थी भक्तों की एकान्त कामना होनी चाहिये। यह है सुमनवर्षा।

राम ने बालकों के साथ जाकर धनुषयज्ञशाला देखी और इस प्रकार परिस्थिति से पूर्णतः अभिज्ञता प्राप्त करली। दूसरे दिन प्रातःकाल पुष्पवाटिका

में उन्हें सीताजी के भी दर्शन हो गये। तन-गठबन्धन के पहिले मन-गठबन्धन का वहाँ जैसा सुन्दर संयोग विकसित हुआ उसकी चर्चा अन्यत्र हो ही चुकी है। हृदयों के उस मनोहर सौदे के बाद रात कैसे बीती इसकी व्यञ्जना गोस्वामीजी के शब्दों में देखिए। तदनन्तर प्रभात हुआ—लक्ष्मण के शब्दों में, प्रभावशाली प्रभात। स्वयंबर सभा का निमन्त्रण पाकर गुरु के आदेश से राम "देखन चले धनुष मख शाला।" ध्यान दीजिये "देखन चले" पर। इसीलिये तो मुनिके साथ उन्हें सब रंगभूमि दिखाई गई और "सब मंचन ते मंच इक सुन्दर परम विसाल; मुनि समेत दोउ बन्धु तहँ बैठारे महिपाल।". परन्तु उडुगणों में चन्द्रमा के समान प्रकशमान उनका रूप देखकर स्वयंवरार्थी आगत नरेश तो मन ही मन हिम्मत हार बैठे। "राज समाज विराजत रूरे, उडुगन महँ जनु जुग विधु पूरे। प्रभुहिं देखि सब नृप हिय हारे, जनु राकेस उदय भये तारे।" यह नहीं "जिन्ह कै रही भावना जैसी, प्रभुमूरति तिन्ह देखी तैसी।" क्या अपूर्व रूप था वह! "जहँ जहँ जाहिं कुँवर वर दोऊ, तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ"। मानों सब लोगों का बल पराक्रम उन्हीं में खिचा चला आ रहा हो।

अनुपम लावण्यमयी सीता उस स्थल पर लाई गई। उन्होंने एक सरसरी निगाह चारों ओर दौड़ाई और देख लिया कि राम वहाँ हैं कि नहीं और हैं तो वे कहाँ बैठे हैं। लोगों ने निर्निमेष नेत्रों से 'राम रूप' और 'सिया छवि' को देखा। जनक के बन्दीजनों ने भूमिका बाँधी और धनुषयज्ञ का कारण कह सुनाया। अभिमानी भूपों ने बल प्रदर्शन प्रारम्भ किया परन्तु धनुष तो "मनहुँ पाइ भट बाहुबल अधिक-अधिक गरुआइ।" नरेशों का यह निकम्मापन देख जनक को अत्यन्त क्षोभ हुआ और उन्होंने कुछ जली कटी बातें कह डालीं। राजाओं को तो पानी न चढ़ा परन्तु पानीदार लक्ष्मण तिलमिला उठे। "लखन सकोप बचन जब बोले, डगमगानि महि दिग्गज डोले। सकल लोक सब भूप डेराने, सिय हिय हरष जनक सकुचाने। गुरु रघुपति सब मुनिमन माहीं, मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं। सयनहिं रघुपति लखन निवारे, प्रेम समेत निकट बैठारे।" कितना उपयुक्त अवसर था वह जब मुनि ने कहा "उठहु राम भञ्जहु भव चापा, मेटहु तात जनक परितापा।" राम के चलते ही लोगों की भावराशियाँ भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। कहीं अधीरता तो कहीं आतुरता, कहीं उत्सुकता तो कहीं आकांक्षा, कहीं आशा तो कहीं निराशा, कहीं प्रेम कहीं द्वेष, कहीं राग कहीं रोष—सभी अपनी-अपनी परा कोटि तक पहुँचे जा रहे थे। क्या अपूर्व क्षण था वह। धनुष यज्ञ के घटना चक्र को जिस विविधता के साथ त्वरा प्रदान की है गोस्वामीजी ने और उसकी लपेट में आने वाले विविध जन

समूह की भावराशियों का जो उत्थान-पतन और घात-प्रतिघात दिखाते चले हैं गोस्वामीजी, वह विश्व के किस कवि अथवा किस नाटककार ने इतनी सफलता के साथ दिखाया है। सीताजी के मन की स्थिति तो वर्णनातीत सी हो रही थी। 'लव निमेष जुगसय सम जाहीं।' असहज अचंचल शैलमयी के चञ्चल मुखमण्डल की डूबती उतराती आँखों ने भी प्रेमपरण ठान लिया। परन्तु फिर भी 'निमिस बिहात कलप सम तेहीं।' तब फिर विलम्ब का अवसर ही कहाँ था। 'का बरसा जब कृषी सुखाने, समय चुके पुनि का पछिताने।' अतएव राम ने "गुरुहिं प्रणाम मनहिं मन कीन्हा, अति लाघव उठाय धनु लीन्हा।" और धनुष भङ्ग हो गया। किस शील और सङ्कोच के साथ सीताजी आगे बढ़ी हैं और किस प्रेम-परवशता के साथ उन्होंने जयमाला पहिनाई है इसका रस गोस्वामीजी की उस प्रासङ्गिक शब्दावली में ही चखिये। माला तो उन्होंने किसी प्रकार पहिनादी। परन्तु जब "सखी कहिहिं प्रभुपद गहु सीता" तब वे "करत न चरन परस अतिभीता।" क्यों का उत्तर गोस्वामीजी से सुनियेः—"गौतम तिय गति सुरति करि, नहिं परसति पग पानि; मन विहँसे रघुवंसमनि प्रीति अलौकिक जानि।" प्रणम्य को प्रणाम करने में झिझक कैसी, भय कैसा ? सामान्य भीति भी नहीं, अतिभीति ! परन्तु यह तो अलौकिक प्रीति की बात थी अतएव लौकिक प्रीति की व्यवहार-निपुणा साखियाँ इस रहस्य को क्या समझतीं। चरणरज के स्पर्श से गौतम नारी को सद्‌गति प्राप्त हुई थी। राम का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो रहा है इससे बढ़कर और कौन सद्‌गति होगी सीताजी के लिये। बड़ी से बड़ी सद्‌गति मानी जाती है सायुज्य मुक्ति, परन्तु प्रीति के आनन्द के आगे वह भी फीकी है। सत्ता के द्वैत के सहारे ही (अर्थात् दो हृदयों के सहारे ही) प्रेम अथवा भाव का अद्वैत पुष्ट होता है अतएव सीताजी भेदभाव की स्थिति की आकांक्षा कर रही थीं न कि एकदम अभेद की गति की। यह थी उनकी अलौकिक प्रीति।

अब नाटक के नये अंक का क्रम देखिए। राम की विजय पर कुटिल राजाओं का क्षुब्ध होना स्वाभाविक था, अतएव 'कोलाहल' प्रारम्भ हो गया। लक्ष्मण की भौंहें फिर तन गईं। पुनः नारियाँ स्वभावतः ही विकल हो गईं और "सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी।" निश्चित सा था कि यज्ञभूमि समरभूमि बन जाती परन्तु ठीक उसी समय परशुरामजी पहुँच गये और राजाओं के प्रति जगा हुआ लक्ष्मण का क्रोध विनोदपूर्ण व्यङ्ग बन कर परशुरामजी पर बरस पड़ा और ऐसा बरसा कि उसने परशुरामजी के अभिमान की आग को उकसा कर सदा के लिए बुझा दिया। कहना पड़ा परशुराम को "जयति वचन रचना

अति नागर·······छमहु छमामन्दिर दोउ भ्राता ।" समझ लीजिए कि लक्ष्मणजी भी उस समय छमामन्दिर हो रहे थे और वचन रचना में उन्होंने अति नागरता दिखाई थी।

भारत को इक्कीस बार निःक्षत्रिय करने वाले परशुराम सामान्य व्यक्ति न थे। वे भी विष्णु के अवतार ही कहे जाते हैं। उन्हें तो "देखि महीप सकल सकुचाने, बाज झपट जिमि लवा लुकाने।" कहाँ गया वह कोलाहल और वह खरभर। "पितु समेत कहि निज निज नामा, लगे करन सब दण्ड प्रनामा"। परन्तु ऐसे परशुराम भी राम-रूप से आकृष्ट हो कर अपना सब तेज खो बैठे। विष्णु के शासक-अवतार के आगे मानो उन्हीं के सैनिक-अवतार ने आत्म-समर्पण कर दिया। फिर जो वार्तालाप हुआ उसमें राम की सहज नम्रता और लक्ष्मण की वचन चातुरी देखने ही लायक है। स्पष्ट ही है कि निर्भीक लक्ष्मण की वाणी परशुराम का सम्मान बढ़ाने के हेतु नहीं निःसृत हुई थी। उसका उद्देश्य था राम की तुलना में परशुराम की असमर्थता का स्पष्टीकरण करना जिसका परिणाम यह हुआ कि कुटिल नरेश और भी हतप्रभ हो गये। पूरे वार्तालाप में लक्ष्मणजी ने नौ बार व्यङ्ग्यात्मक शाब्दिक प्रत्युत्तर दिये और तीन बार व्यंग्यात्मक भावभंगियों से मौन प्रत्युत्तर दिये हैं। बीच-बीच में राम और विश्वामित्र ने भी वार्तालाप का रस-विवर्धन किया है। लक्ष्मण के वार्तालाप में केवल छठा प्रत्युत्तर ही कुछ अधिक रोषपूर्ण होकर मर्यादा का अतिक्रमण करता सा जान पड़ा है जो व्यक्ति से बढ़कर जाति तक पहुँच गया है—'द्विज देवता घरहिं के बाढ़े' कह उठा है। इसीलिये 'अनुचित कहि सब लोग पुकारे, रघुपति सैनहिं लखन निवारे।' सब लोगों ने और किसी प्रत्युत्तर को अनुचित नहीं कहा। परशुरामजी का आहत अभिमान क्षीण तो होता ही जा रहा था। 'रिस तन जरइ होइ बल हानी।' उन्हें अनुभव करना पड़ा कि—

'बहइ न हाथु दहइ रिस छाती। भा कुठार कुंठित नृप घाती॥
भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदय कृपा कसि काऊ॥

परन्तु फिर भी वे बातों का सिलसिला न छोड़ते थे। 'भृगुपति बकहिं कुठार उठाये, मन मुसुकाहिं राम सिर नाये।' आखिर जब बात बहुत बढ़ चुकी तब राम को 'मृदु गूढ़ बचन' कहने पड़े 'विप्रवंस कै असि प्रभुताई, अभइ होइ जो तुम्हहिं डराई'। मृदु अर्थ में यह वाक्य परशुराम के विप्रत्व की महानता और राम की नम्रता का द्योतन कर रहा था—यह बता रहा था कि ब्राह्मणत्व की मर्यादा से डरकर चलने वाला क्षत्रिय ही अपनी मर्यादा निर्भय होकर निभा सकता है—और गूढ़ अर्थ में यह वाक्य परशुराम को चेतावनी दे रहा था कि

विप्रवंश में जन्म धारण करके वे वर्णमर्यादा के बिपरीत ऐसी प्रभुता क्यों दिखा रहे हैं ? उन्हें तो समझ लेना चाहिये कि जो राम शिष्टतावश उनके सामने डरे हुए का-सा नाट्य कर रहा है वह वास्तव में अभय है। लौकिक और पारलौकिक अथवा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों में यह चेतावनी थी। लक्ष्मण तो प्रारम्भ से ही विप्रत्व की शान्तिप्रियता के साथ क्षत्रियत्व की रोषरुष्टता की असंगति को ही अपने व्यङ्गों का लक्ष्य बनाते हुए कहे जा रहे थे। "ब्राह्मण देवता ! क्रोध शान्त कीजिये। क्रोध आपको शोभा न देगा।" राम के मृदु गूढ़ वचन सुनकर परशुधरमति के पटल खुल गये और उन्होंने वैष्णव शक्ति राम को समर्पित करके तप हेतु वन-प्रस्थान किया। संहार-शक्ति थी हर-धनु जिसके हिमायती थे परशुराम। व्यवस्थापक शक्ति थी रमापतिधनु अथवा वैष्णव धनु जिसकी जिम्मेदारी अब सौंपी गई नव विवाहित राम को—जबकि वे उसके सब प्रकार अधिकारी समझे जा चुके थे।

वातावरण पूर्णतः निष्कण्टक हुआ और मैथिली परिणय का अब अगला अङ्क प्रारम्भ हुआ। विवाह-मण्डप आदि जिस प्रकार सजाया गया था उसमें उदात्त अलङ्कार अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। किस प्रेम के साथ दशरथजी को निमन्त्रण भेजा गया और किस उत्साह के साथ बरात सजधज कर पहुँची है मिथिला में। वहां एक ही विवाह नहीं हुआ, चार-चार विवाह हो गये। आनन्द आप ही आप चौगुना हो उठा। विवाह-विधियों का अत्यन्त सुन्दर और साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है गोस्वामीजी ने। उनकी पैनी दृष्टि वस्तुओं अथवा क्रियाओं तक ही सीमित नहीं रही किन्तु सम्बन्धित मानवों के विविध मनोभावों की तह तक भी पहुँच कर उनका सुन्दर उद्घाटन बड़ी क्षमता के साथ कर सकी है।

कैसा आकर्षक घोड़ा था वह जिस पर दूलह राम बैठे थे। देवताओं के नेत्र वही रूप देख कर सफल हुये थे। कैसी शानदार परिछन हुई थी उनकी। सम समधियों का कितना सुखद सम्मिलन हुआ था उस समय। विवाह मण्डप में सीताजी लाई गईं और देवताओं ने प्रत्यक्ष हो कर पूजा द्रव्य स्वीकारे। पद-प्रक्षालन के समय जनक ने अपने को कितना सौभाग्यशाली माना। सब ओर से जय जयकार होने लगी। फिर कन्यादान हुआ, होम हुआ, भाँवरें पड़ीं। क्या शोभा थी उस भाँवरी के समय "राम सीय सुन्दर परिछाहीं" की। फिर सिन्दूरदान की क्रिया अपना निराला सौन्दर्य बिखेरती रही। फिर वर वधू एक आसन पर आसीन हुए और दहेज के अनन्तर दोनों ही "कोहबर" की ओर लाये गये। वहाँ "लहकौरि" की प्रथा का पालन हुआ। कलेवा और प्रेम की

गालियाँ खाकर वर तथा बराती जनवासे आये। बिदाइयों की बातें चलने लगीं परन्तु विदा कौन कर सकता था। आखिर वह करुण प्रसङ्ग भी आ ही गया और जनकपुरी का कारुण्य अयोध्या के उल्लास में परिणत होगया।

यह है मैथिली परिणय का चतुरङ्गी महानाटक जिसका प्रथम अङ्क है नगर-दर्शन, द्वितीय अङ्क है वाटिका प्रसङ्ग, तृतीय अंक है धनुष-यज्ञ जिसमें परशुराम-संवाद सम्मिलित है और चतुर्थ अंक है विवाह-मण्डप तथा परिणय-योजना जिसके पूर्व विष्कंभक रूप से बरात-आगमन के उल्लास की थोड़ी झाँकी दिखादी गई है।

(१) विवाह-मण्डप—

विधिहिं बन्दि तिन्ह कीन्ह अरम्भा, बिरचे कनक कदलि के खम्भा।
हरित मनिन्ह के पत्र फल, पद्मराग के फूल।
रचना देखि विचित्र अति, मन बिरंचि कर भूल॥
बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे, सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे।
कनक कलित अहि बेलि बनाई, लखि नहिं परहिं सपरन सुहाई।
तेहि के रचि पचि बंध बनाये, बिच बिच मुकता दाम सुहाये।
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा, चीरि कोरि पचि रचे सरोजा।
किये भृंग बहुरंग विहंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन प्रसङ्गा॥
सुर प्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ी। मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ी॥
चौके भाँति अनेक पुराई। सिंधुरमनिमय सहज सुहाई॥
सौरभ पल्लव सुभग सुठि, किये नीलमनि कोरि।
हेम बौर मरकत घवरि, लसत पाटमय डोरि॥
रचे रुचिर बहु बन्दनवारे। मनहुँ मनोभव फन्द सँवारे॥
मंगल कलस अनेक बनाये। ध्वज पताक पट चँवर सुहाये॥
दीप मनोहर मनिमय नाना। जाइ न बरनि विचित्र बिताना॥
जेहि मण्डप दुलहिन बैदेही। सो बरनइ असि मति कवि केही॥
जो सम्पदा नीच गृह सोहा। सो विलोकि सुरनायकु मोहा॥

(२) अश्वारूढ़ राम—

जेहि तुरंग पर रामु विराजे। गति विलोकि खगनायकु लाजे॥
कहि न जाय सब भाँति सुहावा। बाजि बेसु जनु काम बनावा॥
जनु बाजि वेष बनाइ मनसिजु राम हित अति सोहई।
आपने बल रूप गुन गनि सकल भुवन विमोहई॥

जगमगत जीन जराव जोति सुमोति मनि मानिक लगे।
किंकिनि ललाम लगाम ललित बिलोकि सुर नर मुनि ठगे।।
प्रभु मनसहिं लयलीन मनु, चलत बाजि छवि पाव।
भूषित उडुगन तड़ित घन, जनु बर बरहि नचाव।।
जेहि बर बाजि राम असवारा। तेहि सारदहु न बरनइ पारा।।
संकर राम रूप अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे।।
हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।।
निरखि राम छवि विधि हरषाने। आठहिं नयन जानि पछिताने।।
सुर सेनप उर बहुत उछाहू। विधि तें डेवढ़ सुलोचन लाहू।।
रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतम साप परम हित माना।।
देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरन्दर सम कोउ नाहीं।।

उनकी परिघन में महादेवियाँ भी यदि कपट नारिवेश बनाकर पुर-नारियों के साथ मिल जायँ तो क्या आश्चर्य। उस समय तो "को जान केहि, आनन्द बस सब ब्रह्म वर परिचन चलीं।" इसी प्रकार यदि देवता लोग ब्राह्मणों में सम्मिलित होकर अपने को पुजालें तो क्या आश्चर्य! "पहिचान को केहि जान सबहिं अपान सुधि भोरी भई।"

(३) पद प्रक्षालन—जनक द्वारा राम के पद प्रक्षालन के समय कवि का भक्त हृदय बरबस कह उठा है—

जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव विराजहीं।
जे सुकृत सुगिरत विमलता मन सकल कलिमल भाजहीं।।
जे परसि मुनि वनिता लही गति रही जो पातकमई।
मकरन्द जिन्ह को संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई।।
करि मधुप मुनिमन जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहइँ।
ते पद पखारत भाग्यभाजन जनक जयजय सब कहहिं।।

(४) भाँवर और सिन्दूर दान—दोनों अवसरों की उपमाएँ कमाल की हैं। जितना सोचिये उतने ही भाव खिलते जाते हैं। पंक्तियाँ हैं—

राम सीय सुन्दर परिछाहीं। जगमगाति मनि खंभन्हि माहीं।।
मनहुँ मदन रति धरि बहुरूपा। देखत राम विवाहु अनूपा।।
दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी।।

× × × ×

राम सीय सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जात विधि केहीं।।
अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहिं भूष अहि लोभ अमी के।।

(५) लहकौरि—

को बरहिं आने कुँअर कुँअरि सुवासिनिन्ह सुख पाइकै ।
अति प्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइकै ॥
लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहहिं ।
रनिवासु हास विलास रस बस जनम को फल सब लहहिं ॥
निज पानि मनिमहँ देखि प्रतिमूरति सुरूप निधान की ।
चालति न भुज बल्ली विलोकनि विरह-भय-बस जानकी ॥
कौतुक विनोद प्रमोद प्रेम न जाइ कहि जानहिं अली ।
बर कुँअरि सुन्दर सकल सखी लिवाइ जनवासहिं चली ॥

जिस अलौकिक रस के लिये उमा और गिरा ने कपट नारी का वेष बनाया था उससे भी बढ़कर अलौकिक रस तो सीताजी अपने हाथ को निश्चेष्ट बनाकर पा रही थीं। धन्य था वह प्रसङ्ग !!

(६) माता का हृदय—विदा के समय सुनयना का वर्णन है—

करि विनय सिय रामहिं समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहइ ।
बलि जाउँ तात सुजान तुम कहुँ विदित गति सब की अहइ ॥
परिवारु पुरजन मोहिं राजहिं प्रानप्रिय सिय जानिबी ।
तुलसी सुसील सनेहु लखि निज किंकरी करि मानिबी ॥
तुम्ह परिपूरन काम, जान सिरोमनि भावप्रिय ।
जन गुनगाहक राम, दोष दलन करुनायतन ॥
अस कहि रही चरन गहि रानी । प्रेम पंक जनु गिरा समानी ॥

उपर्युक्त दोहे में प्रेम और कर्तव्य के संघर्ष से भरा वात्सल्य इस खूबी से समाहित किया गया है कि कुछ कहते नहीं बनता। एक भाव यह है कि "हे राम ! तुम आप्तकाम हो अतएव यदि सीता से कोई सेवा बन न पड़े तो तुम्हें उस सेवा की आवश्यकता भी न होगी।" यह हुआ सीता विषयक प्रेम। कर्तव्य भावना ने जोर मारा तब सुनयना कह उठती हैं "हे राम ! तुम जन शिरोमणि भी तो हो अतएव अपनी आप्त कामना के कारण तुम सीताजी के सेवापूर्ण कृत्यों के प्रति उदासीन न रहना। वे आर्यकन्या हैं। सुकुमारी होते हुए भी सेवारत अवश्य रहेंगी। फिर प्रेम भावना जोर करती है अतएव वे कह उठती हैं "हे राम ! संभव है अनभिज्ञता के कारण बालिका सीताजी का कोई सेवा-कार्य ठीक-ठीक न बन पड़े परन्तु तुम तो भाव-प्रिय हो अतएव उस क्रिया के प्रेरक भाव को ही ग्रहण करना नकि उसके बहिरंग को।" सीता विषयक प्रेम-भावना के वश होकर वे कह उठती हैं "हे राम ! तुम जनगुणग्राहक हो" फिर

कर्तव्य-भावना के वश होकर कह देती हैं "हे राम ! तुम दोष-दलन हो अतएव समय समय पर इस अबोध बालिका को शिक्षा भी देते जाना" परन्तु फिर प्रेम विजयी हो उठता है और वे इतना कह कर पैरोंपर गिर पड़ती हैं कि "हे राम तुम करुणायतन हो। शिक्षा दी भी जाय तो अत्यन्त मीठे कारुण्यपूर्ण ढङ्ग पर। उसे सदैव करुणा की पात्री ही समझना।" और भी अनेक भाव इस दोहे के शब्दों से ध्वनित हो सकते हैं। यह है गोस्वामीजी का रचना-कौशल !

प्रेम और ऐश्वर्य के रससिक्त आख्यान केवल वर्ण्य पात्रों तक ही सीमित नहीं रहा करते। अपनी प्रेषणीयता और साधारणीकरण की प्रक्रिया के कारण उनके मंगलकार्य श्रोताओं और पाठकों के हृदयों को भी मंगलमय बना देते हैं। मैथिली का मङ्गलकार्य मैथिली और राम तक ही सीमित नहीं रहा। उसने सभी ओर आनन्द की वर्षा करदी और उसके रससिक्त वर्णन के विषय में तो गोस्वामीजी को भी कहना पड़ा—

सिय रघुवीर विवाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन कहुँ सदा उछाहु, मंगलायतन राम जस ॥

मानस के उपाख्यान (४)

(१) केवट-प्रसंग

मानस की उपकथाओं में केवट-प्रसङ्ग की अपनी अलग विशिष्टता है। करुण रस के अनवरत प्रवाह में हास्यरस का यह पुट बड़े सुन्दर विपर्यय का काम कर रहा है।

यों तो राम के अतिरिक्त मानस के सभी पात्र उनके किसी न किसी प्रकार के भक्त बताये गये हैं, परन्तु केवट को हम चतुर भक्त की कोटि में नहीं रखते क्योंकि कवितावली में गोस्वामीजी ने स्वतः ही उसे "अ-सयानी बानी" बोलने वाला कहा है। वह शेखचिल्ली की तरह ऐसा व्यक्ति था जो मूर्ख होते हुए भी अपने को बड़ा समझदार मान बैठे। जब कभी ऐसे मनुष्य से पाला पड़ जाता है तो समझदारों की समझदारी भी काम नहीं आती और चुपचाप उसकी हाँ में हाँ मिला देना ही अभीष्ट जान पड़ता है। कौन ऐसे गँवार के मुँह लगे। इस प्रकार उसका भोलापन कभी-कभी अनायास ही बड़े सुन्दर परिणाम दे देता है। यही हुआ है इस प्रसङ्ग में। यह केवट निषादराज गुह से भिन्न एक अत्यन्त साधारण नाव खेने वाला दीन हीन गँवार था। परन्तु उसकी नाव पर बैठ कर पार होने वाले व्यक्तियों के मुँह से वह सुन चुका था कि शृङ्गवेरपुर में जो परम पाहुने आये हैं उन राम की चरण धूल से पत्थर की शिला भी सुन्दर मुनि-पत्नी बन कर उड़ गई है। बस, उसने निश्चय कर लिया कि वह कम से कम अपनी नाव पर तो उनकी चरण-धूल पड़ने ही न देगा। क्योंकि नाव ठहरी लकड़ी की जो कि पत्थर से तो नरम है ही। सो जब पत्थर नारी बन कर उड़ गया तो नाव तो निश्चय ही उड़ जायगी। और उसके उड़ते ही फिर वह कमाये खायेगा किसके सहारे।

दैव संयोग कि राम उसी केवट की नाव के सामने आ पहुँचे। रात बीती थी शृङ्गवेरपुर में और प्रात में सुमन्त्र को विदा करते स्वभावतः कुछ देर होगई होगी। केवट ने झट अपनी नाव दूर हटाली। राम को नाव माँगनी पड़ी। परन्तु केवट उसे मँझधार से इस पार कब लाने चला था। वहीं से बोल उठा "मैं तुम्हारा मर्म समझता हूँ महाराज! तुम्हारी यह चरण धूल जिसे लोग मानुष करणी जड़ी कहते हैं, जब तक धो धाकर दूर न बहा दी जायगी तब तक मैं आपको नाव पर न चढ़ाऊँगा।" मजा देखिये कि जिनका मर्म बड़े-

बड़े सुर, नर, मुनि तक न जान सके 'तेहु न जानहिं मरम तुम्हारा' उनका मर्म जान लेने का दावा कर रहा है यह केवट, और जिस चरणधूल को पाने के लिए विधि हरि हर तक लालायित रहते हैं उसको एक सड़ी सी नाव बचाये रखने की इच्छा से एकदम दूर किया चाहता है यह।

अड़ गया केवट अपने निर्णय पर। अब इस पण्डितम्मन्य मूर्ख को कौन समझावे। "ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति।" कहावत है कि "भैंस के आगे बीन बाजै भैंस खड़ी पगुराय।" परन्तु अलौकिक रूप का प्रभाव बोदे की सी बुद्धि वाले पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता था। केवट ने इसीलिए निश्चय तो कर लिया कि ये यदि पार होना चाहें तो इनसे किसी प्रकार की उतराई न ली जायगी परन्तु अपने निश्चयों को वह कसमें खा-खाकर सुनाने लगा। "आपकी कसम आपके बाप की कसम।' इस असभ्य बोली से लक्ष्मण तमक उठे परन्तु केवट ठहरा एक ही जिद्दी। कह ही तो उठा "बरु तीर मारहु लखन पै जब लगि न पाँव पखारिहउँ, तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहउँ।" राम उसके उजड्ड शब्दों पर नहीं किन्तु उसकी भोली मूर्खता के निश्छल भावों पर ध्यान दे रहे थे इसलिए उन्हें तमतमाहट के बदले हँसी आ रही थी। इसलिए उन्हें वह 'कृपालु' कह रहा है।

गोस्वामीजी कहते हैं "सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे; विहँसे करुना ऐन, चितै जानकी लखन तन।" देशकाल पात्र का अटपटापन ही हास्यरस का उद्रेक कराता है। वह राग की कोटि का भाव है न कि द्वेष की कोटि का। इसलिये हास्यास्पद व्यक्ति भी प्रेमपात्र ही बना रहता है। प्रभु भी केवट के अटपटे वचनों के भीतर बिद्यमान प्रेम की लपेट का अनुभव कर रहे हैं। परन्तु हँस रहे हैं परिस्थिति के व्यङ्ग पर कि जिन रज कणों का महत्व लक्ष्मण और सीता—शेष और श्री—भी अद्वितीय मानते हैं उन्हें अब दूर किये बिना गति नहीं। समझा लें लक्ष्मण। समझा लें सीता। देखें इस विचित्र बाल हठ से कोई कैसे पार पा सकता है।

राम को झुकना पड़ा। वे बोले—"अच्छा भाई, वही करो जिससे तुम्हारी नाव बच जाय।" अजीब था वह नर-चरित्र। त्रिभुवन-तारक एक क्षुद्र नाविक के सामने झुक पड़ा। प्रभु को पार होने की इतनी हड़बड़ी थी कि केवट के आने की भी प्रतीक्षा न की और स्वतः गङ्गा-तट पर आगये। गङ्गा से न रहा गया। उमङ्ग में आकर स्वयं ही पद-प्रक्षालन करने बढ़ चलीं परन्तु प्रभु के वचन "बेगि आनु जलु पाय पखारू" फिर गूँज उठे और जानकी ने केवट के अधिकार को छीनना छोड़ प्रकृतिस्थ हो जाना ही उचित समझा।

केवट ने आदेश तो पा लिया परन्तु फिर भी जानते या अनजानते एक चण्टवाजी कर ही दी। जल में उतार कर पैर धुलाये जायँ तो शायद बालू का कोई कण नाव में चढ़ते-चढ़ते भी पैरों में बाकी रह जाय। इसलिये लकड़ी का ही एक छोटा पात्र छुलाकर क्यों न देख लिया जाय। बस, नाव का भीतरी पानी ऊंकने का जो काठ का कठौता होता है उसी में जल भर कर वह पद-प्रक्षालनार्थ उपस्थित हो गया। उड़े तो कठौता पहिले उड़े; नाव क्यों उड़े।

परन्तु जैसे ही उसने पैरों का स्पर्श किया कि उसकी तो दशा ही बदल गई। प्रभु का स्पर्श ! क्या कोई वह सामान्य बात थी ! मनुष्य की मानस-विद्युत् चरणों से पृथ्वी की ओर बहती रहती है। साधु सज्जनों और वयोवृद्धों के चरण-स्पर्श का इसीलिये इतना महत्व है। फिर प्रभु का चरण-स्पर्श ! यदि इस स्पर्श के प्रभाव से केवट भी कुछ का कुछ हो गया तो क्या आश्चर्य ! उसने तो फिर बड़े आनन्द और अनुराग से पद-प्रक्षालन प्रारम्भ किया और चरणों की धूल हटाना तो दूर रहा उसे पीना प्रारम्भ कर दिया। प्रभु तो पीछे पार होंगे परन्तु उसके पितर अनायास ही पहले पार हो गये। सुरगण उसकी उस पुण्यकृति पर सुमन बरसाने लगे तो वह उचित ही था।

गङ्गा पार करके प्रभु ने इसे कुछ उतराई देनी चाही। भावज्ञा सीता ने झट अपनी मणि मुद्रिका आगे करदी। (शायद यही मुद्रिका वल्कलधारी राम के हाथ पड़ी रही और आगे चलकर हनुमान द्वारा सीताजी के पास भेजी गई हो)। परन्तु केवट तो अब एकदम दूसरा ही व्यक्ति हो गया था। वह सोने और हीरे के मोह में क्यों कर पड़ता। बड़ी चतुरता के उत्तर दिये हैं उसने वहुत जन्मों तक तो वह मजदूरी ही करता रहा था परन्तु आज उसे क्या-क्या नहीं मिला। भली और भूरि-भूरि 'बनी' (मजदूरी) उसके लिए सब तरह बन आई थी। दोषों और दुखों का दारिद्रय ही मिट चुका तो फिर और चाहिए ही क्या। ये थे आप्तकाम आत्माराम के वाक्य। फिर भी चतुरता देखिये। कहता है "इसे धरोहर रखिये प्रभु; लौटतीबार जो दीजियेगा वह प्रसाद रूप से शिरसा स्वीकार होगा।" आप इसी मार्ग से लौट कर आइयेगा और फिर से दर्शन दीजिये, इसकी मानों प्रतिज्ञा कराये ले रहा है।

केवट की जिद के आगे किसी की कुछ न चली। अन्त में प्रभु को कुछ देना ही पड़ा। उन्होंने वही दिया जिसकी आकांक्षा आत्माराम आप्तकाम जन भी किया करते हैं। वह थी उनकी विमल भक्ति।

आत्मारामहि मुनयः निर्ग्रन्था अायुरुक्रमे।
कुर्वन्त्य हैतुकीं भक्ति इत्थंभूतगुणो हरिः।

हृदय की निश्छलता सबसे बड़ी वस्तु है। यदि यह गँवार के पास है तो वह भी सौ-सौ चतुर सयानों से अधिक धनी है। ईश्वर की कृपापात्रता के लिए चतुरता या विद्या बुद्धि, वैभव या धर्मकर्म की महत्ता नहीं किन्तु "सरल सुभाव न मन कुटिलाई, जथा लाभ सन्तोष सदाई" की वृत्ति चाहिए। 'रीझत राम सनेह निसोतें'।

(२) शबरी प्रसङ्ग

अपने ढङ्ग का यह भी एक निराला प्रसङ्ग है। इस प्रसङ्ग के पूर्व ही कबन्ध की चर्चा है जिसने ब्राह्मण का अपमान किया था। प्रभु उससे कहते हैं 'पूजिय विप्र सीलगुन हीना, सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना।' शबरी तो निरे शूद्र कुल की थी इसलिए स्वभावतः ही बोल उठी "अधम जाति मैं जड़मति भारी; अधम तें अधम, अधम अति नारी, तिन्ह महँ मैं मतिमन्द अघारी"। परन्तु प्रभु इस बुढ़िया को अपनी भामिनी कह कर सम्बोधित करते हुए कहते हैं "मानहुँ एक भगतिकर नाता, जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई धन बलु परिजन गुन चतुराई, भगति हीन नर सोहइ कैसा, बिनु जलु बारिद देखिय जैसा।" दोनों प्रकार की उक्तियों के मर्म का मिलान करें तो विदित होगा कि, वे अपने ईश्वर का नाता उन्हीं से जोड़ते हैं जिनमें भक्तिभाव विद्यमान है। जति पांति उस नाते के लिए निरर्थक है। शबरी इसीलिए राम की भामिनी कहलाई। जो प्रभु का भक्त है उसे विप्रों से क्या किसी भी व्यक्ति से कई द्वेष न होगा। वह तो 'सियाराम मय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी" की भावना वाला होगा। परम्परागत संस्कृति के संरक्षक के नाते विप्र तो उसके विशेष पूज्य ही होंगे, भले ही वे शीलगुण हीन हों। और शूद्र गुणगण ज्ञान प्रवीणता के कारण नहीं किन्तु भक्ति के कारण ही पूज्य हो सकता है।

उस आदिम जातीय बुढ़िया का सबसे बड़ा गुण था अतिथि सेवा। जंगल में भूले भटकों को राह दिखाना, उनके लिये जल, फल का प्रबन्ध कर देना, यदि वे तपस्या के लिये रहना बसना चाहें तो उनकी वैसी व्यवस्था कर देना, यही तो उस वन्या की अतिथि सेवा हो सकती थी। आज दिन भी आदिम जातियों की अतिथि सेवा प्रख्यात है। शबरी की अतिथि सेवा ने तपोधन मतंग ऋषि का ध्यान आकृष्ट किया। उनकी कृपा उस पर हुई। उनके प्रसाद से संभवतः उसे अदृष्ट-ज्ञान तथा योगाग्नि उत्थित करके तनुदहन विधान तक की क्रियायें विदित हो गईं। परन्तु असली बात तो थी उसकी वही अतिथि सेवा जिसके कारण एक दिन प्रभु भी उसे अतिथि रूप में मिल गये। तीन बार उन्होंने उसे भामिनी कहा। भामिनी ही नहीं, करिवरगामिनी भी कहा। वह

उसका अन्तः सौन्दर्य था जिसकी ओर राम की दृष्टि थी। उन्होंने कहा भी तो कि नवधा भक्ति में से जिसके पास एक भी हो तो "सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे" परन्तु शबरी को तो 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे" थी। उसकी यह दृढ़ भक्ति ही उसका वह अन्त:सौन्दर्य था जिसके कारण प्रभु को संभवतः उसके झूठे बेर भी प्रेम सहित बारम्बार बखान कर खाने पड़े।

कवियों ने बेर-बेर-बेर खाने पर बड़ी-बड़ी बन्दिशें बाँधी हैं। गोस्वामीजी ने बेरों का नाम न लेकर कन्द मूल फल कहा है। जूठे फलों की चर्चा न करके अति सुरस फलों की बात कही है। प्रभु तो वस्तुग्राही नहीं किन्तु भावग्राही हैं। जहाँ केवल भाव की भूख है वहाँ आप जूठा अजूठा गीला सूखा जो खिला दीजिये सभी अमृतोपम जान पड़ेगा। कहाँ रहा जात-पाँत का पचड़ा खाने-पीने के मामले में रामचन्द्र के सामने। परन्तु प्रभु में केवल फल ग्रहण कराकर गोस्वामी जी ने अपने समय के शिष्टाचार की मर्यादा भी खूबी से निभादी है। फिर भी बता दिया कि मुख्य नाता भक्ति का ही होता है यह न भूलना चाहिये। भाषा ऐसी सजा दी कि आप चाहें तो जूठे बेर भी वहाँ समझ लें। बेर आखिर फल हैं ही और वे सुरस हैं कि कुरस, यह तो चख कर ही अच्छी तरह पहिचाना जा सकता है। प्रभु को मीठे ही मीठे बेर खिलाये गये। इसकी परख के लिये यदि शबरी ने प्रेमातिरेक में उन्हें चख भी लिया हो तो क्या आश्चर्य।

नवधा भक्ति जो प्रभु ने शबरी को समझाई उसकी विशेषता यह है कि उसमें जन सेवा और जनार्दन सेवा का दर्जा बराबर-बराबर चलता है। पहिली तीसरी छठी और आठवीं भक्ति में ऐसे सज्जन धर्म बताये गये हैं जिनका विशेष सम्बन्ध जनसेवा से है। इनमें प्रभु का नाम तक नहीं है। नवम भक्ति का पूर्वार्ध जन-सेवा से सम्बन्धित है और उत्तरार्ध जनार्दन सेवा से। दूसरी, चौथी पाँचवीं और सातवीं स्पष्ट प्रभु के नाम रूप गुण का श्रवण हो, कीर्तन हो, स्मरण हो। उनकी सर्वरूपता का ध्यान रहे और उन पर पूरा भरोसा रहे। यह है जनार्दन सेवा का अङ्ग। सन्तों (सज्जनों) का सङ्ग किया जाय, गुरु (पथ प्रदर्शक) की विशेष सेवा की जाय, सज्जनों का धर्म पाला जाय, सन्तोष वृत्ति से रहा जाय, और सब से निश्चित व्यवहार किया जाय, यह है जन सेवा का अङ्ग। शबरी की अतिथि सेवा विकसित हो कर इन सब अङ्गों का रूप ले चुकी थी। इसीलिए वह प्रभु को इतनी प्रिय हुई। एक अङ्ग भी प्रभु का कृपा पात्र बना देता है फिर नवों अङ्ग विकसित हो गये हों तब तो कहना ही क्या है। ये नवों अङ्ग ऐसी भक्ति के हैं जिनमें न तो साम्प्रदायिकता की गन्ध है न बाह्य साधनों का

बखेड़ा है न जाति-पाँति, विद्या-बुद्धि, धन-ऐश्वर्य आदि की किसी प्रकार अपेक्षा है। ये साधन सबके लिए सब कहीं सब समय सुलभ हो सकते हैं।

शबरी ने जान बूझकर इस नवधा भक्ति को अपनाया था यह बात न थी। इसीलिये तो राम ने कहा 'सावधान सुनु धरु मन माहीं'। यह तो उसमें आप ही आप सच्ची अतिथि सेवा के फलस्वरूप विकसित हो गई थी। इसीलिये राम ने उस ओर उसका लक्ष्य कराते हुए कहा "सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे"। वह अतिथियों के भगवान का रूप मान कर उनकी निष्काम सेवा करती रही इसलिये आज भगवान सचमुच ही अतिथि बन कर उसके द्वार पर आ गये थे। परमात्मदर्शन—अतिथि-अतिथि में भगवान की भावना रखना ही सच्चा आत्म-दर्शन है। 'मम दरसन फल परम अनूपा, जीव पाव निज सहज सरूपा'। जिसने इस प्रकार आत्मदर्शन कर लिया वह योगीवृन्द दुर्लभ गति का सहज अधिकारी हो ही जाता है। "जोगि वृन्द दुरलभ गति जोई, तो कहुँ आज सुलभ भइ सोई।"

गोस्वामीजी के राम में नर चरित्र भी था और प्रभु चरित्र भी। नर चरित्र के पक्ष से देखिए तो कथा यों आती है कि विरही राम सीतान्वेषण में दक्षिण की ओर बढ़े क्योंकि जटायु से विदित ही हो चुका था कि रावण ने वैदेही का हरण किया और दक्षिण दिशा की ओर गमन किया है।

दक्षिण के घने अरण्य में उन्होंने एकाकी कुटिया देखी। वह कुटिया क्या थी एक आश्रम ही सा था। उन्होंने समझा सम्भव है रावण इधर ठहरा हो या इधर से गया हो। सम्भव है यहाँ उसका कुछ और पता लग जाय। अतएव वे वहाँ गये। वृद्धा शबरी ने उन्हें देखा और उनके असाधारण रूप से अत्यन्त प्रभावित हुई। अतिथि सेवा तो उसका धर्म ही हो चुका था। उसने उनका छक कर आतिथ्य किया। उन्होंने भी शबरी के निश्छल स्नेह की इज्जत की। परिणाम यह हुआ कि उसने वानर-गोत्री उन वन्यों का पता दिया जो नारी-अपहरण की ऐसी ही यातना भोगते हुए पंपासर के किनारे ऋष्यमूक पर्वत पर अपने सहायतार्थ राम ही के समान किसी आर्य-वीर की प्रतीक्षा कर रहे थे। वनप्रान्त तो वन्य लोगों को इञ्च-इञ्च मालूम रहता है अतएव वे सीता की खोज सरलतापूर्वक कर सकेंगे। रावण की सन्धि भी किष्किन्धा राज्य से हो रही है अतएव किष्किन्धा के उन वानर-गोत्रियों को लङ्का-प्रवेश में भी कोई खास अड़चन न होगी। इधर धनुर्धर राम का तेजस्वी मुखमण्डल उनकी असाधारण वीरता की सूचना दे ही रहा था। अतएव सम्भव था कि ये बालि को पछाड़ कर सुग्रीव की सहायता कर सकें। दोनों ही नारी-वियोग में दुखित हैं। दोनों की मैत्री सम्भव है एक दूसरे की सहायक हो जाय। कुछ ऐसा ही सोचा

होगा शबरी ने। परन्तु उसने जो सूचना दी वह सचमुच ही राम के लिऐ बहुत उपयोगी हुई। क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति भी उपेक्षणीय नहीं रहता। न जाने किस समय किस तरह वह अपने लिए उपयोगी सिद्ध हो जाय। इसलिए हरएक के स्नेह का आतिथ्य प्रेमपूर्वक स्वीकार करते चलना ऊँचे से ऊँचे मनुष्य के लिए भी उचित है।

प्रभु चरित्र के पक्ष में देखिये तो कथा यों आयेगी कि अधमाधम दीन-हीन व्यक्ति भी प्रभु के अनुग्रह का अधिकारी हो सकता है यदि वह नर-सेवा अथवा नारायण सेवा का कोई अङ्ग निश्छलता पूर्वक अपनाये हुए है। नर सेवा करते-करते किसी दिन अनायास ही नारायण सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है और फिर तो प्रभु के दर्शन से जीव को अपने सहज स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है और वह भक्ति योग के पावक में पवित्र बनकर सायुज्य मुक्ति भी पा सकता है।

ब्राह्मण के लिए राम के मन में सम्मान था यह जटायु के बाद ही की कबन्ध की उपकथा से प्रकट होता है परन्तु रावण ब्राह्मण होते हुए अबध्य नहीं कहा जा सकता था क्योंकि उसमें जन-सेवा अथवा जनार्दन सेवा के सच्चे लक्षण नहीं थे, यह कबन्ध के बाद ही की शबरी की उपकथा से विदित होता है।

(३) सुवेल शैल प्रसंग

नेतृत्वगुण के संकेत के लिये मानस का सुवेल शैल प्रसङ्ग भी अपना अलग महत्त्व रखता है। उसमें दो चित्र बड़े स्पष्ट हैं। एक पर्वत कूट पर राम अपनी सेना सहित आ विराजे थे। वह था सुवेल शैल। दूसरे पर्वत कूट पर रावण अपनी सङ्गीत सभा के महोत्सवों का मजा ले रहा था। दोनों कूट आमने सामने थे परन्तु दोनों के दो अपने-अपने अलग-अलग चित्र हैं। एक कूट पर न सुवेला का विचार है न कुवेला का; बस केवल राग-रङ्ग की ही मस्ती है। परम प्रबल शत्रु सिर पर है फिर भी नाच-गाना हो रहा है। यह है प्रभुता का चित्र। दूसरे कूट का नाम ही है सुवेल। कार्य सिद्धि सदैव सुवेला से सम्बन्धित रहती है। साधनों अथवा उपकरणों की चिन्ता ही क्या, विचारों और भावों की तो पूर्ण जागरूकता है। यह है प्रभु का चित्र, नेतृत्व का चित्र, कार्य सिद्धि का चित्र। प्रभु का सहज ही छोड़ा हुआ एक बाण प्रभुता के छत्र मुकुट ताटंक सब ध्वस्त कर देता है। कितनी कमजोर है प्रभुता की बुनियाद। वह बाण क्या था, प्रभु की चेतावनी थी। परन्तु प्रभुता के मद में मस्त मनुष्य ऐसी चेतावनियों की कब परवाह करता है। इसीलिये फिर वह दुष्परिणाम भी भोगता है।

नेतृत्वगुण विशिष्ट सुवेल शैल का चित्र देखिये। नेता को रघुवीर—प्रगतिशीलों में बहादुर और हिम्मती—तो होना ही चाहिये। उसकी व्यक्तिगत साज सँभाल ऐसे विशिष्ट सज्जन के जिम्मे हो जो हर तरह उसका ही अभिन्न हो। यह कार्य लक्ष्मण ने खास अपने जिम्मे रखा था। जो परिचर्यात्मक छोटे से छोटा काम भी करने में—आसन बिछाने सरीखे काम मंत्री—हिचकता नहीं और सतत जागरूक रहता है उसी का बड़प्पन लक्ष्मण के बड़प्पन की तरह सफल है। परन्तु फूलों की शय्या ही नेता के लिये नहीं हुआ करती; भले ही वह पत्थर पर बिछी हो। उसे तो उस शय्या पर भी अपने कर्त्तव्य की स्मृति सदैव बनी रहनी चाहिये। इसीलिये 'तरु किसलय सुमन सुहाये' के ऊपर वह 'रुचिर मृदुल मृगछाला' थी जो मारीच की याद के साथ सीताहरण और राम की प्रतिज्ञा का उन्हें सतत स्मरण दिला रही थी। राम मारीच की छाल पर आसीन थे परन्तु फिर भी अपनी कृपालुता उन्होंने दूर नहीं बहाई थी। विपक्षी सुधर जाय तो अब भी उसके लिये अवसर दिया जा सकता था। यह होनी चाहिये समर्थ नेता की कृपा-भावना।

नेता और उसके सहयोगियों में परस्पर व्यवहार कैसा हो यह भी देख लिया जाय। कपीश ने तो सेना सहित अपने को राम कार्य के लिये अर्पित किया था इसलिये प्रभु ने उसकी गोद में अपना सिर ही रख दिया। मानों अपने को ही उसकी गोद में सौंप दिया। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे निष्क्रिय अथवा असावधान हो गये। दहिने और बायें अपने चाप और निषंग रखे ही हुये हैं तथा दोनों हाथों से धीरे-धीरे एक वाण की धार परखी और सुधारी जा रही है। नेता का मुख्य बल तो उसका आत्मबल ही रहा करता है न कि पर-बल, भले ही वह पर-बल उसके घनिष्ठ आत्मीयों से मिला हो। दूसरे सहयोगी नरेश वे लंकेश जिनके पास निज की सेना तो न थी परन्तु लंका के रहस्यों की अनुभूतियाँ भरी पड़ी थीं। कार्य सिद्धि के लिये उनकी सलाह आवश्यक थी इसलिये प्रभु ने उन्हें भी अपने सिरहाने बैठाया और उन्हें सच्चे अर्थों में अपना कनलगा बनाया। उपयुक्त व्यक्तियों की सलाहें सुनी जायँ और इस प्रकार सुनी जायँ कि वक्ता और श्रोता के अतिरिक्त तीसरा कोई उन्हें न सुन सकें यह भी नेतृत्व का एक विशिष्ट गुण है। असली बड़भागी वे लोग हैं जो नेता के सिर की ओर नहीं किन्तु उनके पदचिह्नों की ओर पहले दृष्टिपात करते हैं—उसकी आलोचना प्रत्यालोचना नहीं, किन्तु उसके अनुशासन में रह कर उसके पदचिह्नों पर चलने की बात पहले सोचते हैं। ऐसे थे अंगद और हनुमान। भक्ति पक्ष में भी बड़ भागी वह है जो पद-सेवन में दत्तचित्त हो। लंकेश और

कपीश की तरह ईशत्व का अभिमान लेकर जो प्रभु के सिरहाने बैठेगा उसे बड़-भागी नहीं कहा जा सकता क्योंकि न जाने कब वह प्रमाद में पड़कर धोखा खा जाय।

नेता के चारों ओर भले ही कपीश लंकेश, अङ्गद और हनूमान के समान उसके सहचारी लगे बैठे हों परन्तु उसका सम्पूर्ण साधन बल वहीं नहीं समाप्त रहता। उसका अतिरिक्त बल-रिजर्व फोर्स—उसके प्रकट सहचारियों से भी अधिक शक्तिशाली रूप में, अलग हटा हुआ (अव्यक्त) होकर भी उससे परम घनिष्ठतया सम्पृक्त रहता है। वह अतिरिक्त बल था लक्ष्मण के रूप में जो प्रभु के पीठ पीछे वीरासन में विद्यमान था। उसकी कटि में निषङ्ग और हाथ में धनुष बाण बराबर उपस्थित थे।

प्रभु के इस पार्षद विशिष्ट रूप का ध्यान करने वालों को गोस्वामीजी ने धन्य कहा है। उपनिषदों में भी इस रूप के ध्यान की महिमा है। राम का इसमें अपना निराला पंचायतन है जिसके मन, चित्त, बुद्धि, अहङ्कार रूप चार पार्षद क्रमशः अङ्गद, हनूमान, लंकेश और कपीश के रूप में चारों कोने साधे बैठे हैं। अव्यक्त शक्ति के पुंजीभूतरूप बन कर बैठे हुए हैं लक्ष्मण और व्यक्तशक्ति पुञ्जीभूत रूप हैं राम जिनकी सामर्थ्य का प्रस्फुटन चारों ओर हो रहा है चार-चार रूपों में। लक्ष्मण मिला कर पाँच पञ्चों की वह पंचायत कितनी महत्व-पूर्ण थी। और जहाँ ऐसी पंचायत है वहीं पंच परमेश्वर का वास है ऐसा समझिये।

प्रभु किस चतुराई से अपने सहचारियों के हृदय के भाव टटोलते हैं यह भी देखने लायक है। निर्द्वन्द्वता दोनों ही ओर उपर्युक्त दोनों ही चित्रों में थी। यदि उधर नाचरंग का अखाड़ा जमा हुआ था तो इधर भी एक छोटी मोटी कवि-गोष्ठी जम गई। परन्तु यह कवि-गोष्ठी कितनी सार्थक और सारगर्भ थी यह समझने वाले ही समझ सकते हैं। कितना विराट् व्यापार आसन्न भविष्य में अपेक्षित था परन्तु किस निश्चिन्तता के साथ प्रभु ने कवि गोष्ठी का क्रम छेड़ दिया। संकट में भी मुस्कराते रहना दायित्वपूर्ण नेता का प्रधान गुण है। परन्तु यह कवि-गोष्ठी प्रभु की कोरी मुस्कराहट न थी। वह भी अपने सहचारियों के हृदयगत भाव टटोलने की प्रक्रिया। किस सहचारी को किस प्रकार के दायित्व का कार्य सौंपा जाय, इस निर्णय के पहिले यह तो जान परख लिया जाय कि कौन कितने पानी में है। प्रभु ने देखा कि पूर्ण चन्द्र उदित हुआ है और उस पर पड़ी हुई श्याम रेखा स्पष्ट झलक रही है। वे पूछ बैठे कि वह श्यामता क्या है? सुग्रीव ने कहा 'यह पृथ्वी की छाया है'। विभीषण ने कहा 'यह राहु की लात का निशान है'। अंगद ने कहा 'यह शशि के सार भाग का अपहरण है'। हनुमान

कुछ न बोले। तब प्रभु स्वतः बोले कि 'यह शशि के बन्धु गरल का रूप है, जो अब वहाँ बस कर विरहियों को जलाता रहता है। बात घुमाने के उद्देश्य से हनुमान को कहना पड़ा "यह आप ही की मूर्ति है जो चन्द्रमा में बस रही है।'

सुग्रीव का पृथ्वी पतित्व स्पष्ट था अतएव उसे राजोचित कार्य ही में नियुक्त करना चाहिये। लंकेश को लात खाने की पूरी याद है इसलिये इन्हें मुकाबिले में तो भिड़ाया जाय परन्तु लात का बदला इनकी बातों की सहायता से अवश्य लिया जाय। अङ्गद युवा है रति सुख का भी उसे ध्यान है और सार भाग के अपहरण का भी। इसलिये मौके-मौके पर ही इसे नियुक्त किया जाय और जहाँ तक हो सुग्रीव से अलग-अलग। गरल-बन्धु की बात कह कर राम का अङ्गद को संकेत था कि चचा भतीजे का वैमनस्य अब दूर हो जाना चाहिये। जहरीला भाई भी आखिर भाई ही तो है। परन्तु इस संकेत के साथ ही जो 'विरहवन्त' की बात घूम पड़ी उसे हटाने के लिये हनुमानजी ने चर्चा को पहिला मोड़ दिया। हनुमान् की उक्ति से राम को निर्णय करते देर न लगी कि यह मन, वचन, कर्म से मेरा अनन्य अनुयायी है। अतएव इसे चाहे जिस काम में चाहे जहाँ भेजा जा सकता है। न इसमें भूमि का लोभ जागेगा न व्यर्थ की प्रतिहिंसा और न किसी प्रकार के अपहरण का क्षोभ। लक्ष्मणजी मौन ही बने रहे। उन्हें तो इस कविगोष्ठी से तटस्थ रखना प्रभु को पसन्द था।

इधर प्रभु ने सहचारियों के भाव टटोले और उधर बातों ही बातों में रावण के 'अखाड़े' को एक गहरी चेतावनी भी देदी। लेटे-लेटे वे जिस बाण की धार का सहज शान्त भाव से मुलाहिजा कर रहे थे वह बिना कुछ करतब दिखाए, तरकस में चुपचाप कैसे जा सकता था।

मानस के उपाख्यान (५)

मानस का पंचम सोपान अनेक दृष्टियों से बहुत सुन्दर बन पड़ा है। वह सुन्दर काण्ड कहाता है। उसमें कथा प्रवाह की विविधता, काव्य-कौशल से भरी उत्कृष्ट उक्तियाँ, व्यवहार और परमार्थ के अनुभवपूर्ण उपदेश सभी बड़े सुन्दर हैं। सबसे बड़ी बात है तीन भक्तों की चरित चर्चा जिन्हें हम क्रम से सात्विक, राजस और तापस भक्त भी कह सकते हैं। प्रभु का अनुग्रह उन पर किस प्रकार हुआ यह भी रोचक है। प्रवचनकार व्यास लोगों को यह काण्ड बड़ा प्रिय है। अतएव हमने अन्य एक पुस्तक में स्वतन्त्र रूप से इस काण्ड की कुछ विशद विवेचना करदी है। यहाँ उसके आख्यानों की संक्षिप्त चर्चा अनुपयुक्त न होगी।

(१) हनुमदाख्यान

इस काण्ड में पहिला आख्यान है श्री हनुमानजी का। राम और हनुमान का अद्‌भुत जोड़ा है। वह मानो उत्तर और दक्षिण का अथवा आर्यों और अनार्यों का गठबन्धन है। राम की पूजा हनुमान की पूजा के बिना अधूरी है। वैदिक वृषाकपि पौराणिक हनुमान हो गये अथवा जैन तीर्थङ्कर महावीर स्वामी का चरित्र वैष्णव परम्परा में समाविष्ट करके हनुमान के साथ जोड़ दिया गया, यह तो ऐतिहासिक ही जानें। वे सचमुच ही बन्दर थे अथवा वानरी गोत्र (टोटेम) के सुसभ्य वनवासी (आदिम जातीय गिरिजन) थे इसके भी विवेचन से इस समय हमें कोई प्रयोजन नहीं। परम्परा ने हनुमानजी को केसरी वानर और अञ्जना वानरी का पुत्र कहा है किन्तु सामान्य लौकिक पुत्र नहीं। भगवान का मोहिनी रूप देखकर शङ्कर का जो तेज स्खलित हो गया था उसका अंश पवन ने उड़ाकर अञ्जनी के गर्भ तक पहुँचा दिया था। इसीलिये हनुमान् में संहारक रुद्र की भी शक्ति है और पवन का प्रचण्ड वेग, आकाशगामित्व, लघु तथा विशाल रूप धारण, क्षमत्व आदि भी है। उनके प्रबल पराक्रम की कई गाथाएँ हैं। परन्तु अभिमानराहित्य के कारण वे अपना बल तब तक भूले रहते थे जब तक उन्हें इसकी याद न दिलाई जाय।

सुन्दरकाण्ड की कथा है कि जब जामवन्त ने हनुमानजी को उनके पराक्रम की याद दिलाई और उन्हें लङ्का जाने की पूरी प्रेरणा दी तब वे सीता की खोज में चले। रास्ते में उन्हें तीन शक्तियों का सामना करना पड़ा।

आकाश-गामिनी सुरसा को तो उन्होंने अपने कौशल से सन्तुष्ट करके टाला, पाताल-चारिणी सिंहका को मारकर ही वे आगे बढ़े और भूमि-वासिनी लंकिनी को अधमरा बनाकर अपनी हितैषिणी किया ।

लङ्का पहुँचकर पहिले तो एक ऊँची टेकरी से उन्होंने पूरी नगरी का सूक्ष्म विहङ्गावलोकन किया, फिर रात्रि के समय चुपचाप सीता की खोज करते रहे और सबेरा होते-होते अनायास उन्हें विभीषण का परिचय और साहाय्य प्राप्त हो गया जिनके सहारे वे अशोकवाटिका पहुँचकर सीताजी के दर्शन कर सके, 'सहिदानी' रूप अंगूठी देकर प्रभु का सन्देश सुना सके और फिर रावण के पास पहुँचने का उपक्रम बाँधने के लिये उस अशोकवन को उजाड़ भी सके ।

सीता की स्थिति और उनकी मनोवृत्ति का परिचय तो हनूमानजी को प्रत्यक्ष मिल ही चुका था । अब वे जाने के पहिले रावण को थोड़ी नसीहत भी देते जाना चाहते थे जिससे यदि अब भी सुधार की गुञ्जाइश हो तो भावी युद्ध टल जाय । उनका पराक्रम राक्षसों ने देखा, उनकी नसीहतें सभासदों ने सुनीं, परन्तु उन दोनों का ही असर रावण पर न हुआ क्योंकि उस दृढ़ निश्चयी ने 'प्रभुसर प्राण तजे भव तरिहउँ' का सङ्कल्प पहिले कर लिया था इसलिये न तो वह किसी के पराक्रम से प्रभावित होकर राम से वैर भाव रखना छोड़ सकता था न सीता ही को वापिस भेज सकता था । अन्त में हनूमानजी की पूँछ जलाने का उपक्रम हुआ किन्तु परिणाम में पूरी लङ्का ही भस्म हो गई ।

हनूमानजी ने फिर सीताजी के दर्शन किए और 'सहिदानी' (साक्षी) रूप से चूड़ामणि प्राप्त करके वे राम के पास आये । राम ने सीताजी की स्थिति का परिचय पाकर लङ्का की ओर सदलबल प्रस्थान कर दिया । हनूमान ने अपना यह दूतकार्य इतनी अच्छी तरह निभाया था कि उन्होंने सीताजी की भी और रामजी की भी परम कृपा अनायास प्राप्त करली । वरदानों की झड़ी लग गई थी उनके लिए, परन्तु उन्होंने भक्ति के अतिरिक्त और कुछ चाहा ही नहीं । यह है सात्विक भक्त का लक्षण ।

सुन्दर-सोपान की टीका में हमारी एक पाद-टिप्पणी (फुट नोट) है । उसे यहाँ अविकल दे देना अप्रासङ्गिक न होगा । वह यों है । "अध्यात्मपक्ष में राम का अर्थ है रमणीय कल्याण भाव और रावण का अर्थ है भयावह ऐश्वर्य भाव । शान्तरूपणी सीता तो कल्याण की ही चिर-सङ्गिनी रहती है । व्यक्ति का भयावह ऐश्वर्य यदि उसे अपने लिये हर ले जाना चाहे तो भी वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता । उसके वैभव पूर्ण अ-शोक वन में भी शान्ति छटपटाती होगी । सद्विचार रूपी हनूमान जब उसकी खोज

में भेजे जाते हैं तब उन्हें सात्विकी तामसी और राजसी वृत्तियों के बन्धन से अपने को बचाकर आगे बढ़ना पड़ता है। सतोगुणी वृत्ति है सुरसा जिसे दैवी-योनि का कहा गया है, ऊर्ध्वलोक आकाश जिसका निवासस्थान बताया गया है। उसका दमन उचित नहीं परन्तु उसके बन्धन में भी आना उचित नहीं। तमोगुणी वृत्ति है सिंहिका जिसे पातालवासिनी निशाचरी कहा गया है उसका तो संहार ही उचित है। रजोगुणी वृत्ति है लङ्किनी जो भूलोक की वस्तु है। उसका दमन करके उसे अपना सहायक बना लिया जाय, यही उत्तम है। इस प्रकार सद्विचार को शान्ति का पता लगेगा और तब कल्याण के साथ उसका पुनः संयोग होगा। यह होगा मद के वैभव की अ-शोक वाटिका उजाड़ने पर, मोह के ऐश्वर्य का अहं भाव भस्म होने पर। जीव में या तो कल्याण ही रहले या ऐश्वर्य ही। इन दोनों का सङ्घर्ष ही घट-घट की रामायणी कथा है। और उस कथा का सार यही है कि कल्याण के प्रतिपक्षी ऐश्वर्य का विध्वंस होना ही चाहिए तथा कल्याण की जय होनी चाहिए। शान्ति उसकी ही चिरसङ्गिनी रहेगी और सद्विचार उसका ही सच्चा सेवक होगा।"

पूरे आख्यान के काव्यकौशल की बानगी के रूप में हनुमानजी की एक उक्ति सुन लीजिये। लङ्का से लौटने पर हनुमान राम के सन्मुख हुए और राम ने जब पूछा "कहहु तात केहि भाँति जानकी, रहति करति रच्छा स्वप्रान की।" तब हनुमानजी कहते हैं—

"नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित, जाहिं प्रान केहि बाट॥"

अपनी टीका में इसका बिवेचन करते हुए पाद टिप्पणी में हमने लिखा है "सुन्दरकाण्ड का मध्यस्थ केन्द्रविन्दुरूप यह दोहा कई मार्मिक भावनाओं का भी केन्द्रबिन्दु है। वचन-विदग्ध राजदूत हनुमानजी यहाँ बड़ी सुन्दर संक्षिप्त समास पद्धति से बड़ा गहरा विरह निवेदन कर देते हैं। वे कहते हैं कि जानकी जी स्वतः प्राणों की रक्षा नहीं करना चाहतीं और प्राण भी निकल भागने को व्याकुल हैं परन्तु वे बेचारे इस बुरी तरह कैद हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। लोचन अपने ही पैरों पर इस तरह जकड़ कर बँध गये हैं कि प्राणों पर उनकी बेड़ियाँ पड़ गई हैं। आपका निरन्तर ध्यान कपाट बनकर प्राणों की जेल का दरवाजा बन्द किये बैठा है और आपका नाम तो अनवरत दिन रात प्रति श्वास प्रश्वास के साथ चलकर प्राणों की कड़ी पहरेदारी कर रहा है। फिर वे बेचारे भागें भी तो कैसे भागें।"

"सीताजी का मन आपके ही ध्यान में लीन है। वाणी आपही के नाम में निरन्तर लीन है, और क्रिया ने (दर्शन-लालसा ने) उनकी आँखों को उनके पैरों पर इस तरह जड़ दिया है कि मानो निश्चल समाधि-अवस्था ही हो गई है।"

"(क) आँखों में आपकी छवि थी वह कदाचित् पैरों के उज्ज्वल नखों में प्रतिबिम्बित हो जाय, (ख) आँखों ने कनक मृग देखा और पैरों ने सीमा-रेखा का उल्लंघन किया अतः दोनों अपराधी बन्धन-योग्य हैं। (ग) कितना अच्छा होता यदि आँखों की आकांक्षा आँखों की ही स्मृतियाँ और कल्पना-शक्तियाँ होकर पैरों को सबल बना देतीं जिससे वे प्रियतम प्रभु तक पहुँच जाते, इत्यादि इत्यादि न जाने कितने भावों की क्रियाशक्ति पाकर उनकी आँखें उनके अपने ही पैरों से जकड़ गई हैं।"

"साधना के क्षेत्र में चरणों पर लोचन यन्त्रित करना त्रिदण्ड सन्यास का लक्षण माना जा सकता है। इसे ही कुछ लोग उन्मनी मुद्रा कहते हैं। ध्यान की शक्ति का महत्व तो सर्वविदित है ही। भगवन्नाम भी भव का महाभेषज है। मन वाणी क्रिया के इस प्रकार समन्वयपूर्ण सामञ्जस्य से यदि योगी अपने प्राणों को काल तक पहुँचने ही नहीं देता तो कौन आश्चर्य।" इस प्रकार यह दोहा प्रसङ्ग के बाहर एक सुन्दर आध्यात्मिक अर्थ भी दे रहा है।

(२) विभीषणाख्यान

राजस-भक्त हैं विभीषण जिनका आख्यान इस काण्ड के मध्य में सम्पुटित है। हनुमानजी को समझिये सिद्धभक्त और समुद्र को विषयी भक्त। दोनों के मध्य में साधक कोटि का जो जीव है वह है विभीषण। शरणागति का सबक (पाठ) उसी के लिये है। अतएव विभीषणाख्यान बड़े कौशल के साथ इस काण्ड में सम्पुटित किया गया है।

आख्यान का संक्षेप इस प्रकार है "तन मन और धन की सुरक्षा के सहायक हुआ करते हैं क्रमशः वैद्य, गुरु और सचिव (सलाहकार)। इन्हें तो सत्य बोलना ही चाहिये चाहे वह कटु सत्य ही क्यों न हो। जब ये भी भय के कारण अथवा लोभ के कारण चिकनी-चुपड़ी बातें करने लगते हैं तब शरीर, धर्म और राज्य की सुरक्षा कैसे हो सकती है। रावण ने अपने लिये ऐसी ही परिस्थिति का निर्माण कर लिया था। विभीषण ने कटु सत्य कहने की हिम्मत की और काम, क्रोध, मद लोभ त्यागने की बात कही। उसने कहा "परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस।" मान है विकृत भाव, मोह है विकृत ज्ञान, मद है विकृत शक्ति। सच्चे भजन के लिये आवश्यक है कि दिल

(भाव) दिमाग (ज्ञान) और देह (तन शक्ति) की प्रवृत्तियाँ विकृति से बची रहकर प्रभु की ओर लगें। परन्तु रावण कब मानने चला था। उसने चिढ़कर विभीषण को एक लात लगाई और इस प्रकार उसे राम की ओर चले जाने को बाध्य किया। शायद उसने जानबूझ कर भी ऐसा किया हो क्योंकि अपने कुल के सभी लोगों को वह आग में न झोंकना चाहता होगा। हमें तो गोस्वामी जी के शब्दों में यही ध्वनि मिलती है—

जीव स्वभावतः निष्कलुष एवं शुद्ध विवेकमय है परन्तु प्रभुता के कालुष्य-पूर्ण वातावरण में पड़कर वह प्रभुता का सेवक बना रहता है। जब उसे प्रभुता की करारी ठोकर मिलती है तब कहीं उसे प्रभु की दिशा में जाने का चेत आता है। परन्तु उस अवस्था में भी उसे ऐसा चेत आ जाय तो उसे सौभाग्यशाली साधक जीव ही समझना चाहिये। चेत आने पर भी कितने हैं जो प्रभु प्राप्ति के लिये विभीषण की तरह चल पड़ते हैं ?

कोई-कोई लोग विभीषण को पञ्चमाङ्गी या स्वराष्ट्रद्रोही कहते हैं। किन्तु गोस्वामीजी के विभीषण ने स्पष्ट घोषणा की है कि "राम सत्य संकल्प प्रभु, सभा काल बस तोरि ; मैं रघुबीर-सरन अब, जाउँ देहु जनि खोरि।" "देहु जनि खोरि" का अर्थ ही है कि कोई मुझे पञ्चमार्गी न समझे। क्यों ? इसलिये कि मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि उधर राम तो सत्य संकल्प हैं और उस संकल्प को पूरा करने के लिये प्रभु (समर्थ) भी हैं और इधर लङ्का की यह सम्पूर्ण चाटु-कार सभा कालवश हो चुकी है। अतएव सत्य की रक्षा के लिये और स्वराष्ट्र के सत्यप्रेमी व्यक्तियों की रक्षा के लिये मुझे रघुबीर समर्थ की शरण जाना ही चाहिये इतने पर भी यदि रावण उसे निर्बाध चला जाने देता है तो उस विभीषण को स्वराष्ट्र-द्रोही या पञ्चमांगी कैसे कहा जा सकता है ?

गोस्वामीजी ने तो उसे प्रारम्भ से ही रघुबर भक्त बताया है। अपने घर में तुलसी का झाड़ लगाकर और रामायुध अङ्कित करके वह लङ्का में दाँतों के बीच जीभ की तरह रह रहा था। हनुमान की मित्रता का उसे सौभाग्य मिला जिससे उसने राम की महिमा समझी। रावण की लात ने उसे राम के पास जाने का संयोग अनायास दे दिया। कितने सुन्दर मनोरथ करता हुआ वह चला है :—

"देखिहउँ पाइ चरन जल जाता। अरुन मृदुल सेवक सुख दाता ॥
जे पद परसि तरी ऋषिनारी। दण्डक कानन पावन कारी ॥
जे पद जनक सुता उर लाये। कपट कुरंग संग धर धाये।
हर उर सर सरोज पद जेई। अहो भाग्य मैं देखिहउँ तेई ॥

जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि, भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आज विलोकिहउँ, इन्ह नयनन्हि अब जाइ ॥

चतुर्विध भक्त और षडविधा शरणागति के सभी उदाहरण आगये इस मनोरथ में। कपिराज सुग्रीव का भी जोर न चला कि वे ऐसे भक्त को प्रभु से दूर रख सकें। प्रभु ने तुरन्त ही बुलाया और उनके मुँह से निकल ही तो गया "कहु लंकेस....।" किसी भी अर्थ में हो परन्तु जब वाणी ने 'लंकेश' कह दिया तब प्रभु उस पर अपनी 'सही' की मुहर क्यों न लगादें। उन्होंने सागर-नीर मंगाकर विभीषण के मस्तक पर राजतिलक लगा ही दिया। गोस्वामीजी कहते हैं—

"रावन क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचण्ड।
जरत विभीषन राखेउ, दीन्हेउ राजु अखण्ड ॥
जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिये दस माथ।
सोइ सम्पदा विभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥"

यहाँ 'सकुचि' शब्द बड़े काव्य-चमत्कार से पूर्ण है। अपनी टीका की पाद-टिप्पणी में हमने यथामति उस चमत्कार के आंशिक उद्घाटन का प्रयत्न किया है। संक्षेप में यही समझा जाय कि उदार राम को केवल यही संकोच नहीं हुआ कि हमने भौतिक वैभव ही दिया तो क्या दिया परन्तु अपने विषय के साथ ही साथ शङ्करजी के, विभीषण के और रावण के विषय के भी सङ्कोच उन्हें हुये थे। उन सङ्कोचों का परिहार सोचकर ही उन्होंने सम्पत्ति देने की वह क्रिया पूर्ण की थी।

राजतिलक देने के पूर्व विभीषण और राम की जो बातें हुई हैं वे भी बड़े मार्के की हैं। विभीषण ने कहा "कुशली वह है जो शोकधाम काम का त्याग कर राम का भजन करे, कुशली वह है जो पञ्चविकारों के लिये स्थान तक न बचाता हुआ अपने सम्पूर्ण हृदय को राम के ध्यान के लिये अर्पित करदे, कुशली वह है जो रागद्वेषविवर्धिनी अहंता अँधियारी को नाश करने वाले प्रभु-प्रताप-रवि से अपने को ओत-प्रोत कर ले।

भाव यह कि (क) स्थूल देह से राम का भजन हो, सूक्ष्म देह में रघुनाथ बसाये जायँ और कारण देह में प्रभु प्रताप की ज्योति जगाई जाय तभी जीव की सच्ची कुशल होगी। (ख) दैहिक ताप दूर होंगे कामना छोड़ कर भजन करने से, दैविक ताप दूर होंगे मन में भगवान को बसाने से, भौतिक ताप दूर होंगे प्रभु-प्रताप में ध्यान की क्रिया स्थिर करने से। (ग) मन में भगवान बसाये जायें, वाणी से भजन किया जाय और क्रिया से प्रताप ज्योति जगाने की अनु-

कूलता लाई जाय तभी त्रिविध भवशूल मिट सकते और जीव सत्यतः कुशली हो सकता है।' राम ने मानो इसी तत्व का समर्थन करते हुए कहा मेरा स्वभाव अर्थात् करुणानिधान ब्रह्म की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति रहा करती है वह भी इस सम्बन्ध में समझलो। विषयी जीव—चराचर द्रोही तक भी—यदि सभीत होकर मेरी ओर झुकता है तो मैं उसके भीतिभाव को क्रमशः प्रतीतिभाव और प्रीतिभाव में परिणत करा देता हूँ। साधक जीव या तो भावमार्गी होकर संसारोन्मुख खण्ड-खण्ड प्रेमवृत्तियों को अखण्ड-सौन्दर्य-राशि परमात्मा में अर्पित करता है या ज्ञानमार्गी होकर समदर्शी बनता है या वैराग्यमार्गी होकर निरीह ('इच्छा कछु नाहीं' वाला) बनता है योगमार्गी होकर द्वन्द्वातीत (हरषु सोकु भय नहिं मन माहीं) होता है। ऐसे क्रियानिष्ठ साधक के लिए कृपासिन्धु का हृदयधाम सदैव उन्मुक्त है। सिद्ध जीव वह है जिसका मन सज्जनों के प्रति प्रेम पूर्ण-सेवापूर्ण और लीलामय के प्रति परम निष्ठावान् है जिसकी वाणी नीति के तत्वों पर सदा आधारित है और जिसकी क्रिया में परहित भरा हुआ है। वे जीव परमात्मा के प्राण समान हैं। कहना न होगा कि भगवान राम ने विभीषण की घोषणा ऐसी ही कोटि के जीवों में की।

(३) समुद्राख्यान

तामस भक्त है समुद्र जिसकी कथा अन्त में आई है। विभीषण की सलाह' पर उसका मान रखने के लिये, राम ने 'विनय करिय सागर सन जाई' वाली बात मानी। लक्ष्मण ने कहा 'दैवदैव आलसी पुकारा' अतएव 'सोखिय सिन्धु करिय मन रोसा'। राम ने कहा 'ऐसहि करब धरहु मन धीरा'। विभीषण की पहिली ही सलाह तुरन्त काट देना शिष्टाचार के विपरीत होता।

दर्भासन बिछाकर प्रभु इधर सामनीति का प्रयोग करने लगे, उधर रावण के दूत 'सुक सारन' का आख्यान चल पड़ा। उस आख्यान से हमें कोई विशेष प्रयोजन नहीं। कथा फिर पूर्वक्रम पर आजाती है। और गोस्वामीजी कहने लगते हैं:—

विनय न मानत जलधि जड़, गये तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति॥

सामनीति समझदारों या पण्डितम्मन्य मूर्खों के लिये है या उनके लिए है जो सीधी तरह मान जाने की भावधारा में हों। दुर्बुद्धि जिद्दियों के लिये दण्डनीति ही शीघ्र फलप्रद होती है। जो विनय को मान्यता ही न दें उन्हें कभी-कभी डाट-फटकार लगाना जरूरी हो जाता है। प्रीति से प्रीति होती है यह तो ठीक ही है परन्तु जो जीव कुटिलता के आवरण में हैं उन्हें प्रीति का

रस भय के मार्ग से ही मिलता है क्योंकि भय ही—ईश्वर का आतङ्क ही—उनकी उस कुटिलता के आवरण का भञ्जन करके उन्हें ईश्वर-तन्मय बनाकर प्रतीतिमार्गी और फिर प्रीतिमार्गी बना सकता है। भयावह वस्तु मनमें सदा छाई रहती है। धीरे-धीरे उस पर प्रतीति पक्की हो जाती है और जिस पर प्रतीति हो जाती है उसीसे धीरे-धीरे मन अपना सम्बन्ध जोड़ने लगता है—प्रीति करने लगता है। विषयी जीवों के लिए आवश्यक है कि वे ईश्वर से डर कर मर्यादा-मार्ग में चलें। तभी वे ईश्वर तन्मय हो सकेंगे और तभी उनमें क्रमशः अलक्षित रूप से ईश्वर के प्रति प्रीति उत्पन्न होने लगेगी।

विषयी जीव जितनी जल्दी शक्ति के आगे नतमस्तक होता है उतनी जल्दी शील या सौन्दर्य के आगे नहीं। समुद्र का वस्तुचैतन्य हनुमान के सामने नतमस्तक होगया क्योंकि "जेहि गिरि चरन देइ हनुमन्ता, गयउ सो गा पाताल तुरन्ता" यह उसने देख लिया था। राम का कोई पराक्रम उसके देखने में न आया था इसलिये वह राम की विनय की उपेक्षा ही करता रहा। राम ने दिखावे के क्रोध में जो डाट डपट की बातें कहीं—"भय बिनु होइ न प्रीति' कहा, 'लछिमन बान सरासन आनू" कहा, "सोखउँ बारिधि बिसिख कृसानू" कहा—उनसे भी समुद्र का वस्तु चैतन्य विचलित न हुआ। परन्तु जब प्रभु ने कराल बाण सन्धान हो लिया और समुद्र की छाती जलने लगी तब कहीं वह नतमस्तक हुआ और "कनक थार भरि मनिगन नाना, विप्र रूप आयेउ तजि माना"। लातों का देवता बातों से कब मानने चला था। जब लातें लगीं तब आगया रास्ते पर।

परन्तु इस विषयी जीव ने भी जिस समय अपना अभिमान मिटाकर प्रभु के चरण पकड़े उस समय उसकी भी भावना केवट की भावना की तरह शुद्ध हो गई। कहता है कि गगन समीर अनल जल धरणी के पंच तत्व तो स्वभावतः ही अपनी क्रिया में जड़ हैं। उनके गुण धर्म आदि की मर्यादा पर-मात्मा तथा प्रकृति के आदेशों अथवा नियमों के अनुसार बँधी हुई है। उन्हें अधिकार ही कहाँ है कि किसी की विनय पर अपना गुण धर्म छोड़ दें। वे ऐसा करने लगें तो सृष्टि विस्तार ही में बाधा आ जाय। अतएव इनकी मर्यादा के अनुसार ही इनका उपयोग करना चाहिये। आप ने मुझे सीख दी यह ठीक ही हुआ क्योंकि मैं विनय की नहीं, आदेश की भाषा समझता हूँ। परन्तु मेरे बड़प्पन की रक्षा अब आप ही के हाथ है। जैसा आप उचित समझें वह आदेश मेरे सिर माथे।

प्रभु उसकी विनय-वाणी से सन्तुष्ट हुये। सेना को तो पार जाना ही था और प्रभु के हाथों चढ़ा हुआ वाण किसी न किसी प्रकार सार्थक होना ही था। दोनों ही समस्याओं का समाधान कर दिया उस समुद्र ने। नल नील से पुल बनवा लेने की बात उसने कही और बाण से जल-दस्युओं का विध्वंस करवा लिया।

पञ्चतत्त्वों की जड़ करनी और उन्हें शासन-मर्यादा में रखने की बात कहते-कहते समुद्र कह गया "ढोल गँवार सूद्र पसु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।" पूर्वापर प्रसङ्ग से भिन्न करके इस पंक्ति का अर्थ करना ठीक न होगा। अपने पूर्व कथन की पुष्टि के लिये ही नीतिशास्त्रों का यह वाक्य समुद्र ने उपस्थित किया है जबकि ढोल गँवार शूद्र पशु नारी भी शासन-मर्यादा के अधिकारी कहे जाते हैं तब इन्हीं के उपमेय रूप गगन समीर अनल जल धरनी तो और भी अधिक मर्यादा में आबद्ध रहने चाहिये क्योंकि उनकी करनी सहज जड़ है। यह था समुद्र का अभिप्राय। परन्तु इस पंक्ति को प्रसङ्ग से हटाकर और इसका मनमाना अर्थ करके कइयों ने गोस्वामीजी को खूब कोसा है। अपनी टीका की पाद-टिप्पणी में हमने लिखा है कि "पहिली बात तो यह है कि 'गँवार' और 'पशु' को यदि विशेषण मान लिया जाय तो आक्षेप की कोई बात ही नहीं रह जाती। गँवार सेवक (शूद्र) और कामुक पशु-प्रवृत्ति वाली प्रमदाएँ नियन्त्रण की मर्यादा में होनी ही चाहिये। दूसरी बात यह है कि 'अधिकारी' का अर्थ 'पात्र' ही क्यों मान लिया जाता है। कर्तव्य का विरुद्धार्थी शब्द है अधिकार जिसका उपयोग होने देना या न होने देना अधिकारी की इच्छा पर निर्भर रहता है। नारी अपने भरण-पोषण और अपने मातृत्व गुण के निर्वाह के लिये निसर्गतः नर-निर्भर रहा करती है। पुरुष का कर्तव्य है कि वह उसे संरक्षण में रखे और नारी का अधिकार है कि वह नर का संरक्षण प्राप्त करे। अतएव ताड्य व्यक्ति की अनिच्छा रहते हुए भी ताड़ना का प्रयोग सर्वदा सभी पात्रों के प्रति होना ही चाहिये यह सोचना ही उपहासास्पद है। तीसरी बात यह है कि 'ताड़ना' का अर्थ 'पीटना' ही क्यों समझा जाता है। ढोल के अर्थ में वह 'पीटना' हो सकता है, पशु के अर्थ में 'लगाम लगाना' हो सकता है, गँवार के अर्थ में 'डाँटना' हो सकता है, शूद्र (सेवक) के अर्थ में आदेश-अनुशासन रखना हो सकता है और नारी के अर्थ में संरक्षण में अथवा मातृत्व मर्यादा में रखना हो सकता है। स्मरण रहे कि नैतिक नियम सामान्य व्यक्तियों को देखकर बनाये जाते हैं। विशिष्ट जन तो अपवाद की कोटि में मान

लिये जाते हैं। अतएव यह संरक्षण भी सर्वसामान्य नारी वर्ग की प्रकृति और प्रवृत्ति को देखकर ही कहा गया है।"

"नारी शब्द का प्रयोग भी तो यहाँ सीमित अर्थ ही में हुआ है। न बच्चियाँ ताड्य हैं न बुड्ढियाँ और न अपनी माताएँ बहनें आदि। ताड्य है नारी का वह मायाचारिक प्रमदा रूप जो अनायास ही समाज में अव्यवस्था पैदा करके मानव समाज को देखते-देखते नरक में ढकेल सकता है।

मानस का मङ्गलाचरण

(काव्य का मानदण्ड)

रामचरितमानस का प्रथम श्लोक हैः—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि,
मङ्गलानांच कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ।।

यहाँ वाणी का अर्थ है उक्ति की अधिष्ठात्री शक्ति से और विनायकौ का अर्थ है बुद्धि की अधिष्ठात्री शक्ति से। बुद्धि और उक्ति—विचार और उच्चार के बिना साहित्य सम्भव ही नहीं होता। इन दोनों में यदि सामञ्जस्य न रहा तो साहित्य की जगह अनर्गल प्रलाप होने लगेगा। अतएव आवश्यकता है कि इन दोनों का समन्वित ध्यान किया जाय। आध्यात्मिक जगत् में भले ही विनायक शिव-परिवार के देव हों और वाणी ब्रह्मा परिवार की देवी हों परन्तु काव्य-जगत् में दोनों ही शक्तियों का समन्वित ध्यान अभीष्ट है।

दिव्य विचार तदनुकूल दिव्य उच्चार से संयुक्त हों तो काव्य के क्षेत्र में उनकी शक्ति पाँच रूपों में प्रकट होती है। यही काव्य का पञ्चाङ्ग है। पहिला अङ्ग है वर्ण, दूसरा है अर्थसङ्घ, तीसरा है रस, चौथा है छन्द अथवा सङ्गीतात्मकता और पाँचवाँ है 'मङ्गल' अथवा साहित्य का हितत्व।

आचार्यों ने काव्य में शब्द और अर्थ को महत्ता दी है। 'कविहिं अरथ आखर बल साँचा' गोस्वामीजी ने वर्ण (अक्षर) और अर्थसङ्घ का उल्लेख किया है। सार्थक ध्वनिसमूह का नाम है शब्द। ये शब्द वर्णों ही से तो बने रहते हैं। किसी शब्द का कोई वर्ण अपने स्वतन्त्र रूप में निरर्थक भी रह सकता है परन्तु काव्य की दृष्टि से उसका भी अलग नाद-सौन्दर्य हो सकता है। एक शब्द का एक वर्ण उसी प्रसङ्ग के समीपवर्ती शब्द से जुड़कर नयी ही अर्थ-सृष्टि के चमत्कार दिखा सकता है। एकाक्षरी कोष में तो एक-एक शब्द प्रमाणित किया गया है। एक एक वर्ण एक-एक बीज-मन्त्र है ही। फिर शब्द के स्थान पर वर्ण ही को काव्य का एक अङ्ग क्यों न माना जाय ? वर्ण-विन्यास चातुरी का एक नमूना देखिये। पंक्ति हैः—'सब कर मत खगनायक एहा, करिय राम-पद-पङ्कज नेहा।' एक सज्जन ने इस पंक्ति के साढ़े सत्रह लाख अर्थ किये हैं जिनमें से अनेक प्रधान अर्थ केवल इन शब्दों की वर्ण-विन्यास-चातुरी से प्रकट हुए हैं। 'सब कर

मत खग नायक एहा' केवल वर्णों के पृथक्करण से इस प्रकार पढ़ा जा सकता है:—(क) स-बक रमत खगनायक एहा, (ख) सब-क रमत खगनायक एहा, (ग) सबक रमत खगनायक एहा, (घ) सब करम त खगनायक एहा (च) सब कर मत ख गनायक एहा, (छ) सब कर मत खग नायक एहा, (ज) सब कर मत खग ना यक एहा। इनमें से प्रत्येक पाठ अपना निराला अर्थ देता है। यहाँ खूबी शब्दों में प्रयुक्त वर्णों की है जो संश्लिष्ट होकर निराले चमत्कार दे रहे हैं।

गोस्वामीजी ने काव्य में अर्थ का नहीं किन्तु अर्थसङ्घ का महत्त्व बताया है। शास्त्र का उद्देश्य है ज्ञानवर्धन अतः उसके द्वारा निश्चित एक ही अर्थ द्योतित होना चाहिए। काव्य का उद्देश्य है भाववर्धन अतः उसके द्वारा ऐसे अनेक अर्थों की उपलब्धि होनी चाहिए जिनसे अनेकविध आनन्दवर्धन हो सके। आचार्यों ने शब्द की तीन शक्तियाँ तो मानी ही हैं जिनसे अभिधामूलक अर्थ, लक्षणामूलक अर्थ और व्यञ्जनामूलक अर्थ प्रकट होते हैं। अभिधा से लक्षणा श्रेष्ठ और लक्षणा से व्यञ्जना श्रेष्ठ है। प्रसङ्ग के अनुकूल इन शक्तियों के सहारे जो अर्थ विशेष चमत्कारी और साथ ही बोधगम्य जान पड़े उसीके अनुसार काव्य की कीमत आँकी जाती है। काव्य के शब्दों की खूबी इसी में है कि उनसे बुध और अबुध विद्वजन और सर्वसाधारण खास और आम क्लासेज और मासेज—सभी को अपने-अपने ढङ्ग के अपनी-अपनी रुचि और सूझ-बूझ के अर्थ प्राप्त हो जायँ "बुध विश्राम सकल जन रंजिनि, रामकथा कलि कलुष विभंजिनि।" काव्य वही मजेदार है जो सकलजन (सर्व साधारण) का रञ्जन तो करे ही परन्तु विद्वजनों को भी इतनी उपादेय सामग्री दे कि उनकी भाव-पिपासा और ज्ञान-पिपासा सब वहीं तन्मय होकर रह जाय। काव्य अनेक अर्थों की आनन्दमय सामग्री देता हुआ निश्चित ध्येय की निर्भ्रान्ति अर्थ सामग्री भी देता चले तब तो कहना ही क्या है। गोस्वामीजी के मानस में काव्य और शास्त्र का ऐसा ही अपूर्व सम्मिश्रण हुआ है। 'निज सन्देह मोह भ्रम हरनी, कहहुँ कथा भव-सरिता तरनी।' सन्देह (यह साँप है कि रस्सी), भ्रम (यह सांप है इससे हम कुछ दूर रहें) और मोह (तुम हजार कहो कि यह रस्सी है परन्तु हम तो तुम्हारी एक न सुनेंगे और इसे सांप ही कहे जायेंगे)—ये अज्ञान के तीन दर्जे हैं। तीनों को जो हर ले वह है सच्चा शास्त्र। भव-सरिता की तरणी (नाव) है भक्ति। अतएव गोस्वामीजी ने कथा रूप कविता के लिए केवल "बुध विश्राम सकल जनरंजिनि, रामकथा कलिकलुष विभंजिनि' ही नहीं कहा किन्तु 'निज सन्देह मोह भ्रम हरनी, करउं कथा भव-सरिता तरनी' भी कहा।

काव्य के पञ्चाङ्ग का तीसरा तत्त्व है रस। गोस्वामीजी ने काव्य के नौ

रसों में ही अपने को नहीं बाँधा है। 'सरल रस' (सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत व्याकुल भये) 'ध्यान रस' (मगन ध्यान रस दण्डजुग मन पुनि बाहेर कीन्ह) सरीखे नये-नये रसों की भी उद्भावना की है। जिस सर से असली रस निकलता है वह है रामचरितसरः (जिसे सन्तों की आध्यात्मिक भाषा में 'असीम परम तत्त्व का रागात्मक सम्बन्ध' कह सकते हैं) उसमें काव्य-प्रतिभा का अवगाहन कराना आवश्यक है तभी उत्तम रस प्रवाहित हो सकेगा। "भगत हेतु विधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवत धाई। रामचरित सर बिनु अन्हवाये, सो स्रम जाइ न कोटि उपाये। कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।" काव्य के नवों रसों को इसी सर तक पहुँचाने से उनका उदात्तीकरण हो सकता है और फिर तो उनका आनन्द इतना व्यापक और इतना निर्विरोधी हो उठता है कि विरोधियों को भी भाव-विभोर कर देता है— "सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान, सहज बैर बिसराय रिपु जो सुनि करहिं बखान।" रस का अर्थ है आह्लादकत्व और वह आह्लादकत्व ही कैसा जो विरोधियों को भी आकृष्ट न कर सके अथवा जो उदात्त न होकर मन में कालुष्य उत्पन्न करे। रस को काव्य का आत्मा मानने वाले सज्जन जरा आत्मा की इस उदात्तता पर भी विचार करें।

चौथा तत्त्व है छन्दस्। काव्य के अन्य भेदों की भाँति छन्दों के भी अनेक भेद हैं "आखर अरथ अलंकृत नाना, छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना। भावभेद, रसभेद अपारा, कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा।" छन्द का सार है सङ्गीतात्मकता अथवा नाद-सौन्दर्य। भावानुकूल ही शब्द ध्वनि और उस ध्वनि की यति गति भी हो तो भावों की प्रेषणीयता बहुत बढ़ जाती है और आनन्द का उद्रेक विशेष रूप से हो उठता है। इस दृष्टि से रीतितत्त्व भी एक प्रकार से छन्दतत्त्व के अन्तर्गत हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे अलङ्कार तत्त्व उक्ति-वैचित्र्य का तत्त्व मुख्यतया शब्द और शब्द योजना पर आधारित होने के कारण वर्णतत्त्व के अन्दर समाविष्ट होता है। सङ्गीततत्त्व तो इस छन्द के अन्दर समाविष्ट होता ही है। वर्ण्य विषय के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए गोस्वामीजी ने गेयता को बड़ी प्रधानता दी है। उन्होंने राम कथा को पढ़ने की नहीं किन्तु गाने की बात कही है। "मनकामना सिद्धि नर पावा, जो यह कथा कपट तजि गावा।" उन्होंने विनयपत्रिका और गीतावली में भावों के अनुसार रागों की और मानस में भावों के अनुसार छन्दों की व्यवस्था की है। साहित्य गद्यात्मक भी होता है, कादम्बरी आदि के समान, और पद्यात्मक भी, रघुवंश आदि के समान। गद्यात्मक काव्य में छन्द की आवश्यकता चाहे गौण हो परन्तु पद्यात्मक

काव्य में तो वह भी अन्य अङ्गों के समान अपना विशिष्ट महत्व रखता है। गोस्वामीजी का 'अपि' शब्द पद्यात्मक काव्य के लिये, छन्दों की भी आवश्यकता की व्यञ्जना कर रहा है।

अब रहा पाँचवाँ तत्त्व 'मङ्गल' जिसके साथ 'च' का प्रयोग किया गया है। इस 'च' (और) की व्यञ्जना है कि वह गद्य और पद्य दोनों प्रकार के काव्यों तथा सभी प्रकार के काव्य या शास्त्र के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा ही रहना चाहिए। काव्य-रचना का असली उद्देश्य तो यही होना चाहिए। "कीरति भनित भूति भलि सोई, कहत सुनत सब कर हित होई।" सज्जन लोग तो काव्य में इस मङ्गल तत्त्व ही की खोज किया करते हैं। यही असली वस्त्र है जो काव्य रूपी नायिका को शालीनता देता है। देखिए :—

भनित विचित्र सुकवि कृत जोऊ, राम नाम बिनु सोह न सोऊ।
बिधु बदनी सब भाँति सँवारी, सोह न बसन बिना बर नारी।
सब गुन रहित कुकवि कृत बानी, राम नाम जस अङ्कित जानी।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही, मधुकर सरिस सन्त गुनग्राही।

उन्होंने बुधों के इसी मान-दण्ड को प्रधानता देते हुए कहा है :—

"जो प्रबन्ध नहिं बुध आदरहीं, सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।" यों तो "निज कवित केहि लाग न नीका, सरस होउ अथवा अति फीका।" परन्तु जो बुधों द्वारा निर्मित औचित्य की कसौटी पर खरा उतर जाय, वही शोभा पाता है। काव्य का उद्देश्य—'स्वान्तःसुखाय' भले ही हो परन्तु जब वह प्रकाशित किया जाता है तब निश्चय ही उसका उद्देश्य 'सर्वान्तःसुख' होना चाहिए। इसी-लिए गोस्वामीजी ने कहा है—"तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं, उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।"

इस प्रसङ्ग में गोस्वामीजी ने निम्न पंक्तियाँ कितनी सुन्दर कही हैं :—

हृदय-सिन्धु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जो बरसइ बरबारि बिचारू। होंहि कवित मुकतामनि चारू॥
जुगति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, शोभा अति अनुराग॥

हृदय है अनुभूति तत्त्व, मति है चिन्तन तत्त्व और शारदा है कल्पना तत्त्व। कल्पना के योग से यदि उत्तम विचारों की वृष्टि होती है तो चिन्तन तत्त्व अनुभूति के आश्रय से चारु काव्य की सृष्टि करता है। वह काव्य यदि अध्ययन और अभ्यास की युक्तियों से रामचरित (इतिहास-रस से समन्वित उदात्त प्रबन्ध) पर आधारित रहा तो सज्जन लोग उसका अवश्य आदर करेंगे। क्योंकि वह

निश्चय ही मंगलमय होगा। उदात्त ऐतिहासिकता का सहारा लेकर जो काव्य सृष्ट होता है वह श्रोताओं के मन में मांगलिकता की भावना को सरलतापूर्वक दीप्त कर सकता है।

"मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥"

प्राचीन आचार्यों ने काव्य के लिये छः उद्देश्यों का उल्लेख करते हुये कहा है—"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षते, सद्यः परनिर्वृत्तये कान्ता-सम्मित तयोपदेशयुजे।" इन छहों उद्देश्यों का 'मंगल' में अन्तर्भाव हो जाता है। मंगल ही उचित है अतएव औचित्य को ही काव्य का प्रधान तत्त्व मानने वाले लोग भी प्रकारान्तर से मंगल ही का समर्थन करते हैं। पाश्चात्य आलोचक गण भी जिन्होंने काव्य के कला-पक्ष और भाव-पक्ष का सन्तुलित अध्ययन करने की क्षमता प्राप्त की है, मानने लगे हैं कि काव्य का उद्देश्य है जीवन का उन्नयन। यही तो परम मंगल तत्त्व है।

साहित्य शास्त्र के सम्बन्ध में भारत में जितने वाद उद्धृत हुए हैं वे हैं (क) अलंकारवाद (वक्रोक्तिवाद भी जिसकी श्रेणी में है) (ख) ध्वनिवाद (ग) रसवाद (घ) रीतिवाद (गुणवाद भी जिसकी श्रेणी में कहा जा सकता है) और (च) औचित्यवाद। वर्णानाम् से गोस्वामीजी ने उक्ति-वैचित्र्य वाले अलंकारवाद का, अर्थसंधानां से ध्वनिवाद का, रसानां से रसवाद का, छन्दसामपि से रीतिवाद का और मंगलानां से औचित्यवाद का संकेत किया है। अपने-अपने ढङ्ग पर पाँचों की आवश्यकता है परन्तु सब का मूल आधार है वर्ण और अर्थ। कविहिं अरथ आखर बल साँचा। इन दोनों के क्रमशः प्रधान देव हैं वाणी और विनायक। अतः मंगलाचरण में वे ही प्रथम वन्दनीय हुए हैं। उन्हीं से रस, छन्द और मंगल की भी सृष्टि होती है।

अब, मंगलाचरण के उपर्युक्त श्लोक का एक शब्द बचा 'कर्तारौ'। गोस्वामीजी ने कर्तारौ (रचने वाले) कहा है, 'दातारौ' (देने वाले) नहीं कहा है। काव्य-रचना के समय वस्तुतः वन्दना तो पाँचों तत्त्वों की माँग के लिये की जानी चाहिये थी। गोस्वामीजी ने ऐसा क्यों नहीं किया इसमें भी उनका कुछ विशिष्ट अभिप्राय जान पड़ता है। बात यह है कि कवि कर्म बड़ा दुष्कर है, क्योंकि कवि को अपनी अन्तरात्मा की दो-दो वृत्तियों को समान रूप से सँभालना पड़ता है। एक ओर तो वह तादात्म्यवृत्ति द्वारा वर्ण्य-विषय में मन को पूरी तरह रमा देता है और दूसरी ओर ताटस्थ्यवृत्ति द्वारा उस मन को बाहर खींचकर अपनी ही रमी हुई अनुभूतियों का एक तटस्थ व्यक्ति के समान यथातथ्य वर्णन करने लगता है। साधक में तादात्म्यवृत्ति ही प्रधान रहती है,

कवि में तादात्म्यवृत्ति के साथ ही ताटस्थ्यवृत्ति की भी प्रधानता चाहिये । 'मगन ध्यान रस दण्ड जुग, मन पुनि बाहेर कीन्ह । रामचरित महेश वर हरषित बरनइ लीन ।' यहाँ 'मगन ध्यान रस दण्ड जुग' में तादात्म्यवृत्ति का चमत्कार है और 'मन पुनि बाहेर कीन्ह' में ताटस्थ्यवृत्ति का । तभी तो रामकथा के उन आदि-गुरु के श्रीमुख से प्रसन्नता के साथ प्रासादिक कथाकाव्य का प्रवाह चल पड़ा। गोस्वामीजी कवि कर्म को बहुत दुष्कर मानते थे । सच्चे साधक की भाँति वे इसे ईश्वरी प्रेरणा मानते थे । "सारद दारु नारि सम स्वामी, राम सूत्रधर अन्तरयामी । जा पर कृपा करहिं मन जानी, कवि उर अजिर नचावहिं बानी ।" कवि-प्रतिभारूपी कठपुतली का सञ्चालक तो वही स्वान्तस्थ ईश्वर है जिसके दर्शन (और प्रसाद) के लिये श्रद्धा और विश्वास की आखें चाहिये । (मंगला-चरण का दूसरा श्लोक इस दृष्टि से पहले श्लोक का यथार्थ पार्श्ववर्ती बन जाता है । विश्वास के बिना वर्ण्य विषय में तन्मयता नहीं आ सकती और श्रद्धा के बिना उसकी उत्कृष्टता नहीं खिल सकती । राम-कथा के वास्तविक उत्कृष्ट रूप का तन्मयत्वपूर्ण प्रथम दर्शन कराने वाले श्रोता वक्ता रूप भवानी और शंकर ही तो हैं । काव्य का वर्ण्य विषय श्रद्धा के सहारे स्वान्तःस्थ ईश्वर की तरह उत्कृष्ट हो और विश्वास के सहारे वह परम आत्मीय की तरह मन रमा ले । इसी स्वान्तःस्थ ईश्वर का नाम है राम जो बाहर नरावतार रूप में भी दर्शन दे चुका है और दर्शन देता रहता है । यही गोस्वामी जी का मन्तव्य है । तब काव्य का असली कर्ता हुआ वह कवि-प्रतिभा का सूत्रधार अथवा उसी की प्रतिनिधिरूप वाणी और विनायक नामक शक्तियाँ । गोस्वामीजी ने इसीलिये काव्य पंचांग के दाता नहीं किन्तु कर्ता के रूप में वाणी और विनायक का संयुक्त स्मरण किया है । अपने लिये तो वे तीन-तीन बार जोर देकर कह गये हैं—'कवित बिबेक एक नहि मोरे, सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे । 'कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू, सकल कला सब विद्या हीनू' । तथा 'कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ, मति अनुरूप रामगुन गावउँ ।'

हम पहिले ही कह आये हैं कि कवि का दर्जा साधक की कोटि का होकर भी उससे ऊँचा है क्योंकि उसका तादात्म्य और ताटस्थ्य दोनों वृत्तियों पर मनचाहा अधिकार रहता है । उसकी साधना जितनी ऊँची उठती जाती है वह उतना ही विनम्र होता जाता है । अपनी कृति को वह अपनी न मानकर अपने प्रेरणादायक प्रभु की—अपने सद्गुरुस्वरूप प्रभु ही के किसी प्रतिनिधि की कृति मानता है । चीज बन जाती है और समाज उस व्यक्ति पर कृतित्व का सेहरा बाँधकर उस पर कवि की छाप लगा देता है । 'संभु प्रसाद सुमति हिय

हुलसी, रामचरितमानस कवि तुलसी।' शंकर के प्रसाद से सुमति में उल्लास आगया और रामचरितमानस प्रवाहित हो पड़ा। जो पुकार कर कह चुका था कि वह कवि नहीं है उस तुलसी पर भी कवि की छाप लग गयी। यह है गोस्वामीजी की स्वीकारोक्ति। यह है उनकी काव्य-साधना। यह है उनका काव्य विषयक मानदण्ड।

उनका लिखा सरसरि रूपक ध्यान देने योग्य है। कवि को चाहिये कि पहिले तो वह अपने मानस को वर्ण्य विषय के रस में खूब निमज्जित करले। उसके लिये सत्संग, सच्चिन्तन सभी का अवलम्ब ले। फिर तो मानस के उस रस से ओतप्रोत होजाने पर आप ही ऐसा आनन्द आने लगेगा कि वह रस छलक कर कविता रूप में प्रवाहित हो चलेगा। वह कृतित्व श्रमसाध्य नहीं होगा। यही जान पड़ेगा कि काव्यरचना कवि द्वारा नहीं किसी अलक्षित दिव्य प्रेरणा द्वारा हो रही है। गोस्वामीजी की पंक्तियाँ देखिये—

अस मानस मानस चख चाही। भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदय आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू॥
चली सुभग कविता सरिता सी। राम बिमल जस जल भरिता-सी॥

इस मङ्गलाचरण के प्रसङ्ग में संस्कृत के उत्कृष्टतम कवि और उनके उत्कृष्टतम काव्य की ओर भी हमारा ध्यान कौतूहलवश आकृष्ट हो रहा है। वह है कालिदास का रघुवंश। उसके भी मङ्गलाचरण में अनुष्टुप छन्द प्रयुक्त हुआ है—वही छन्द जिसमें आदि कवि का आदि श्लोक निसृत हुआ। वह भी 'वे' (अमृत बीज) से प्रारम्भ हुआ है। उसमें भी काव्य की प्रतिपत्ति का संकेत है। उसमें भी दो देवताओं की संयुक्त वन्दना है। श्लोक है "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपतये, जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ।"

कालिदास अपनी उपमाओं के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। जिस प्रसङ्ग का वर्णन करना होता है उसी से सम्बन्धित वस्तु को सुन्दर उपमान के रूप में प्रस्तुत कर देना उनकी विशिष्ट कला है। मङ्गलाचरण में ही उन्होंने अपनी इस कला की छटा दिखादी। शब्द और अर्थ की प्रतिपत्ति वे चाह रहे हैं। इसके लिये उनका ध्यान शब्द और अर्थ के समान ही सम्पृक्त रूप की ओर गया और उन्होंने पार्वती-परमेश्वर की वन्दना की। यह तो ठीक ही है परन्तु यह वन्दना उसी प्रकार हुई जैसे किसी क्षेत्रगत आवश्यकता की पूर्ति के लिये मनुष्य क्षेत्रीय अधिकारी को आवेदन पत्र न देकर एकदम केन्द्रीय सम्राट के पास आवेदन भेज दे। शब्द और अर्थ के क्षेत्रीय अधिकारी तो वाणी और विनायक हैं। वैधानिक नियम के अनुसार तो उन्हीं के पास पहिले पहुँचना चाहिये था। फिर, काव्य के

लिये केवल वाक् और अर्थ ही क्यों ? रस, छन्द और मङ्गल की भी तो आवश्यकता है। एक बात और भी है। वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये प्रार्थना करने में यह स्पष्ट नहीं होता कि वाक् और अर्थ के प्रदाता के रूप में इष्टदेव की प्रार्थना की जा रही है या उनके प्रकर्ता के रूप में। फिर भी कालिदास कालिदास ही हैं। तुलसीदास तुलसीदास ही हैं। कालिदास प्रधानतः कवि हैं तुलसीदास प्रधानतः साधक—रामभक्ति के साधक। अतएव उनका काव्य केवल काव्य ही नहीं है किन्तु रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि की कोटि में पहुँच कर एक साधना ग्रन्थ भी बन जाता है। हरिऔधजी ने ठीक ही कहा है कि काव्यकला का प्रसाद पाकर तुलसीदासजी धन्य नहीं हुए किन्तु तुलसीदासजी की कला का प्रसाद पाकर काव्य और काव्य का मानदण्ड धन्य हो गया है "कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।"

राम-जन्म

इस संसार में सृजन भी है संहार भी है और संरक्षण भी है। जरा बारीकी से देखिये तो जान पड़ेगा कि सृजन और संहार की क्रियाएँ संरक्षण की क्रिया की सहायक बनकर ही हुआ करती हैं। संसार है, विलस रहा है, फूल फल रहा है, प्रगति कर रहा है यही है 'संरक्षण की क्रिया'। इसी को भावुक भक्तों ने कहा है—"वैष्णव भाव"। विश्व में प्रधानता इसी वैष्णव भाव की रहा करती है।

सृजन और संहार की प्रेरणाएँ ही भारतीय भक्तों की भाषा में ब्रह्मा और महेश की प्रेरणाएँ हैं। संरक्षण की प्रगति के लिये इन प्रेरणाओं की भी आवश्यकता है किन्तु जब ये प्रेरणाएँ असन्तुलित हो उठती हैं तब संरक्षण का क्रम बिगड़ने लगता है। ऐसे ही अवसर पर किसी न किसी तरह की क्रान्ति होती है और कोई न कोई महापुरुष उस असन्तुलन का विनाश करके संरक्षण धर्म का पुनः स्थापन कर देता है। भारतीय भक्तों की भाषा में वह असन्तुलन ही रावण था जो ब्रह्मा और महेश के वरदानों की शक्ति पाकर विश्व को कम्पित कर रहा था। स्वतः महा विष्णु ही राम के रूप में अवतरित हुए और उन्होंने रावण का संहार कर संरक्षण धर्मी राम राज्य का स्थापन किया।

यह स्वाभाविक क्रम भी है कि घोर अन्धकार के बाद प्रकाश आता ही है। जब मानव समाज अत्याचारियों से त्रस्त हो उठता है तब उसी मानव-समाज में किसी ऐसे व्यक्ति का भी आविर्भाव हो उठता है जिसके कारण उन अत्याचारियोंके विष दन्त उखड़ जाते हैं। त्रेतायुग में एक ऐसा ही महान् प्रसङ्ग उपस्थित हुआ था जब रावण-राज्य से भारतीय आर्य त्राहि-त्राहि कर उठे थे। उस समय चैत्र की इसी शुक्ल नवमी के दिन ऐसे महापुरुष का आविर्भाव हुआ जिन्होंने भयावह रावण राज्य को ध्वस्त करके प्रेमास्पद राम राज्य की स्थापना की। हम भारतीय लोग श्रद्धा से उन्हें भगवान् कहते हैं और न केवल ऐतिहासिकों की भाषा में किन्तु भक्तों की भाषा में भी उसके गुणगान किया करते और उस गुण-गान से स्फूर्ति प्राप्त किया करते हैं। यही है रामधुन का रहस्य—यही है 'रघुपति राघव राजाराम पतित पावन सीताराम' की प्रेरणा। राम नवमी का पावन पर्व इसी प्रेरणा को देने के लिये प्रतिवर्ष आया करता है।

यों तो मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र का चरित्र बहुतों ने लिखा

परन्तु हिन्दी के कविकुल चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने जो रामकथा अपने 'रामचरित मानस' नामक ग्रन्थ में लिखी वह सरसता में एक दम अनोखी और अद्वितीय है। उसकी अलङ्कारिकता, उसका अर्थ गांभीर्य, उसका पद-लालित्य, उसकी प्रेरणात्मकता, सभी अपूर्व हैं। उनके उसी ग्रन्थ से रामावतार के प्रसङ्ग की कुछ पंक्तियाँ आगे कही जा रही हैं।

त्रेतायुग के उस समय में कैसी भीषण परिस्थिति थी यह देखिये :—

करहिं उपद्रव असुर निकाया, नानारूप धरहिं करि माया।
जेहि विधि होइ धरम निर्मूला, सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं, नगर गाँव पुर आगि लगावहिं।
शुभ-आचरन कतहुँ नहिं होई, देव विप्र गुरु मान न कोई।
नहिं हरि भगति ज्ञान जप दाना, सपनेहु सुनिय न वेद पुराना।

× × × ×

बरनि न जाय अनीति, घोर निशाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहिं कवनि मिति॥

त्रेतायुग के जो मनुष्य राक्षस-तुल्य हो गये थे उनका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी आगे कहते हैं:—

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट पर धन पर-दारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी॥

ऐसे राक्षस तो हर युग में पाये जा सकते हैं।

देवयोनि के राक्षस मनचाहा रूप धर सकते थे और मनचाही जगह उड़ कर पहुँच सकते थे। मानव-राक्षसों में यह शक्ति न थी। परन्तु जो भी लोग समाज-विघातक आचरण कर रहे थे, थे वे सब राक्षस ही। ऐसे पर-द्रोहियों का भार पृथ्वी सह न सकी। इसीलिये गोस्वामीजी ने कहा 'परमसभीत धरा अकुलानी' और उसके मुख से कहलाया 'गिरि सरि सिन्धु भार नहिं मोहीं, जस मोहिं गरुअ एक परद्रोही।

परम त्रस्त होकर पृथ्वी ने गाय का रूप धारण किया और मुनियों के पास गई, देवताओं के पास गई और सब को लेकर ब्रह्मा के पास गई। परन्तु ब्रह्माजी ने कहा कि यह उनके नहीं किन्तु भगवान महाविष्णु के बलबूते की बात है अतएव विष्णु की आराधना की जाय। वे विष्णु कहाँ मिलें इसका विचार चलने लगा। शङ्करजी ने कहा वे तो सर्वत्र हैं। उन्हें इधर-उधर क्यों ढूँढ़ा जाय। सच्चे हृदय से उनका आह्वान किया जाय वे निःसन्देह यहीं प्रकट हो जायँगे।

सबको यह राय पसन्द आई और गद्गद कण्ठ से ब्रह्माजी ने स्तुति प्रारम्भ की। परिणाम में, शोकों और सन्देहों को दूर करने वाली दैवी वाणी सबों ने सुनी जिससे पृथ्वी भी आश्वस्त होकर अभय हो गई। इस प्रसङ्ग की मनोरम पंक्तियाँ सुनियेः—

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा॥
पुर बैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि महँ बस सोई॥
जाके हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती॥
तेहि समाज गिरिजा! मैं रहेऊ। अवसर पाय वचन एक कहेऊँ॥
हरि व्यापक सरवत्र समाना। प्रेमतें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि विदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।
अगजग मय सब रहित विरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
मोर वचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥

सुनि विरञ्चि मन हरष तन, पुलकि नयन बह नीर।
अस्तुति करत जोरि कर, सावधान मति धीर॥

जय जय सुर नायक जन सुख दायक प्रनत पाल भगवन्ता।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कन्ता॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीन दयाला करहु अनुग्रह सोई॥
जय जय अविनासी सब घट वासी व्यापक परमानन्दा।
अविगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुन्दा॥
जेहि लागि विरागी अति अनुरागी विगत मोह मुनिवृन्दा।
निसि वासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं जयति सच्चिदानन्दा॥
जेहि सृष्टि उपाई त्रिविधि बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करउ अघारी चिन्त हमारी जानिय भगति न पूजा॥
जो भव भय भंजन मुनिमन रंजन गंजन विपति बरूथा।
मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुर यूथा॥
सारद स्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहं कोउ नहिं जाना।
जेहि दीन पियारे वेद पुकारे द्रवउ सो श्री भगवाना॥
भव वारिधि मन्दर सब विधि सुन्दर गुन मंदिर सुख पुंजा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कंजा॥

जानि सभय सुर भूमि, सुनि, वचन समेत सनेह।
गगन गिरा गम्भीर भइ, हरनि सोक सन्देह॥

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहिं लागि धरिहउँ नर बेसा ,
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा । लेइहउँ दिनकर बंस उदारा ॥
कस्यप अदिति महातप कीन्हा । तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा । कोसलपुरी प्रगट नर भूपा ॥
तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई । रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई ॥
नारद वचन सत्य सब करिहउँ । परम सक्ति समेत अवतरिहउँ ॥
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई । निर्भय होहु देव समुदाई ॥

फिर क्या हुआ—

गगन ब्रह्म बानी सुनि काना । तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ॥
तब ब्रह्मा धरनिहिं समुझावा । अभय भई भरोस जिय आवा ॥
निज लोकहि बिरंचि गे, देवन्ह इहइ सिखाइ ।
बानर तनु धरि धरनिमहँ, हरिपद सेवहु जाइ ॥

इस प्रकार दिव्यलोक की एक झाँकी दिखाकर गोस्वामी अपने श्रोताओं को मानव के मर्त्यलोक में उतार लाते हैं और राजा दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ की कुछ ही पंक्तियों में बहुत संक्षिप्त चलती सी चर्चा करके कहने लगते हैं—

जा दिन तें हरि गर्भहि आये । सकल लोक सुख सम्पति छाये ॥
मंदिर महँ सब राजहिं रानी । सोभा सील तेज की खानी ॥
सुखजुत कछुक काल चलि गयऊ । जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ ॥
जोग लगन ग्रह बार तिथि, सकल भये अनुकूल ।
चर अरु अचर हरष जुत, रामजनम सुखमूल ॥

भगवान् राम का ऐसा प्रताप था कि ग्रहों का पञ्चाङ्ग भी उनके अनुकूल होगया, और यही नहीं, पूरी प्रकृति भी—मानवलोक से देवलोक तक—प्रसन्नता से भर उठी । देखिये—

नवमी तिथि मधुमास पुनीता । सुकुलपच्छ अभिजित हरि प्रीता ॥
मध्य दिवस अति सीत न घामा । पावन काल लोक बिस्रामा ॥
सीतल मंद सुरभि बह बाऊ । हरषित सुर सन्तन्ह मन चाऊ ॥
बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा । स्रवहिं सकल सरितामृत धारा ॥
सो अवसर विरंचि जब जाना । चले सकल सुर साजि बिमाना ॥
गगन विमल संकुल सुरजूथा । गावहिं गुन गन्धर्व वरूथा ॥
बरसहिं सुमन सुअंजलि साजी । गहगहि गगन दुन्दुभी बाजी ॥
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा । बहुविधि लावहिं निज निज सेवा ॥

सुर समूह विनती करि, पहुँचे निज निज धाम।
जग-निवास प्रभु प्रगटे, अखिल लोक बिस्राम ।।

'जगनिवास प्रभु प्रकटे अखिल लोक विस्राम' में कितना अर्थगाम्भीर्य है और कितना काव्य-कौशल है—कितनी दार्शनिकता और कितनी भाव-प्रवणता है—कितना उक्ति-चातुर्य और कितना शब्द-चमत्कार है—यह थोड़े में समझा कर बताया नहीं जा सकता। पूर्ण चैतन्य तत्व तो जग-निवास है ही क्योंकि वह जग के अणु-परमाणु में व्याप्त है। परन्तु वह प्रभु भी तो है—परम शक्ति-शाली भी तो है। अतएव उसका विशेष परिस्थितियाँ पाकर प्रकट हो जाना भी सर्वथा संभव है। अग्नितत्व ही को देखिये न। सब कहीं व्याप्त है वह, परन्तु जहाँ अनुकूल ईंधन और घर्षण का संयोग हो जाता है वहाँ उसका रूप प्रकट हो जाता है। जन्म-मरण दूसरी बात है किन्तु आविर्भाव तिरोभाव एक भिन्न ही बात है। मर्त्य देहों का जन्म मरण भले ही हो परन्तु प्रभु का जन्म-मरण कैसा। उनका तो प्रकट होना और तिरोहित होना ही कहा जायगा। जो चैतन्य शक्ति जितना अधिक अंश लेकर प्रकट होगी वह उतने ही व्यापक क्षेत्र के लिये विश्रान्तिदायिनी होगी। यदि पूर्ण शक्ति का ही अवतार हो जाय तो निश्चय ही वह 'अखिल लोक विश्राम' होगा। फिर देखिये—जो जगनिवास है वह प्रभु होकर जगस्वामी भी है। जो प्रकट होकर इकाई की सीमा में बँध रहा है वह 'अखिल लोक विश्राम' की व्यापकता भी लिये हुए है। आगे देखिये—वह ऐसा प्रभु प्रकट हुआ जिसकी स्थिति है 'जगनिवास' में और गति है 'अखिल लोक विश्राम' में। और भी सोचिये—जगनिवास में निराकार का संकेत, प्रभु में सुराकार का संकेत और प्रगटे में नराकार का संकेत। तीनों का सम्मिलित रूप ही अखिल लोक विश्राम है।

एक पंक्ति ही क्यों, गोस्वामीजी की रचना में तो ऐसी अनेक पंक्तियाँ सहज ही मिल जायँगी। आगे के छन्दों ही को देखिये। यदि पिछले छन्दों की ब्रह्माकृत स्तुति में अद्वैत वेदान्त सम्मत सुराकार निराकार और नराकार रूप की ध्वनियाँ मिलेंगी (देखिये प्रथम छन्द में सुराकार रूप की ध्वनि, दूसरे दो छन्दों में निराकार रूप की ध्वनि और अन्तिम छन्द में नराकार रूप की ध्वनि) तो इन छन्दों की कौशल्या कृत स्तुति में विशिष्टाद्वैत वेदान्त सम्मत ब्रह्म के पाँचों अवतार—पर, अन्तर्यामी, व्यूह, विभव और अर्चा के भी बड़े सुन्दर संकेत मिल जायँगे। छन्द सुनिये—

भये प्रगट कृपाला परम दयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनिमन हारी अद्भुत रूप बिचारी।।

लोचन अभिरामं तनु घन स्यामं निज आयुध भुजचारी।
भूषण बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी ॥
कह दुहुँ कर जोरी अस्तुति तोरी, केहि विधि करहुँ अनन्ता।
माया गुन ज्ञानातीत अमाना, वेद पुरान भनन्ता ॥
करुना सुख सागर सब गुन आगर, जेहि गावहिं स्रुति सन्ता।
सो मम हित लागी जन अनुरागी, भयउ प्रगट श्री कन्ता ॥
ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया, रोम रोम प्रति वेद कहै।
मम उर सो वासी यह उपहासी, सुनत धीर मति थिर न रहै ॥
उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना, चरित बहुत विधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई, जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै ॥
माता पुनि बोली सो मति डोली, तजहु तात यह रूपा।
कीजिय सिसु लीला अति प्रिय शीला, यह सुख परम अनूपा ॥
सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना, लेइ बालक सुर भूपा।
यह चरित जे गावहिं हरि पद पावहिं, ते न परहिं भव कूपा ॥

बिप्र धेनु सुर सन्त हित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज-इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार ॥

प्रथम छन्द में पर और दूसरे में अन्तर्यामी के अवतार की चर्चा है। तीसरे छन्द में व्यूह और विभवावतार के संकेत हैं। चौथे छन्द में अर्चावतार की स्पष्ट ध्वनि है।

तार्किक विद्वान् कहते हैं मनुष्य ऊपर उठता है—मानव से वह महा-मानव बनता है—अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ता है। भावुक भक्त कह देते कि महामानव मनुष्यता के हाड़ माँस वाले शरीर में उतर पड़ता है—अवतार ले लेता है। यह अपने अपने कहने का ढङ्ग है। राम मानव से महामानव हुए अथवा महामानव से मानव बने यह विवाद बुद्धिवाद के लिये छोड़ दिया जाय। इस पावन राम नवमी के दिन पावन चरित्र भगवान् राम का अवतार हुआ था यह मानकर गोस्वामीजी की वाणी का रस लिया जाय। भारत के एक आदर्श महामानव की जन्म तिथि के नाते इसे सम्मान देना तो किसी को अरोचक न होगा।

नव का अङ्क बड़ी पूर्णता लिये हुए होता है। संख्याओं की चरम सीमा वही है। फिर तो शून्य के संयोग से पिछली संख्याएं ही आगे बढ़ाई जाती हैं। इस नव के पहाड़े में संख्याओं का ऐसा द्वन्द्व प्रारम्भ होता है जिसमें घट बढ़ कर तारतम्य स्पष्ट देखा जा सकता है। परन्तु ऐसी प्रत्येक संख्या का योग नव ही

होगा। संसार की विषमताओं के द्वन्द्व में भी विलस रहा है वही एक चरम अङ्क जो सदा परिपूर्ण होकर भी सदा नव है—चिर पुरातन होकर भी चिर नवीन। नवमी के दिन राम का अवतार निश्चय ही अपनी यह सब विशेषता लिये हुए माना जायगा। शक्ति की नवदुर्गा, राम चरित मानस के नवाह पारायण का क्रम, महाभारत का द्वन्द्व प्रकट करने वाले नौ के दूने अठारह अध्याय, अष्टादश पुराण और स्मृतियाँ आदि आदि के अङ्क अपना चमत्कार रखते ही हैं। राष्ट्र की सामूहिक चेतना को सुमार्ग की ओर प्रेरित करने में राष्ट्रीय पर्वों को अपना विशिष्ट महत्त्व है। रामनवमी का दिन ऐसा ही एक राष्ट्रीय पर्व समझा जाना चाहिये जो अपनी पूर्णता में अद्वितीय है।

गोस्वामीजी लिखते हैं कि भगवान राम के अवतार के बाद तो फिर मानों आनन्द का समुद्र ही उमड़ पड़ा। नगर जगमगा उठा, पुष्पवृष्टियाँ होने लगीं। मङ्गल आरतियों और मङ्गल गीतों की धूम होगई। दान की धाराएँ तो ऐसी उमड़ी कि पाने वाले लोग भी लुटाने वाले बन गये। सुगन्धियों का कीच मच गया और घर घर बधाए बजने लगे। धन्य था वह राम-जन्म! बधाए के स्वरों में सराबोर गोस्वामीजी की ये पंक्तियां भी सुन लीजिये :—

ध्वज पताक तोरन पुर छावा, कहि न जाय जेहि भाँति बनावा।
सुमन वृष्टि आकाश ते होई, ब्रह्मानन्द मगन सब लोई।
वृन्द वृन्द मिलि चली लोगाईं, सहज सिंगार किये उठि धाईं॥
कनक कलस मङ्गल भरि थारा, गावत पैठहिं भूप दुआरा।
करि आरती निछावरि करहीं, बार बार सिसु चरनन्हि परहीं॥
मागध सूत बन्दि गन गायक, पावन गुन गावहिं रघुनायक।
सरबस दान दीन्ह सब काहू, जेहि पावा राखा नहिं ताहू॥
मृगमद चन्दन कुंकुम कीचा, मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा।

गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुसमा कन्द।
हरसवन्त सब जहँ तहँ नगर नारि नर वृन्द॥

सुराज्य

गोस्वामीजी ने लिखा है :—

रामवास बन सम्पति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाय सुराजा॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम-नियम सैल रजधानी। सान्ति सुमति सुचि सुन्दर रानी॥
सकल अङ्ग सम्पन्न सुराऊ। रामचरन आश्रित चित चाऊ॥
जीति मोह-महिपाल दल, सहित बिवेक भुवालु।
करत अकण्टक राज्य पुर, सुख सम्पदा सुकालु॥'

इन पंक्तियों में राजनीति का बड़ा अच्छा तत्त्व आ गया है।

राज्य-व्यवस्था के प्रधान अङ्ग राजा, रानी, अमात्य (मन्त्री या सचिव) राज्य-कोष, राज-सेना, राज्य अथवा देश और राजधानी। "स्वाम्यमात्य सुहृत्-कोष राष्ट्र दुर्ग बलानि च।" इस व्यवस्था का उद्देश्य है कण्टक बनने वाले आततायियों का उन्मूलन करना और इस तरह प्रजा को सब प्रकार सुखी तथा समृद्ध बनाना। चाहे वह एकतन्त्र हो, चाहे गणतन्त्र राज्य हो, सभी के सम्बन्ध में इन तत्त्वों पर विचार करने की आवश्यकता होती है। राजा के अर्थ में राष्ट्रपति, प्रजातन्त्रीय मन्त्री, कार्य पालनाधिकारी आदि सभी सम्मिलित हैं। मन्त्री के (सचिव के) अर्थ में प्रजातन्त्रात्मक सचिव तो हैं ही, साथ ही विधान-सभासद, संसद सदस्य, राजनीतिक दलों के पदाधिकारी आदि भी सम्मिलित हैं। रानी के अर्थ में राजा के स्नेही, उसके अवैतनिक सलाहकार, शासनतन्त्र से निरपेक्ष रहकर भी उसके परम हित की कामना वाले, राजा की सुविधाओं की व्यवस्था वाले, शासन को रूखा तर्कवादी होने से बचाने वाले आदि-आदि सब सम्मिलित हैं।

अब राज्य-व्यवस्था के एक-एक अङ्ग का मुलाहिजा कीजिए। गोस्वामीजी कहते हैं कि राजा को विवेक का अवतार होना चाहिए। वह मूर्त्तिमन्त विवेक हो। जिसके हाथ में शासनसूत्र है, उसका विवेक ही गड़बड़ा गया तो फिर सुराज्य की समाप्ति ही समझिये। विवेक ही उसका धर्म है। जो धर्मशील नर-नाथ है, उसके पास ही साम-दाम-दण्ड-भेद की नृप-नीतियाँ मुकुट-स्वरूप होकर रह सकती हैं। मानव-स्वभाव समता और विषमता के पेचीदे सम्मिश्रण से कुछ इस तरह का रहा करता है कि उसको नियन्त्रित रखने और साथ ही उन्नत

करते रहने के लिए विवेक की ही सबल भुजाएँ चाहिए। समता और विषमता वाले वर्णाश्रम-धर्म को प्रधानता देने वाला परम्परागत धर्म शास्त्र, या नये-नये कानूनों के रूप में युग-धर्म को अथवा देशकाल को प्रधानता देने वाला नव-निर्मित विधि-शास्त्र ही अकेला इस शासन-तन्त्र को चलाने के लिए पर्याप्त नहीं है। असली शासन तो शास्त्रों या शास्त्र-पंक्तियों से नहीं, किन्तु व्यक्तियों से चलता है। शास्त्र-वाक्य कितने भी अच्छे हों; किन्तु उनका प्रयोग करने वाले व्यक्ति यदि निकम्मे, चोर या घूसखोर रहे तो शासन केवल कागजी शासन रह जायगा। जैसे केवल शास्त्र से काम नहीं चल सकता वैसे ही शासक के केवल शील से भी काम नहीं चल सकता। बड़े-बड़े शीलवान शासक असफल होगये हैं, जब तक कि उन्होंने इस बात का भी प्रबन्ध नहीं कर लिया है कि उनके आदेशों से शासित की अभीष्ट-सिद्धि हो सकी है कि नहीं। चक्र के चक्रव्यूह में फँसकर बेचारा भगवान पण्डित भूतता को प्राप्त हो गया। छातों के दान का विचार रखने वाले राजा से यह कह दिया गया कि उसने राज्य में कोई अभावग्रस्त ही नहीं है। इसी तरह के ढेरों उदाहरण दिये जा सकते हैं। शासन-तन्त्र के प्रयोक्ता का विवेक ही वह तत्त्व है, जिसके द्वारा देशकाल-पात्र की पूरी परख हो सकती और किस परिस्थिति में क्या करना विशेष हितकर होगा, इसका निर्णय हो सकता है। दूर बैठकर यह निर्णय करना कठिन है। स्थानिक कर्मचारी अथवा 'मैन आन दी स्पाट' की इसीलिए इतनी महत्ता है। उसके विवेक को उचित सम्मान देना ही चाहिए। विवेकशील शासक की दृष्टि में बहुमत और अल्पमत का कोई विशेष मूल्य नहीं रहता, वह तो विवेक की तुला को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। जनमत को लोग अस्थिर कहा करते हैं। उस बालू पर भीत उठाकर कितना सुदृढ़ महल बनाया जा सकेगा ? विवेकशील शासक के लिए उत्तमोत्तम नियमोपनियम बनाते रहने का भी कोई विशेष मूल्य नहीं रहता। क्योंकि आखिर वह गहना किस काम का, जिससे अङ्ग फटे। उसका तो परम ध्येय यही होता है कि वह "पालइ पोसइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक।" गोस्वामीजी का यह दोहा—जिसमें वे कहते हैं "मुखिया मुख सो चाहिए खान-पान में एक, पालइ पोसइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक" राजधर्म-सर्वस्व बतलाने में बड़े मार्के का है। उसका भी इस प्रसङ्ग में स्मरण कर लिया जाय।

दूसरा तत्त्व है सचिवों का। जितने भी लोग पदेन परामर्शदाता हैं, चाहे वे प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य हों, चाहे राज्य-परिषद के सदस्य हों, चाहे सचिवालय के सदस्य हों, चाहे विविध राजनीतिक दलों के अधिकारी हों, वे

सब सचिव ही हैं। सचिवों को विराग की प्रतिमूर्ति अथवा उसका मूर्तिमन्त अवतार होना चाहिए यों तो राजनीति का अर्थ ही हो गया है—स्वार्थ या आत्मोदय; और इसलिए आजकल पूरे वेतनभोगी सचिवों को छोड़ कर शेष सब किसी न किसी स्वार्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु जिस किसी सलाह में सचिव का निजी स्वार्थ सन्निहित होगा अथवा जो सलाह वह अपने निजी स्वार्थ की प्रेरणा से देगा, वह कहाँ तक विवेकानुकूल होगी यह कहना कठिन है। अपने या अपने दल के स्वार्थ से वस्तुस्थिति को सामने रखना एक बात है और अनासक्त भाव से वस्तुस्थिति का विचार करके राय देना एक दूसरी ही बात है। पूर्वकाल में सचिव-मण्डल में ऐसे ही व्यक्ति रखे जाते थे जिनकी निःस्वार्थ सेवाओं का पूरा विश्वास हो चुकता था। इसे एक प्रकार से ब्राह्मणवर्ग कह सकते हैं। शासक-वर्ग अथवा क्षत्रिय-वर्ग इससे एकदम पृथक् था। शासक-वर्ग तो अब भी पृथक् रह सकता है और प्रायः रहता भी है; परन्तु उसके सचिव-वर्ग के लिए, विशेषतः अवैतनिक सचिव वर्ग के लिए, उनकी मर्यादा बाँधने वाले उपयुक्त नियम अभी तक बन नहीं पाये हैं इसलिए एक ओर वे अपने-अपने स्वार्थ भी अपने साथ चिपकाये रखते हैं और दूसरी ओर अपने को भी शासक मानकर समय-समय पर जब चाहे तब शासन में हस्तक्षेप किया करते हैं, जिससे शासन को अपने विवेक के प्रयोग का उन्मुक्त वातावरण नहीं मिलने पाता। सुराज्य के लिये यह सबसे बड़ी बाधा है।

अब तीसरा तत्व देखिये। "शान्ति सुमति शुचि सुन्दर रानी" रानी राजा की परम हितैषिणी, उसको सब तरह से प्रसन्न रखने वाली, उसके जीवन में सरसता लाने वाली, उसकी अवैतनिक सलाहकार, शासन से तटस्थ रहते हुये भी शासन के सम्बन्ध में समुचित परामर्श देने वाली, न्याय की कठोरता को दया की कोमलता से आर्द्र रखने वाली, स्नेह सिक्त वातावरण समृद्ध करने वाली होती है। इसलिए ऐसा दल भी शासन-व्यवस्था का एक आवश्यक अङ्ग है। संस्कृत के नीतिकारों ने उन्हें 'सुहृत्' की संज्ञा दी है। गोस्वामीजी ने रानी के भाव में उन्हें समाविष्ट कर लिया है। ऐसे दल में बाहरी और भीतरी दोनों तरह का सौन्दर्य आवश्यक है। व्यवहार का सौन्दर्य बाहरी है और विचारों तथा चारित्र्य का सौन्दर्य—दिमाग और दिल का सौन्दर्य—भीतरी है। 'सुमति' से विचार का सौन्दर्य, 'शुचि' से चारित्र्य का सौन्दर्य और 'सुन्दर' से रूप का अथवा व्यवहार का सौन्दर्य, लक्षित किया गया है। नारी की पूर्णता सुमति, शुचिता और सुन्दरता में ही है। राजा की रानी अथवा अर्धाङ्गिनी को, तथा राजा के सुहृदों को, शांति का मूर्तमन्त रूप होना चाहिए। विवेक मस्तिष्क

की वस्तु है और शान्ति हृदय की। राज्य-व्यवस्था बहुत विवेकपूर्ण हो, परन्तु फिर भी यदि वह हृदय को सन्तोष नहीं दे सकती, शासक के हृदय को और शासित के हृदय को भी; तो वह अधूरी ही है। जन सन्तोष के लिए कई अवसरों पर विवेकपूर्ण व्यवस्थाओं में भी हेरफेर करना पड़ जाता है। लोगों में शान्ति बनी रहे, यह शासन का मुख्य ध्येय रहता है। वह शान्ति भी मुर्दों की की सी न हो। वह जीवित-जाग्रत शान्ति हो, जो सद्विचार, सद्चारित्र्य और सद्व्यवहार को प्राणवान् करते हुए बनी रहे। शासक ऐसे लोगों से मेल जोल बढ़ावे जो 'सुमति-शुचि-सुन्दर शान्ति' के वर्धक हों। यों तो संसार में व्यर्थ की चिल्लाहट मचाने वालों और चाटुकारों की कमी नहीं है, परन्तु उनको बढ़ावा देते रहने से व्यर्थ की अशान्ति ही बढ़ती है। (इस प्रसङ्ग में नारी की महिमा का जो संकेत हो गया है, वह भी अवलोकनीय है।)

चौथा तत्व है राजकोष का। आजकल राजकोष का अर्थ माना जाता है—रुपया-पैसा तथा अस्त्र-शस्त्र। परन्तु क्या मानव-समाज का यही वास्तविक धन है? धन का असली अर्थ वह शक्ति है जिससे भविष्य की सुख-सुविधा खरीदी जा सके। क्या हम अस्त्र-शस्त्र से या रुपये-पैसों से ही भविष्य की सुख सुविधा खरीद सकते हैं? यदि ऐसा है तो रावण को किस बात की कमी थी। भविष्य की सुख-सुविधा 'कामार्थधर्म' में नहीं किन्तु 'धर्मार्थकाम' में निहित है, वह राष्ट्र के चारित्र्य में निहित है। राज्यव्यवस्था का वही सच्चा कोष है। यह चारित्र्य आस्तिक्य भाव के बल पर, चित्त में रामचरण-आश्रित रहने के चाव पर, विशेष रूप से निर्भर रहता है। अतएव सुराज्य के कोष की सर्वाङ्गीण पूर्णता इसी में है कि उसके चित्त का चाव रामचरणाश्रय के प्रति हो। "सकल अङ्ग सम्पन्न सुराऊ, रामचरन आस्रित चित चाऊ।" यह वह मूलस्रोत है, जिसका जल पाकर समृद्धि की सब नदियाँ उमड़ उठती हैं और जिन समृद्ध-सरिताओं में यह मूलस्रोत नहीं है, वे पूर्व-सुकृत का क्षणिक चमत्कार दिखाकर देखते-देखते अन्तर्धान हो जाती हैं। "सरित मूल जिन सरितन्ह नाहीं, समय गये पुनि जाहिं सुखाहीं।" जिस राज्य-व्यवस्था ने धर्म की परवाह न की, वह राष्ट्र की सामूहिकता की भी कब तक परवाह करेगी, अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र पर भी कहाँ तक दृढ़ आस्था रख सकेगी? मनुष्य का अनुचित गर्व ढहाने में, विद्वेष की सकरी सीमाएँ काटने में, प्रेम के विस्तार को विश्व बन्धुत्व तक ही नहीं, किन्तु विश्वात्मैक्य तक ले जाने में, मानव-जीवन के सच्चे ध्येय को सर्वोपरि रखकर उसे आगे बढ़ाने में, ईश्वर-निष्ठा से बढ़कर और कोई मूल्यवान् वस्तु नहीं। यह सच्चा कोष जिस व्यक्ति अथवा राष्ट्र के हाथ लग गया, वह भविष्य की सारी सुख-सुवि-

धाएँ खरीदने में पूरा सक्षम हो जाता है ।

पाँचवाँ तत्व है राज्य अथवा देश या राष्ट्र का। उसे न केवल सुहावन किन्तु पावन होना चाहिए । सुव्यवस्थित बसा हुआ राज्य सुहावन होता ही है और यदि उसमें पावन विचारधारा बहती हो तो उसे वास्तविक देश कहना चाहिए अन्यथा वह देश होते हुए विपिन है । और यदि विपिन को भी सुव्यवस्थित और पावन ढंग पर बसा दिया गया तो वही उत्तम देश बन जाता है। 'अवध तहाँ जहँ राम निवासू, तहँहि दिवस जहँ तरनि प्रकासू' । राज्यव्यवस्था ने यदि सुहावन देश को पावन न बनाया तो उससे लाभ ही क्या ! वास्तव में तो सुहावन देश वही है, जो पावन भी हो । जो देश का हाल है, वही राष्ट्र का भी समझिये । पूरा राष्ट्र ही व्यवहार में सुहावन हो और विचार तथा भाव में पावन हो तभी सुराज्य है ।

छठा तत्व है राजधानी । गोस्वामीजी ने लिखा है कि राजधानी शैल के समान होना चाहिए । संस्कृत के नीतिकारों ने इसे ही दुर्ग की संज्ञा दी है। प्रत्येक राज्य में एक केन्द्र तो ऐसा होना ही चाहिए जहाँ से सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था संचालित हो । उस केन्द्र का न केवल भौतिक स्तर किन्तु मानसिक स्तर भी ऊँचा होना चाहिए, जहाँ से चारों ओर के क्षेत्रों का भलीभाँति निरीक्षण हो सके । वह शैल या दुर्ग के समान सुदृढ़ और सारगर्भ हो । उससे निःसृत विचारों, भावों और साधनों के निर्झर पूरे राज्य के प्रदेश को (समूचे विपिन को) हरा-भरा रखें । शैल में जल-भाण्डार उसी विपिन से आता है—पृथ्वी में सूखकर अन्तर्निहित स्रोतों से होकर । परन्तु वह अलक्षित रहता है । वही जल-भाण्डार अनेक गुण अधिक होकर जन-कल्याण के लिए प्रवाहित होता है, जिसे दुनिया देखती है । (इस प्रसङ्ग में आय-कर व्यवस्था का जितना सुन्दर चित्रण मनु और कालिदास ने किया है, वह भी ध्यान में रखा जाने योग्य है ।)

सातवाँ तत्व है राजसेना । राज-व्यवस्था के लिए राजसेना रखना जरूरी रहता है । सेना न केवल बाहरी आक्रमण का प्रतिकार करती है, किन्तु आन्तरिक शान्ति भी बनाये रखती है जिससे किसी भी ओर से कोई विकृति न आने पावे । असली सेना वेतन भोगियों की नहीं रहा करती । सच्चा सैनिक वह है जो अनुशासन का पूर्ण व्रती हो और संयम का सच्चा धनी हो । यम और नियम के तत्वों से बढ़कर और कोई सैनिक शक्ति नहीं है जो किसी भी जन-समाज को भीतरी अशान्ति और बाहरी आक्रमणों सदा के लिए बचा सके । यम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । नियम हैं—तप शौच, सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान । देश काल के अनुसार इन

सैनिकों का क्या रूप तथा कैसा प्रशिक्षण रहे—यह देखना विवेक-रूपी नरेश का काम है, परन्तु यदि वह इस सैनिक-शक्ति को भलीभाँति संगठित रूप में बढ़ाकर नहीं रख रहा है तो न आन्तरिक अशान्ति दूर रख सकेगा, न बाहर के आक्रमण से ही अपने को या अपने राज्य को बचा सकेगा।

ऐसे राज्य का यदि कोई शत्रु हो सकता है तो वह है मानव स्वभाव में बरबस प्रवेश करने वाला—मोह। मोह ही को गोस्वामीजी ने सब व्याधियों का मूल कहा है। मोह ही के अवतार को उन्होंने रावण बताया है। विवेक का यदि कोई प्रबल प्रतिद्वन्दी हो सकता है तो वह है मोह। मोह के बल पर ही क्षुद्र स्वार्थ सिर उठाता है और समाज में काम, क्रोध, लोभ या रागद्वेष, आलस्य, अनाचार, अनास्था आदि के चक्र चलते हैं। ये ही सब उसके दल हैं—जिनके बल पर वह विवेक के सुराज्य पर आक्रमण करता रहता है। यदि विवेक के पास यम नियम के सैनिक प्रबल हैं, अनाशक्ति का सचिवत्व जाग्रत है, ईश्वरनिष्ठा का कोष भरपूर है, शान्ति का साहचर्य विद्यमान है तो वह मोह पर और उसके समूचे दल पर भी अवश्य विजय प्राप्त करेगा। मोह को इस प्रकार उसने पछाड़ दिया तो फिर उसका राज्य निष्कण्टक हो जायगा और वह अपने राज्य की सुख-सम्पति और सुकाल का पूरा प्रवर्तक बन जायगा।

सम्पदा बाहर का साधन है, सुख मन की स्थिति है, और सुकाल इन दोनों का संयोग कराने वाला है। सुराज्य में इन तीनों का सामञ्जस्य तो होना ही चाहिए। यह होगा तब, जब यम-नियम के द्वारा मोह परास्त किया जाय और विवेक, वैराग्य, ईश्वरनिष्ठा तथा जाग्रत शांति का उचित मूल्याङ्कन हो। यही गोस्वामीजी की सु-राज्य की कल्पना है। इसे ही आगे चलकर उन्होंने "रामराज्य" के रूप में दिखाया है।

चित्रकूट में भगवान राम ने निवास किया। उनके निवास करते ही बन की सम्पत्ति लहलहा उठी। मानों सुराज्य पाकर प्रजा प्रफुल्ल हो उठी हो। वहाँ शाँतिपूर्ण विवेक का साम्राज्य छा गया, वैराग्य का बोलबाला हुआ, यम और नियम के प्रचार से मोह सदलबल भाग खड़ा हुआ और पूरा विपिन सुहावन तथा पावन हो गया। सब में राम चरणाश्रित रहने का चाव खिल उठा। जहाँ प्रभु का निवास है—वहीं सुराज्य है। सुराज्य का प्रेमी प्रभु के इस निवास को पहिचाने, यही इस वर्णन में गोस्वामीजी का संकेत है। मुगलों की विदेशी सत्ता में सुराज्य के दर्शन करने हों तो प्रत्येक भारतीय अपने चित्त रूपी चित्रकूट में राम को बसा ले, यही उनका परोक्ष उपदेश था।

प्रभु-गीता

अगत्स्य ऋषि की सलाह पर अपने निवास के लिए भगवान राम ने जानबूझ कर पञ्चवटी का स्थान चुना। गोदावरी के निकट पर्णशाला बना कर वे वहाँ रहने लगे फुरसत के समय भाँति-भाँति की चर्चाएँ होना स्वाभाविक होता है। पञ्चवटी निवास के दिन "विराग ज्ञान गुन नीती" की चर्चा में बीतते थे। ऐसे ही एक दिन जब प्रभु राम सुख-आसीन थे तब लक्ष्मण ने प्रश्न किया "प्रभो! आप तो अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं परन्तु मैं इस समय समष्टि की भावना से नहीं किन्तु व्यष्टि की भावना से अपने निजी प्रभु से प्रश्न कर रहा हूँ। प्रश्न तत्त्व ज्ञान-विषयक है परन्तु उसका उद्देश्य केवल जिज्ञासा-तृप्ति नहीं किन्तु यह है कि "सब तजि करउँ चरन रज सेवा।" संसार से वैराग्य हो जाय और प्रभु-चरणों में दृढ़ अनुराग हो जाय। इसी उद्देश्य से प्रभो! पूछ रहा हूँ कि ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति (वह भक्ति जिसके कारण आपकी निर्हेतुकी दया प्राप्त हो जाती है) ईश्वर और जीव का अन्तर—यह सभी समझाकर कहिये जिससे आपके चरणों में रति हो और शोक मोह भ्रम तीनों चले जायँ।

समझाना वही सफल है जो अज्ञान के तीनों दर्जों को—सन्देह (जो शोक प्रद रहा करता है) भ्रम और मोह को—दूर कर दे। यही नहीं, किन्तु प्रभु के प्रति जीव की अनुराग-भावना भी पूरी तरह जगा दे। एक सच्चे जिज्ञासु जीव की भाँति लक्ष्मण ने छल हीन प्रश्न किये थे। अपने ही प्रश्नों के उत्तर जिसके पास स्वतः विद्यमान हैं वह छलहीन जिज्ञासु नहीं कहा जा सकता। जिज्ञासु तो वह है जो तत्वदर्शी के समक्ष अपने प्रश्न निष्कपट भाव से रखे और उसके उत्तरों को सम्यक् भाव से ग्रहण करके श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा उन उत्तरों का निचोड़ भलीभाँति हृदयङ्गम करने का प्रयत्न करे। भगवान् ने भी इसीलिये उत्तर में कहा 'सुनहु तात मति मनु चितु लाई'। मति या बुद्धि इधर-उधर भटकती रहे तो सुनना न सुनना एक बराबर है। मन एकाग्र न हो तो मनन क्या होगा और चित्त ग्रहणशील नहीं है तो निदिध्यासन क्या होगा। मन बुद्धि, चित्त तीनों की एकतानता हो तभी सम्यक् रूप से तत्वबोध हो सकता है। और ऐसा ही तत्वबोध समग्र जीवन को अपने साँचे में ढालकर रसमय बना सकता है।

उत्तर काण्ड में जब राम ने पुरवासियों को बुलाकर उन्हें कर्तव्य-पथ का बोध दिया है उस समय राम के लिये गोस्वामीजी ने "रघुनाथ" शब्द का प्रयोग किया है। रघुनाथ हैं एक जन समूह के स्वामी। अतएव रघुनाथ गीता हुई एक जन नेता की वाणी जो सर्वसाधारण के लिये कही गई है। यहाँ अरण्यकाण्ड में राम के लिये गोस्वामीजी ने प्रभु शब्द का प्रयोग किया है। प्रभु हैं अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी होते हुए भी प्रश्न कर्ता के निजी स्वामी। अतएव यह प्रभु-गीता सेवा भावी साधक के लिए ही कही गई है। रघुनाथ-गीता में यदि सार्वजनीन व्यवहार पथ स्पष्ट हुआ है तो प्रभु गीता में एकान्तिक साधना-पथ स्पष्ट हुआ है।

समझाना है व्यास-शैली का रास्ता और बुझाना (बोधगम्य अथवा बुद्धिगम्य करना) है समास शैली का रास्ता। यदि मति, मन और चित्त की एकतानता है तो समास शैली के संक्षिप्त उत्तर भी पर्याप्त हो जाते हैं। और यदि उनमें एकतानता नहीं है तो व्यास शैली के लम्बे-चौड़े उत्तर भी समझ के लिये पर्याप्त नहीं होते। राम जानते थे कि प्रश्नकर्ता लक्ष्मणजी सात्विक अधिकारी हैं। अतएव उन्होंने समझाने की पद्धति न अपनाकर बुझाने की पद्धति अपनाई और कहा—"थोरेहि में सब कहउँ बुझाई।"

सबसे पहिले माया को भलीभाँति जान लेना चाहिये। क्योंकि संसार में इसीका तो बोलबाला है। जीव निकाय को इसीने अपने वश में कर रखा है। उस जीव-निकाय में भेद दृष्टि स्थापित करने वाले जितने भी सम्बन्ध हैं—मैं-मेरा, और तू-तेरा वाले सम्बन्ध—वे सब माया हैं और उस जीव-निकाय के अतिरिक्त जगत में जो कुछ भी दृश्य अदृश्य जड़ वस्तु है वह सब माया है। इस तरह इन्द्रियों, इन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाले रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषय तथा मन की जितनी भी कल्पनाएँ हैं वे सब माया हैं। केवल मैं-मेरा भी एक तरह का द्वन्द्व है क्योंकि 'मेरा' जो कुछ है वह 'मैं' तो नहीं है। इसी प्रकार केवल तू-तेरा भी एक तरह का द्वन्द्व है। परन्तु ये द्वन्द्व सीमित द्वन्द्व नहीं हैं अतएव विद्यापरक द्वन्द्व हैं। ज्ञानी कह सकता है कि सब कुछ मैं ही मैं हूँ। भक्त कह सकता है कि सब कुछ तू ही तू है। परन्तु जो मैं-तुम तथा मेरा-तेरा के पूरे रूप मानता है वह खण्ड दृष्टि, भेद दृष्टि, सीमित द्वन्द्वात्मक दृष्टि का पूरा शिकार हुआ ही। यही दृष्टि तो असली माया है जिसके चक्कर में सम्पूर्ण जीव-निकाय पड़ा हुआ है। केवल मैं-मेरा वाला अपनी ही अर्थात् आत्मा की ही लीला सम्पूर्ण विश्व में विलसती देखेगा। केवल तू-तेरा वाला प्रभु की ही अर्थात् परमात्मा की ही लीला सम्पूर्ण विश्व में विलसती देखेगा। परन्तु जिसने मैं-तू को विषयों के दायरे

में बाँधकर संकीर्ण बना लिया और मेरा-तेरा के द्वन्द्व में फँसा वह भवकूप में पड़ने ही वाला है।

माया एक शक्ति है जिसे आदि-शक्ति भी कह सकते हैं, परन्तु सक्रियता के लिये उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। 'नहिं निज बलु ताके'। उसका जो कुछ कर्तव्य है वह प्रभु की प्रेरणा से समझिये। 'प्रभु प्रेरित नहिं निज बलु ताके'। चैतन्य जीव ईश्वर का अंश माना गया है इसलिये जीव में भी माया-शक्ति का अंश रहता ही है। इसलिये ईश्वर की माया के अतिरिक्त देवों की माया राक्षसों की माया और मनुष्यों की माया भी मानी गई है। एक माया वह है जो त्रिगुणात्मिका होकर सृष्टि स्थिति प्रलय के जगद्व्यापार चलाती है। अथवा यों कहिये कि जिसके गुणों के वश यह संसार बनता है। इसे विद्या माया समझिये। दूसरी माया वह है जिससे भेद बुद्धि अथवा खण्ड दृष्टि को प्रश्रय मिलता है और जीव भवकूप में पड़ जाता है। यह दुष्ट और अतिशय दुःख रूप है। इसे ही अविद्या माया समझिये। मूलतः यह भी भले ही प्रभु की माया का अंश हो परन्तु इसके लिये प्रधानतः उत्तरदायी है जीव ही।

अब ज्ञान और वैराग्य का रहस्य प्रभु ने बताया। ज्ञान वह है जिसमें माया के एक भी रूप का मान न हो क्योंकि वह तो सब में समाये हुये ब्रह्म को देखता है। "ज्ञान मान जहँ एकहु नाहीं, देख ब्रह्म समान सब माहीं।" ज्ञान के साधन हैं इन्द्रियों सहित मन, बुद्धि और चित्त। अतएव अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैव सभी कुछ ज्ञान के अन्तर्गत हैं। ब्रह्म, ब्रह्म के अंश रूप जीव-निकाय, माया के दोनों रूप अर्थात् परमार्थ और व्यवहार, सभी कुछ ज्ञानगम्य हैं। ज्ञान केवल विषयात्मक ज्ञान ही नहीं। वह केवल तर्कात्मक ज्ञान भी नहीं। अनुभवात्मक अथवा भावात्मक अथवा स्वतः स्फूर्त सहज अतीन्द्रिय ज्ञान भी ज्ञान ही है। परन्तु असली ज्ञान वह है जिसमें समग्र तत्व का अखण्ड दर्शन हो। अतएव असली ज्ञान वह होगा जो यह दर्शन करादे कि सब में एक ही चैतन्य तत्व समाया हुआ है। वह इस अभेद दृष्टि को स्वभावतः ही प्रधानता देगा। माया के उभय रूपों का भान उसे अवस्था विशेष में हो जाय परन्तु उन्हें मान देने की प्रवृत्ति उसमें रह ही न जायगी। वह माया के प्रति अनासक्त हो जायगा। उसके लिये मानों माया है ही नहीं। कौन वस्तु चिरंतन है अथवा नित्य है तथा कौन वस्तु अनित्य अथवा क्षणभंगुर है, कौन वस्तु हमारे लिये कल्याणप्रद है तथा कौन वस्तु अकल्याणकारिणी होकर केवल मात्र मोह जाल का सृजन करने वाली है, कौन वस्तु अभेद दृष्टि देकर शान्ति और आनन्द के उत्स खोल देती है तथा कौन वस्तु भेद दृष्टि देकर भवकूप में ढकेल देती है, यह

जिसने स्पष्ट जँचा न दिया वह ज्ञान ही कैसा ? साधक जिज्ञासु तो ऐसे ही ज्ञान का अभिलाषी होगा । उसे कोरे व्यवहार ज्ञान से क्या मतलब ! उसे माया के भान से भी क्या मतलब !

अब असली वैराग्य क्या है ? इस पर विचार कीजिये कि सत् रज तम के त्रैगुण्य से ही यह संसार बना हुआ है । जिसे इस त्रैगुण्य के रहस्य का ज्ञान हो जाय वह सकल सिद्धियों का स्वामी हो सकता है । पत्थर को हीरा बना लेना, हवा में उड़ चलना या अन्तर्धान हो जाना, दूसरे के चित्त का हाल जान लेना या उसकी काया में प्रवेश कर जाना भाँति भाँति के दिव्यास्त्र प्राप्त करके संसार में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेना, इत्यादि इत्यादि ये सब भौतिक सिद्धियाँ ही तो हैं जिनका मूलाधार है माया का वही त्रैगुण्य । इन सिद्धियों से कुछ काल के लिये सीमित ऐश्वर्य अथवा प्रभुत्व भले ही मिल जाय परन्तु क्या इनसे वह असीम अविनश्वर पद प्राप्त हो सकता है जिसमें अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्द है ? वह पद तो प्रभु की प्राप्ति ही पर मिल सकता है । प्रभुता प्राप्ति का मार्ग अलग है और प्रभु प्राप्ति का मार्ग अलग है । प्रभु प्राप्ति के बाद प्रभुता की प्राप्ति भी अनायास हो जाय यह बात दूसरी है । परन्तु साधक तो अनन्त शान्ति तथा अनन्त आनन्द चाहता है, वह तो अपना शोक, मोह, भ्रम हटाना चाहता है, वह तो दिव्य अनुराग की मस्ती चाहता है, अतएव वह तो प्रभु प्राप्ति के मार्ग ही को सब कुछ मानता हुआ प्रभुता प्राप्ति के मार्ग से एकदम दूर रहेगा । उसके पास यदि त्रैगुण्य की कुछ सिद्धियाँ अनायास आ भी जायँ तो उन्हें वह तृण के समान तुच्छ ही मानकर आगे बढ़ेगा । जो प्रभु-प्राप्ति में बाधक हो सकें उन सिद्धियों की ओर उसका आकर्षण रह ही कैसे सकता है ? बड़े बड़े दैत्यों ने क्या कुछ कम सिद्धियाँ प्राप्त की थीं परन्तु क्या परिणाम हुआ उनका । अतएव सच्चा वैराग्य वह है जो त्रैगुण्य की समूची सिद्धियों को तृण की तरह त्याग दे । 'कहिय तात सो परम विरागी, तिनु सम सिद्धि तीन गुन त्यागी ।

ईश्वर-जीव-भेद की बात प्रभु ने इस प्रकार समझाई 'माया ईश न आपु कह, जान कहिय सो जीव' । जीव वह है जो अपने को माया का ईश न जाने अथवा जो माया, ईश (ब्रह्म) और आत्मतत्त्व (आपु कहँ) भली भाँति न समझ पाया हो । और, "बन्धमोच्छप्रद सर्वपर माया प्रेरक सीव" अर्थात् शिवतत्त्व (ईश्वर तत्व) वह है जो सर्वपर (सबसे परे अथवा सबसे श्रेष्ठ) होते हुए, माया का तो प्रेरक है और जीव का बन्धमोक्षप्रद है । जीव और ईश्वर में चाहे तात्विक भेद हो चाहे न हो, परन्तु साधना की दृष्टि से व्यावहारिक भेद तो है ही । ब्रह्म,

ईश्वर, विष्णु, शिव में शब्दार्थ भेद लोग लगाते रहें परन्तु साधक की दृष्टि से तो वे एक ही तत्व के अनेक नाम होंगे। ब्रह्म के कर्तृत्व को लोग भले ही केवल व्यावहारिक सत्य कहदें और जीव के बन्धन का कारण जीव विषयक माया ही को मानलें परन्तु साधना की दृष्टि से सर्वपर इष्ट ब्रह्म को मोक्षप्रद तो मानना ही होगा और जब वही माया-प्रेरक है तो निश्चय ही वह बन्धप्रद भी कहा ही जायगा। इसे आप उसकी व्यावहारिक सत्ता समझ लें अथवा पारमार्थिक सत्ता परन्तु बन्धमोक्षप्रद सर्वपरता और माया प्रेरकता एक मात्र उसी के साथ सम्बद्ध है यह निश्चित है। जीव और ईश्वर का यही भेद है।

वैराग्य एक अभावात्मक अवस्था है—एक आसक्तिहीनता की अवस्था है—इसलिए वह अकेले अपने में मोक्षप्रद नहीं कही जा सकती। उसे ज्ञान की प्रतिच्छाया मान सकते हैं। ज्ञान एक भावात्मक अवस्था है; अतएव वैराग्य नहीं किन्तु ज्ञान ही मोक्षप्रद कहा गया है। भक्ति है मोक्षप्रद प्रभु को शीघ्रातिशीघ्र द्रवित कर लेने की भावधारा। "जाते बेगि द्रवहुँ मैं भाई, सो मम भगति भगत सुखदाई।" जब मोक्षप्रद प्रभु ही द्रवित हो गये तब इस मार्ग द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेना बाँये हाथ का खेल समझना चाहिए। यह तो ऐसी भावधारा है जो उभयपक्ष एक साथ सँभालती चलती है। इधर साधक को आरम्भ से ही मस्ती का सुख देने लगती है और उधर इष्ट आराध्य को शीघ्रातिशीघ्र द्रवित करने का भी उपक्रम कर लेती है। ज्ञान आदि अन्य मार्गों में यह बात कहाँ। भक्ति का यह सुखमूल मार्ग अनुपम भी है सुगम भी है और अनन्याश्रित स्वतन्त्र मार्ग भी है। प्रभु का कारुण्य पा लेने का यही तो एक मार्ग है। भक्ति का भावोद्रेक ज्ञान-विज्ञान के ऊहापोह पर निर्भर नहीं, प्रत्युत ज्ञान-विज्ञान ही उस पर निर्भर है—उसके अधीन है। भाव उमड़ा कि ज्ञान हो ही जायगा, हृदय सरस हुआ तो विचारों में हरियाली आही जायगी। परन्तु दुनिया भर का तर्क जाल, यदि वह कोरा तर्क जाल ही है तो, हृदय को न तो एक इञ्च भर की विशालता दे सकता है न एक बूँद भी दिव्य सुख का सुरस चखा सकता है।

धर्म ही वैराग्य प्राप्ति का प्रधान साधन है। धर्माचरण करते-करते मनुष्य में सांसारिक वस्तुओं से अनासक्ति होना स्वाभाविक हो जाता है। इसी प्रकार योग ही ज्ञान प्राप्ति का प्रधान साधन है। 'धर्म तें विरति योग तें ज्ञाना' योग का अर्थ हठयोग ही नहीं है। ध्यान की एकाग्रता भी योग है क्योंकि वह ध्येय अथवा लक्ष्य के साथ हमारा वैचारिक, बौद्धिक अथवा मानसिक योग तो करा ही देती है। हम यदि ध्यान ही न देंगे तो हमें किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता। ध्यान की एकाग्रता जितनी तीव्र होगी ज्ञान का प्रकाश भी

उतना ही स्पष्ट होता जायगा। अतएव 'योग तें ज्ञाना' कहा गया। अब रही भक्ति-प्राप्ति के प्रधान साधन की बात सो उसके लिए सत्सङ्ग अथवा सन्तों की अनुकूलता को ही एक मात्र प्रधान साधन समझना चाहिए। यदि भक्ति के साधनों को 'बखान' कर बताना हो तो इस प्रकार कह सकते हैं कि सबसे पहिले तो विप्रचरणों में अति प्रीति होनी चाहिए तथा शास्त्रोक्त स्वकर्मों में अनुरक्ति होनी चाहिए। (मनुष्य कुछ न कुछ कर्म किये बिना रह नहीं सकता और शास्त्रज्ञाता, तथा परम्परागत संस्कृति के संरक्षक विप्रों द्वारा ही भारतीय हिन्दू को अपने-अपने अनुकूल सत्कर्मों का बोध तथा उनके प्रति प्रेरणा मिल सकती है। अतएव उनसे प्रेरणा प्राप्त करके सत्कर्म करते रहना चाहिए।) इसका फल होगा विषयों से वैराग्य और तब उपजेगा प्रभु के चरण-कमलों में अनुराग। इस अनुराग के कारण श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नामक नवों प्रकार की भक्तियाँ दृढ़ होंगी। यही नहीं; प्रभु की लीला में तीव्र रति उत्पन्न होगी, सन्त चरण पङ्कज में अति प्रेम उत्पन्न होगा, मन, वाणी, क्रिया द्वारा भजन में दृढ़ नियम आ जायगा, गुरु, पिता, माता बन्धु, पतिदेव सब में परमात्म दर्शन होने लगेगा, सेवा भावना दृढ़ हो जायगी, प्रभु गुणगान करते ही सात्विक अनुभव अर्थात् रोमाञ्च, गद्गद् कण्ठ और अश्रु-प्रवाह आप ही आप होने लगेंगे, कामक्रोधादि का न तो मद रह जायगा न दम्भ, निष्काम भजन होने लगेगा और साधक मनसा वाचा कर्मणा प्रभु-परायण बन जायगा। जो साधक इस प्रकार हो जाय उसी के हृदय कमल में प्रभु का निरन्तर वास रहता है यह समझ लेना चाहिए।

श्रवणादिक नवधा भक्ति का क्रम तो परम्परा से चलता ही आ रहा है। एक दूसरे प्रकार की नवधा भक्ति वह है जो प्रभु ने शबरी को बताई है। उसमें जन-सेवा और जनार्दन सेवा का समान मान है। वहाँ की पंक्तियों को यहाँ की पंक्तियों से मिलाकर पढ़िये तो आनन्द आ जायगा। देखिये—"प्रथम भगति सन्तन कर संगा" = "सन्त चरन पंकज अति प्रेमा"। "दूसरि रति मम कथा प्रसङ्गा" = "मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा"। "गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान" = "गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा दृढ़ सेवा"। "चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान" = "मम गुन गावत पुलक सरीरा, गदगद गिरा नयन बह नीरा"। "मन्त्र जाप मम दृढ़ विस्वासा, पंचम भजनु सो वेद प्रकासा" = "मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा"। "छठ दम सील विरति बहु कर्मा, निरत निरन्तर सजन धर्मा" = "काम आदि मद दम्भ न जाके, तात निरन्तर बस मैं ताके"। "सातवँ सम मोंहि मय जग देखा" = "गुरु पितु मातु

बन्धु पति देवा, सब मोहिं कहँ जानइ" । "आठवँ जथालाभ सन्तोषा, (सपनेहु नहिं देखइ पर दोसा)" = "भजन करहि निहकाम ।" "नवम (सरल सब सन छल हीना) ।" मम भरोस हिय हरस न दीना = "बचन करम मन मोरि गति ।"

शबरी के प्रति कही हुई यह नवधा-भक्ति सर्वसाधारण के काम की है । भागवत की कही हुई श्रवणादिक वाली नवधा-भक्ति-अधिकारी साधकों के काम की है । प्रभु ने अपने भक्तियोग में बखाने हुए जिस प्रधान साधन का उल्लेख किया उसके द्वारा दोनों प्रकार की नवधा भक्तियाँ अनायास दृढ़ हो जाती हैं । अतएव उसे कभी न भुलाना चाहिए । वह है अपने सांस्कृतिक नेताओं पर श्रद्धा रखते हुए स्वकर्म निरत हो जाना । ऐसा करने से यदि विषयों के प्रति विराग और प्रभु के प्रति अनुराग उत्पन्न होने लगे तो समझना चाहिए कि हमारा वह साधन सफल हो रहा है अन्यथा यह समझ लीजिये कि उसमें कहीं न कहीं त्रुटि अवश्य है ।

यही वह भक्तियोग था जिसे सुनकर लक्ष्मणजी अत्यन्त सुखी हुए थे (अति सुख पावा) और कृतकृत्य होकर "प्रभु चरनन्हि सिरु नावा' । इस भक्ति योग के लिये सन्तों की अनुकूलता प्राप्त करनी चाहिए और एतदर्थ 'विप्रचरन अति प्रीती' रखते हुए 'स्वकर्म निरत स्तुतिनीती' हो जाना चाहिए ।

परमार्थ पथ के तीन पहलू हैं वैराग्य (धर्म अथवा कर्ममार्ग), ज्ञान और भक्ति । भक्ति पथ तीनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं । इसीसे प्रभुप्राप्ति होती है जिससे मोक्ष भी मिल सकता है और प्रेमानन्द भी । माया सत् है कि असत्, ब्रह्म निर्गुण है कि सगुण अथवा निष्क्रिय है कि सक्रिय, जीव ब्रह्म भी हो सकता है कि नहीं, इन प्रश्नों पर दार्शनिकों के बड़े विवाद हैं । अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की इन उलझनों से प्रभुगीता एकदम मुक्त है । वह तो साधक भक्त-जिज्ञासु के समाधान के लिये कही गई है । वह समझाकर नहीं किन्तु बुझाकर कही गई है । अधिकारी भेद से साधकगण चाहें तो उसका द्वैतपरक अर्थ समझ लें, चाहे विशिष्टाद्वैतपरक और चाहें तो अद्वैतपरक । काम की बातें सभी कुछ तो हैं उसमें ।

वर्षा और शरद्

मानस के एक दोहे का मतलब है पूर्व की चोपाइयाँ और अन्त का दोहा। चौपाइयों में प्रायः कथा का प्रवाह है और दोहों में प्रायः उसको क्षणिक विश्रान्ति है। विश्रान्तियुक्त कथा-प्रवाह के एक समूह को एक दोहा कह दिया जाता है।

प्रवर्षण गिरि पर भगवान् राम को अपना चतुर्मासा बिताना पड़ा था। सुग्रीव ने वचन दिया था कि वह सीता का पता लगवायेगा, इसी प्रतीक्षा में राम उस पर्वत पर रुके रहे थे। वे चारों महीने थे सावन, भादों, क्वार और कार्तिक के। सावन, भादों तो ठेठ वर्षा के महीने ठहरे। क्वार, कार्तिक को शरद के महीने कहा जा सकता है। इन चार महीनों के प्राकृतिक वर्णन के लिये प्रधानतः चार ही दोहों का विस्तार किया गया है। पहिले दोहे में सावन की छटा है, दूसरे में भादों की, तीसरे में क्वार और चौथे में कार्तिक की। पहिले दोहे में वर्षा का क्रम है, दूसरे में उसका परिणाम है, तीसरे दोहे में शरदागम का लक्षण है और चौथे में उसकी प्रौढ़ता का परिणाम है।

वर्षारम्भ में बादल उमड़-घुमड़ कर आकाश में छा जाते हैं, वे गरजते हैं बिजली चमकाते हैं और पृथ्वी के समीप आकर बरसने लग जाते हैं। उनकी पहिली बूँदें ऊँचे पहाड़ों पर गिरती हैं जिनके समाहार से छोटी-छोटी निर्भरियाँ वेग से ढल चलती हैं। जमीन की धूल के संसर्ग से वह पानी गदला हो जाता है। यह पानी धीरे-धीरे तालाबों में भरता और नदी-नद के मार्ग से होता हुआ समुद्र तक पहुँच जाता है। यही तो वर्षा का क्रम है जो पहिले दोहे में चित्रित किया गया है।

पानी बरसते रहने का परिणाम यह होता है कि पगडण्डियाँ भी तृण से आच्छादित हो जाती हैं, दादुरों का शोर बढ़ जाता है, तरह-तरह के पेड़ों में नये पत्ते निकल आते हैं। यद्यपि आक और जवास के पत्ते वर्षा में पनपते नहीं किन्तु झड़ जाया करते हैं) और धूल कहीं ढूँढ़ने को नहीं मिलती। पृथ्वी शस्य-सम्पन्न हो जाती है। रातें घनी अँधेरी रहा करती हैं जिनमें जुगुनुओं का ही प्रकाश टिमटिमाता रहता है। जलप्रवाह के प्रबल वेग से क्यारियों के बाँध टूट जाया करते हैं किन्तु किसानों की चतुरता तो इसी में है कि वे समय रहते घास फूस अलग कर दिया करें। वे ऐसा करते भी हैं। चकवा आदि पक्षी इन दिनों

अन्यत्र चले जाया करते हैं। ऊसर फिर भी ऊसर ही बना रहता है। उसमें तृण तक नहीं जमने पाते। पृथ्वी तरह-तरह के कीड़ों-मकोड़ों से भर उठती है और भाँति-भाँति के यात्रीगण इस अवसर पर अपनी दौड़-धूप बन्द कर दिया करते हैं। कभी हवा तेजी से बहकर मेघों को उड़ा ले जाती है और कभी दिन का उजेला घने बादलों के प्रभाव से आप ही उड़ जाता है।

जैसे वर्षा काल सावन में परम सुहाया था वैसे ही शरद ऋतु क्वार में परम सुहाई बन गई है। पृथ्वी में सफेद कास फूल गई है मानों बुढ़ा गई वर्षा के सफेद बाल छिटक गये हों। अगस्त्य तारे ने उदित होकर पन्थ के जल को सूखा कर दिया है, मानो अगस्त्य ऋषि बनकर वह उसे भी पी गया हो। नदियों और तालाबों में अब निर्मल जल शोभित हो रहा है। यह पानी अब धीरे-धीरे सूखता भी जा रहा है। शरद ऋतु का आगमन जानकर अब खंजन पक्षी लौट आये हैं। न पृथ्वी में अब कीचड़ है न धूल है। पानी के सूखते जाने से अब डबरों की मछलियाँ कुछ अड़चन में भी पड़ गई हैं। मेघहीन आकाश अब शोभायमान जान पड़ता है। हाँ यह अवश्य है कि कभी-कभी थोड़ी शारदी वृष्टि भी हो जाया करती है। तपस्वी ब्राह्मण, विजयेच्छुक क्षत्रिय, व्यवसायी वणिक और शूद्रतुल्य भिक्षाजीवी मंगन इस शरद ऋतु को पाकर बड़ी प्रसन्नता से नगरी के अपने-अपने मुकाम त्याग कर आगे बढ़ चले हैं। शरदागम के ये ही तो लक्षण हैं। काँस फूल जाय, अगस्त्य तारा उदित हो जाय, पथ सूखे होजायँ नदियों और तालाबों का जल निर्मल होकर धीरे-धीरे सूखने लगे, खंजन पक्षी दिखाई दें तो समझिये कि शरद ऋतु आगई।

इस ऋतु के शुभागमन का परिणाम यह हुआ है कि जो अगाध जलाशय हैं वे एकदम निर्मल हो गये हैं। अतएव वहाँ की मछलियाँ सब प्रकार सुखी होगई हैं। तालाबों में कमल फूल उठे हैं। भौंरों और पक्षियों की ध्वनियाँ अनुपम सुन्दरता से युक्त हो गई हैं। चक्रवाक अब दिखाई पड़ने लगा है। परन्तु तारों-भरी रात उसे पसन्द नहीं आरही है। इसी तरह, इतने जलसाधनों के रहते हुए, चातक भी अब तक प्यास-प्यास रट रहा है। रात का चन्द्रमा शरदातप की तीव्रता को दूर करता जा रहा है और अब उस चन्द्रमा में ऐसी अपूर्व कान्ति आगई है कि चकोरों की टकटकी लग जाया करती है। शरद के शैत्य के कारण अब तो मच्छरों के डाँस भी समाप्त हो गये। यही क्यों वर्षा के कारण जो तरह-तरह के कीड़े मकोड़े बढ़ गये थे शरदऋतु के कारण वे सब भी हट गये हैं। यह है शरद के उत्तरार्ध का वर्णन।

जब सुग्रीव को राज्य मिला उस समय वर्षागम समीप था इसलिये वर्षा में खोज ढूँढ़ होना कठिन जान कर राम ने कुछ दिन विश्राम कर लेना ही उचित समझा था। उन्होंने सुग्रीव से कह दिया कि—"अङ्गद सहित करहु तुम्ह राजू" परन्तु यह चेतावनी भी दे दी थी कि—"संतत हृदय धरेहु मम काजू।" विश्राम के उस अवसर पर उनका कालक्षेप स्वबन्धु से भाँति-भाँति की "भगति, विरति, नृपनीति, विवेका" युक्त "अनेका कथा" कहने ही में होता था। वर्षा और शरद का वर्णन भी ऐसे ही प्रसङ्गों में किया गया है। परन्तु उन्हें सीता की स्मृति भूल गई हो ऐसी बात न थी। वर्षागम में उन्होंने मोरों की मस्ती देखी। तापतप्त मयूर मेघों के दर्शनमात्र से भावी सुख की आशा में थिरक रहे हैं। किन्तु अपहरण के सन्ताप से तप्त सीताजी की क्या स्थिति हो रही होगी? उनको आशा बँधाने वाला कौन होगा? उनके भय की कल्पना से राम का मन भी भयविह्वल हो उठा होगा और वे 'प्रिया हीन डरपत मन मोरा' कह उठे। 'प्रियाहीन डरपत मन मोरा के अनेक अर्थ हैं। जो मोर प्रिया हीन हैं वे डर रहे हैं। अथवा जब मोड़ा हुआ मन (संसार से विरक्त बनाया गया सन्तों का मन) भी मेघ गर्जना के समय अपने को प्रियाहीन मान कर भयभीत हो उठता है तब लौकिक अनुराग से भरे विरही मन का क्या कहना। यदि यह माना जाय कि "भगति विरति, नृपनीति, विवेका" के प्रसङ्ग में वर्णित वर्षा-वैभव आत्म-निरपेक्ष ढङ्ग पर कहा गया है तो समझिये कि बादल का बरबस मोड़ा हुआ मन स्वतः अपनी प्रिया की अनुरागहीनता के कारण भयविह्वल हो रहा है क्योंकि दामिनी उसके पास ठहर ही नहीं रही है। इसीलिये वह व्यथा में घोर गर्जना कर रहा है।

शरद ऋतु की निर्मलता में राम ने देखा कि अब तो लोग हर्षयुक्त होकर प्रस्थान कर रहे हैं। न मच्छरों का कष्ट न कीड़े मकोड़ों का डर। इसलिए अब तो सुग्रीव को सीतान्वेषण सम्बन्धी अपने कर्तव्य का विचार करना ही चाहिए। बस, वहीं से वर्णन का क्रम पलट गया है।

जब तक वर्षा और शरद् की प्राकृतिक 'परम सुहाई' छटा का वर्णन चलता रहा तब तक 'भगति, विरति, नृपनीति, विवेका' की विचारधारा भी बराबर अपना कार्य करती रही। प्रकृति के प्रत्येक व्यापार में राम को विवेक वैराग्य भक्ति और नृपनीति के सिद्धान्त मूर्तिमन्त होकर दिखाई पड़े। मनुष्य बाह्य वस्तुओं का मूल्याङ्कन अपने ही मनोभावों के अनुसार तो करता है। व्यापार-सादृश्य के कारण वे वस्तुएँ बरबस ही मनुष्य की भाव-स्मृतियों को जागृत करतीं और वह उन स्मृतियों को उपमान के रूप में प्रयुक्त कर बैठता है।

राम ने भी वही किया है। अतएव उनके इस वर्णन में "भगति विरति नृपनीति विवेका" के तत्वों को भलीभाँति समझने के लिये प्राकृतिक व्यापारों का हमें अच्छा सहारा मिल जाता है। हम चाहें तो उपमेय और उपमान का क्रम बदलकर सैद्धान्तिक तत्वों को उपमेय और प्राकृतिक व्यापारों को उनके उपमान मानलें। ऐसा करने से हमें उन तत्वों को हृदयङ्गम करने में बड़ी सुविधा हो जायगी।

इस वर्णन में राम ने उपमानों के रूप में बता दिया है कि (क) द्विज, सन्त, गुरु, हरि और शङ्कर की सेवा प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक है (ख) १—वर्णाश्रम क्या है (वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई। नीति निपुन नृप कै जसि करनी, उपकारी की सम्पति जैसी इ० अथवा सद्गुरु मिलें ताहि जिमि संसय भ्रम समुदाय, गृही विरतिरत हर्ष जिमि साधक मन जस मिले विवेका, जिमि इन्द्रियगन उपजें ज्ञाना इ०) २—माया जीव ब्रह्म के लक्षण क्या हैं (जनु जीवहिं माया लपटानी, होइ अचल जिमि जिव हरि पाई, निर्गुण ब्रह्म सगुण भये जैसा इ०) ३—सन्तों, खलों तथा बुधों और अबुधों को कैसे पहिचाना जाय (खल के वचन सन्त सह जैसे, जिमि हरिजन हिय उपज न कामा, सन्त हृदय जस गत मद मोहा, हरिजन इव परिहरि सब आसा, खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं, जस थोरेहि धन खल बौराई, जिमि दुर्जन पर सम्पति देखी, जथा नवहिं बुध विद्या पाये, जिमि बुध तजहिं मोह मद माना, अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना इ०) (ग) कर्मज्ञान उपासना किस प्रकार की हो (क्रोध रहित कर्म हो काम रहित भक्ति हो, तथा साधन सहित विवेक हो) और ऐसी साधना का फल क्या हुआ करता है (होइ अचल जिमि जिव हरि पाई इ०) (घ) व्यवहार नीति के तत्त्व क्या हैं। (जिमि सद्गुन सज्जन पहँ आवा, जिमि पाखण्ड विवाद तें लुप्त होहिं सद्ग्रन्थ, करइ क्रोध जिमि धर्महिं दूरी, जस सुराज खल उद्यम गयऊ, उपकारी की सम्पति जैसी, जिमि स्वतन्त्र भये बिगरहिं नारी, कलिहिं पाइ जिमि धर्म पराहीं, जिमि कुपूत के उपजे कुल सद्धर्म नसाहिं, विनसइ उपजइ ज्ञान जिमि पाइ कुसङ्ग सुसङ्ग, जिमि लोभहिं सोखइ सन्तोषा, ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी, जिमि हरि सरन के एकउ बाधा सन्त दरस जिमि पातकु टरई सदगुरु मिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाय इ०) ये ही वस्तुएँ तो "भगति, बिरति, नृपनीति, बिवेका" की अङ्गरूपा हैं। भगवान राम के मन में इन बातों की प्रधानता थी इसलिए प्राकृतिक तथ्यों ने क्रिया सादृश्य के कारण इनकी ओर उनका ध्यान खींचा। जिन लोगों के मन में चिरन्तन सत्य के ये अङ्ग स्पष्ट नहीं हैं वे प्रति वर्ष अनुभूत वर्षा और शरद के व्यापारों को भली-भाँति लक्ष्य में लाकर उनके सहारे इन्हें सरलतापूर्वक हृदयङ्गम कर सकते हैं।

राम ने केवल तटस्थ होकर ही प्राकृतिक व्यापार नहीं देखे थे। उन्होंने उनमें रस भी लिया था। वर्षा और शरद के व्यापार एक दूसरे के विपरीत थे। यदि वर्षा में 'डाबर पानी' था तो शरद् में 'निर्मल जल सोहा' था। यदि वर्षा में 'क्षुद्र नदी भरि चली तोराई' थी तो शरद में 'रसरस सूख सरित सर पानी' की बात थी। यदि वर्षा में 'विविध जन्तु संकुल महि भ्राजा' थी तो शरद में 'भूमि जीव संकुल रहे, गये सरद् ऋतु पाय'। यदि वर्षा में 'जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना' तो शरद में 'चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि'। फिर भी दोनों ही ऋतु अपने अपने अवसर पर 'परम सुहाई' थीं। यह श्रीरामजी ने कहा है। जिन वस्तुओं में उनका मन विशेष रमा है उन्हीं का उन्होंने उल्लेख किया है। यह उल्लेख भी केवल सूची गिनाना मात्र नहीं किन्तु 'भगति बिरति नृप नीति बिवेका' के भावों की अभिव्यक्ति के लिये था जो सादृश्य के कारण उन प्राकृतिक व्यापारों द्वारा उकसाये गये थे। प्रकृति के 'सोहे' अथवा परम सुहाये' रूपों में उनका मन रमा था, प्रकृति की चेतन सत्ता के मानवीकरण की बात कहते हुए उन्होंने ऋतुओं का आना और वर्षा का बुढ़ापा भी बताया है, प्रकृति को आध्यात्मिक संकेत एवं संदेश देने वाली तो उन्होंने अपने उपमानों द्वारा बताया हो है। जो लोग समझते हैं कि प्रकृति-प्रेम विशेषतः पश्चिम की देन है और आलम्बन रूप में विशेषतः पश्चिम ने ही उसे देखा है वे मानस के इस प्रसङ्ग की ओर भी ध्यान देने की कृपा करें।

यह केवल गोस्वामीजी की सूझ बूझ थी, ऐसी बात भी नहीं है। इसी प्रकार का वर्षा तथा शरद वर्णन श्रीमद्भागवत तथा कतिपय अन्य संस्कृत ग्रन्थों में भी हुआ है। सम भावों के लिये निम्नलिखित श्लोक देखे जावें :—

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णाः यथाच्युत जनागमे॥
न बबन्धाम्बरे स्थैर्यं विद्युदत्यन्तचञ्चला।
मैत्रीव प्रवरे पुंसि दुर्जनेन प्रयोजिता॥
व्यालम्बमाना जलदा वर्षन्ति स्फूर्जिताम्बराः।
यथा विद्यामुपालभ्य नमन्ति गुणिनो जनाः॥
गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः॥
ऊहुरुन्मार्गगामीनि निम्नगांभांसि सर्वतः।
मनांसि दुर्विनीतानां प्राप्य लक्ष्मीं नवामिव॥

भवन्त्यापो नदीनां तु वारिधिं प्राप्य सुस्थिराः ।
जन्तवोहि यथा सर्वे स्थैर्यं यन्ति हरिंश्रिताः ॥
मार्गा बभूवुः संदिग्धास्तृणैश्छन्नाह्यसंस्कृताः ।
पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गा कलौ यथा ॥
श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मंडूका व्यसृजन् गिरः ।
तूष्णीं शयाना प्राग्यद्वत् ब्राह्मणा नियमात्यये ॥
पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्तयः ।
प्राक्क्षामाः तपसा श्रान्ताः यथा कामानुसेवया ॥
बभूवुर्निश्छदा वृक्षा अर्कयावासकास्तथा ।
सुराज्ये तु यथा राजन् न चलन्ति खलोद्यमाः ॥
क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः ।
धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ॥
निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भांति नो गृहाः ।
यथा पापेन पाखण्डा नहि वेदाः कलौ युगे ॥
जलौघैर्निरभिद्यता सेतवो वर्षतीश्वरे ।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ॥
कृषिं संस्कृत्य शुध्यन्ति परीयांसः कृषीबलाः ।
यथा कामादिकं त्यक्त्वा बुधाश्चित्तं पुनन्ति च ॥
वर्षेणोनोषतायाञ्च न रूढं तृणमात्रकम् ।
यथा साधुजनस्वान्ते कामाद्युत्पद्यते न वा ॥
सर्वत्रातिप्रसन्नानि सलिलानि तथाभवन् ।
ज्ञाते सर्वगते विष्णौ मनांसीव सुमेधसाम् ॥
शनकैः शनकैस्तीरं तत्यजुश्च जलाशयाः ।
ममत्वं क्षेत्रपुत्रादि रूढं सर्वे यथा बुधाः ॥
गाधवारिचरास्तापमविन्दन् शरदर्कजम् ।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्योविजितेन्द्रियः ॥
खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम् ।
सत्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥
गिरयोमुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम् ।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा ॥
वणिङ्मुनिनृपस्नाता निगम्यार्थान् प्रपेदिरे ।

वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते ॥
जलस्थलौकसः सर्वे नववारि निषेवणात् ।
अबिभ्रन् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवणात् ॥
सरो शोभते राजीवैः कथं विकसितै नृप ।
सत्वादिभिरथाच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥
निशि दुःखायते चक्रवाकस्य केवलं मनः ।
परस्यैश्वर्यमालोक्य दुर्जनस्तप्यते यथा ॥
चातको सह्यतृष्णोहि कथं घोषति शारदैः ।
तापैर्यथा शिवद्रोही लभते न क्वचित् सुखम् ॥
शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत् ।
देहाभिमानजं बोधो मुकुन्दो ब्रजयोषिताम् ॥

सम भाव वाले ये श्लोक हमने मानस-पीयूष से चुनकर यहाँ पाठकों के कौतूहल के लिये रखे हैं।

वर्षा प्रवास के प्रतिकूल ऋतु है अतः यह ऋतु तो अन्वेषण कार्य की प्रतीक्षा ही में बितानी पड़ी। शरद् में धीरे-धीरे वह प्रतिकूलता नष्ट हो जाती है और यात्रा की अनुकूलता सम्पन्न हो जाती है। इतने पर भी अन्वेषण कार्य प्रारम्भ न हो तो यह अन्वेषकों की शिथिलता होगी। राम तो समय की प्रतीक्षा करते रहे किन्तु सुग्रीव ने अनुकूल अवसर पाकर भी अपना कर्तव्य भुला दिया। इसलिये उसके प्रति राम की क्षणिक झुँझलाहट होजाना स्वाभाविक था। धैर्य और झुँझलाहट के अच्छे संकेत हैं इस वर्षा और शरद वर्णन में।

धर्म रथ

जिस प्रकार महाभारत में गीता का महत्व है उसी प्रकार मानस में 'धर्म रथ' का महत्व समझना चाहिये। पहिले धर्म रथ का पूरा प्रकरण सुन लिया जाय। वह इस प्रकार है—

रावनु रथी विरथ रघुबीरा। देखि बिभीषनु भयेउ अधीरा॥
अधिक प्रीति मन भा सन्देहा। बन्दि चरन कह सहित सनेहा॥
नाथ न रथ नहिं तनु पदत्राना। केहि विधि जितब बीर बलवाना॥
सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। विरति चर्म सन्तोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदन्डा॥
अमल अचल मन त्रान समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। येहि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताके॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर॥

प्रसङ्ग है उस अवसर का जब युद्ध में राम और रावण का आमना-सामना होने को था। ठीक वही परिस्थिति समझिये जब महाभारत युद्ध में कौरवों और पाण्डवों का आमना सामना हुआ था। लङ्का का युद्ध चलते इतने दिन हो चुके थे तो क्या विभीषण को नहीं विदित था कि रावण रथी है और रघुवीर विरथ हैं? उद्योग पर्व में इतने दिनों तक तैयारियाँ होती रहीं सो क्या अर्जुन को नहीं विदित था कि उसे दादा मामा बन्धु बान्धवों आदि से युद्ध करना पड़ेगा? परन्तु श्रुति-श्रुति ही होती है और दर्शन दर्शन ही होता है। सुन लेना एक बात है और प्रत्यक्ष देख लेना दूसरी बात है। बैरियों के सम्बन्ध में सुन लेना और बैरी को साज सज्जित प्रत्यक्ष देख लेना—इन दोनों में बड़ा अन्तर है। श्रवणेन्द्रिय का जो विषय है वह कालक्रम पर निर्भर है अतएव वह किसी एक मुहूर्त में समग्र ज्ञान दे ही नहीं सकता। ज्ञान के लिये ध्यान की जो एकाग्रता चाहिये वह आदि से अन्त तक एक बराबर रह नहीं सकती। भवन के

वर्णन में यदि सीढ़ियों का आख्यान चला तो खिड़कियों और दरवाजों के व्यतीत वर्णन ध्यान के क्षेत्र में फीके होते चलेंगे। फिर एक-एक शब्द केवल सीमित ज्ञान के ही संकेतमात्र हैं। अतएव किसी भी चर्चा द्वारा समग्र ज्ञान हो ही कैसे सकता है। दर्शन में यह बात नहीं। नेत्रेन्द्रिय का विषय कालक्रम पर नहीं किन्तु देशक्रम पर निर्भर है, अतएव किसी एक क्षण में ही वह वस्तु को अपेक्षाकृत समग्र ज्ञान दे सकता है। शब्द ज्ञान विश्लेषणात्मक है, दर्शनज्ञान संश्लेषणात्मक है। हमारे यहाँ तत्वज्ञान की प्रणालियों को 'दर्शन' कहा गया है क्योंकि कोरे तार्किक ज्ञान की अपेक्षा अनुभवात्मक ज्ञान को ही अपने यहाँ मान्यता दी गई है। दण्डविधान के आचार्य भी कहते हैं कि हत्या का विचार और हत्या की तैयारी तक दण्डनीय नहीं है। सम्भव है कि मारे जाने वाले व्यक्ति को देखकर अथवा अपने कार्य व्यापार का प्रारम्भ देखकर हत्यारे का विचार बदल जाय। दण्डनीय है केवल कार्य निष्पत्ति अथवा उसके सम्बन्ध की चेष्टा। अर्जुन अथवा विभीषण को समस्या की सामान्य जानकारी तो पहिले ही थी परन्तु जब उसी समस्या का प्रत्यक्ष दर्शन होगया तभी उसका सम्यक समाधान पाने की छटपटाहट जागी। हम लोग भी कह लेते हैं कि संसार दुःखमय है और प्रभुचरणों का आश्रय ही एकमात्र आनन्द-धाम है। परन्तु क्या हमने इस तत्व को कभी उक्ति के क्षेत्र से निकालकर दर्शन के क्षेत्र में भी रखा है ? क्या हमने अनुभूतिजन्य दर्शन द्वारा कभी इस तत्व का साक्षात्कार किया है ? जब तक यह न होगा तब तक न तो संसार से विराग की छटपटाहट होगी और न प्रभुचरणों के अनुराग की।

अर्जुन के सामने करूणा और कर्तव्य के द्वन्द्व की समस्या साक्षात् हुई और उसने एक गलत निर्णय लिया जिसके कारण भगवान् कृष्ण को ज्ञानगीता गानी पड़ी, विभीषण के सामने साधन और उद्देश्य के द्वन्द्व की समस्या साक्षात् हुई और उसने एक गलत शङ्का की जिसके कारण भगवान् राम को दूसरी गीता गानी पड़ी जो अति संक्षिप्त होते हुए भी अपने में पूर्ण है और इस प्रकरण में निहित है। विभीषण मान बैठा कि उद्देश्य कितनी भी ऊँची नैतिकता का हो परन्तु यदि भौतिक साधनों का अभाव है तो उसकी पूर्ति में बाधाएँ आ ही सकती हैं। अथवा यों समझिये कि पशुबल के मुकाबिले के लिये उसी तरह का तगड़ा पशुबल ही चाहिये। तभी उद्देश्यपूर्ति हो सकती है। उत्तर में राम ने समझा दिया कि आत्मिक बल के आगे पशुबल कोई चीज नहीं। यही धर्मरथ की गीता का सार है।

रावण को रथी और रघुवीर (राम जो प्रसिद्ध रघुवंश के स्वतः परा-

क्रमी वीर थे) को विरथ देखकर विभीषण अधीर होगया । उसके मन में राम के प्रति बड़ा स्नेह था इसलिये विजय के प्रति उसे सन्देह होने लगा । 'स्नेहः खलु पाप शंकी' । स्नेह तो ध्यान को एक ही स्थान पर केन्द्रित कर देता है न, अतएव वह यदि प्रभु के माधुर्य पर रीझा तो उनका ऐश्वर्य भुला बैठता है, वह सेवाप्रधान होकर चला तो शक्तिशाली व्यक्ति को भी इस तरह कोमल मान बैठता है मानो वह कुम्हड़बतिया हो जो किसी की दृष्टि लगते ही मुरझा जाय। इसीलिये कहा गया है 'स्नेहः खलु पापशंकी' । सीता को शङ्का हुई कि मधुर-मूर्ति राम कमठपृष्ठ कठोर धनु को कैसे उठायेंगे । विभीषण को शङ्का हुई कि जिनके पास न रथ है न तनुत्राण (जिरहबख्तर) है न पदत्राण (जूता) तक है और जिनका शत्रु सभी साधनों से लैस तथा स्वतः भी बड़ा बलवान् है, वे राम ऐसे जगत् प्रसिद्ध वीर शत्रु को कैसे जीत सकेंगे । अर्जुन को ज्ञानाभिमान था इसलिये उसने अपना निर्णय ही कर डाला था । विभीषण एक प्रकार का स्नेहाभिमानी था इसलिये उसने अपनी भावना को शङ्का के रूप में व्यक्त कर दिया।

कृष्ण ने अर्जुन को फटकार बताई । कहा वह उसका विवेकपूर्ण निर्णय नहीं किन्तु केवल क्षुद्र हृदय-दौर्बल्य है । राम ने विभीषण को फटकार नहीं बताई । भीषणता तो उससे विगत हो चुकी थी अतएव ऐसी तदीयता वाले स्नेही जीव को क्या फटकार दी जाय । फिर प्रभु राम का तो यह वाग्वैभव ही था कि वे प्रतिपक्षी की बात को एकदम न काटकर उसके साथ जहाँ तक जाते बने बढ़ चलते थे और इस प्रकार उसके हृदय में स्थान बनाकर उसे अनायास ही अपनी ओर ले आते थे । अतएव उन्होंने यह नहीं कहा कि विभीषण एकदम गलत कह रहा है । स्यन्दन आदि भौतिक साधनों की उपयोगिता को उन्होंने एकदम अमान्य नहीं किया । परन्तु उन्होंने 'जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना' कह कर उस उपयोगिता की सीमा रेखा अवश्य खींच दी । यह नया रथ राम के पास है अथवा नहीं तथा यह रथ क्या रावण के पास भी है, यह सब सोचने समझने की बात उन्होंने विभीषण को बुद्धि पर छोड़ दी और इस प्रकार भगवान कृष्ण की तरह उन्हें ऐश्वर्य भाव की भूमिका से बोलने की आवश्यकता ही न रही । यह है गोस्वामीजी का रचना-कौशल ।

जीव जब तक धर्म के रथ पर आरूढ़ होकर आगे नहीं बढ़ता तब तक उसे सच्ची विजय मिल ही नहीं सकती है और जिसके पास धर्म का सुदृढ़ रथ विद्यमान है वह तो ऐसा विश्व सेवक बन जाता है कि उसका कोई विजेतव्य शत्रु शेष ही नहीं रहता । जिसने मन को जीत लिया वह और किसको जीतना चाहेगा ? यदि कोई ऐसे अजातशत्रु से भी शत्रुता करना चाहेगा तो उसकी वह

करनी ही उसे खा जायगी। अजातशत्रु तो बेचारा निमित्त मात्र ही बनेगा। परिवर्तन शील तथा आवागमनपूर्ण संसार से बढ़ कर तो कोई अजेय शत्रु जीव के लिए हो नहीं सकता। परन्तु यदि जीव के पास धर्म का सुदृढ़ रथ है तो ऐसा अजेय शत्रु भी परास्त हो सकता है। फिर सामान्य 'रिपु' कहाने वालों की बात ही क्या है। विभीषण तो राम के 'मतिधीर सखा' थे अतएव उन्होंने ज्ञानाभिमानिनी शङ्काओं को उठने ही न दिया और राम के द्वारा दिये गये संक्षिप्त विवेचन में ही अपना पूर्ण समाधान पा गये।

जीव की प्रगति के लिये धर्म का रथ किस प्रकार का हो? सुनिये। शौर्य और धैर्य तो उस रथ के दोनों चक्के होने चाहिए। शौर्य को समझिये उत्साह और धैर्य को समझिये लगन। उत्साह के बिना प्रवृत्ति नहीं जागती और उत्साह के साथ लगन नहीं है तो वह सोडावाटर के उफान की तरह फसफसा कर रह जायगा। लगन के बिना वह एकाङ्गी ही रहेगा। धर्म है मानव में दिव्यत्व की प्रवृत्ति। उत्साह और लगन के चक्कों के बिना यह प्रवृत्ति आगे बढ़ नहीं सकती।

धर्म रथ का आधार है शौर्य तथा धैर्य और उसका चरम उत्कर्ष रूप केन्द्र विन्दु है सत्य तथा शील। रथ तब तक विजयमार्गी है जब तक उसकी ध्वजा-पताका फहरा रही हो। ध्वज और पताका का पतन हुआ कि समझ लीजिए कि रथ पराजित हो गया। गोस्वामीजी ने यहाँ ध्वज शब्द को पताका सँभालने वाले सीधे डण्डे के अर्थ में प्रयुक्त किया है और शील शब्द को प्राय: उसी अर्थ में रखा है जो महात्मा गांधी के अहिंसा शब्द से ध्वनित है। सत्य और अहिंसा दोनों ही गोस्वामीजी के मत में परम धर्म हैं। देखिये 'धरम न दूसर सत्य समाना' तथा 'परम धरम स्रुति विदित अहिंसा'।) ध्वजा और पताका दोनों ही विजय रथ में परम रक्षणीय हैं। सत्य के ध्वज का सहारा गया तो अहिंसा की पताका आप ही आप धराशायिनी हो जायगी। सत्य डण्डे (ध्वज) की तरह कठोर, सीधा, सुस्थिर प्रलम्ब और आधार स्वरूप है। अहिंसा पताका की तरह कोमल, लचीली, भावप्रवण, राग रञ्जित तथा विश्वलोचनों द्वारा दर्शनीय है। सत्य का विशेष सम्बन्ध मति से है जिसके दर्शन दूर से सहज नहीं। अहिंसा का विशेष सम्बन्ध कृति से है जिसके दर्शन "विश्व व्यवहार में प्रत्यक्ष होने ही चाहिये। लोक सेवा उसी की तो एक झलक है। चारित्र्य की उत्तमता ही अहिंसा है। वही तो शील है। इस शील का आश्रय होना चाहिए सुदृढ़ सत्य पर अन्यथा वह अहिंसा न होकर कोरी भावुकता मात्र रह जायगी। अहिंसा जो स्वभावतः कुसुम कोमल है वह वज्रादपि कठोर तभी हो सकती है

जब सत्य के सुदृढ़ डण्डे से वह बँधी हो। तभी उसे विषम परि-स्थितियों के झकोरे स्थान भ्रष्ट न कर पावेंगे यद्यपि प्रत्येक झकोरे को उसकी लहरों का सौष्ठव मिलता रहेगा। जग की सेवा करता हुआ भी ऐसा व्यक्ति जग से निर्लिप्त रहेगा और आवश्यकता हुई तो आँसुओं के दो बूँद पानी से ही पिघल उठने वाला वह जीव रक्त के अङ्गारों पर भी अडिग होकर दौड़ता चलेगा।

हमने सत्य को नारायण मान कर उसकी कथा तो चलादी परन्तु उस कथा को पाँच अध्यायों और मिष्ठान्न प्रसाद में सीमित कर उसका रहस्य भुला दिया। अहिंसा अथवा भूतदया को तो हमने बौद्ध धर्म के साथ भारत से बाहर खदेड़ दिया था। परिणाम जो हुआ वह किसी से छिपा नहीं है। सौभाग्य है कि महात्मा गांधी के रूप में अभिनव बुद्ध ने फिर से धर्मरथ के सामूहिक सत्य और शील को ऊँचा उठा दिया है। अब वह विजयी होगा या पराजित होगा यह हम लोगों के देखने की बात है।

धर्म के विजयरथ में दो नहीं चार घोड़े जुतते हैं। वे हैं बल, विवेक, दम (संयम) और परहित (लोक सेवा) नामक। चारों का अन्योन्याश्रय और चारों का सन्तुलित प्रयत्न ही धर्मरथ को आगे बढ़ा सकता है। शौर्य और धैर्य (उत्साह और लगन) रहते हुए भी यदि बल विवेक दम और परहित का प्रयत्न नहीं है तो धर्म का रथ जहाँ का वहीं रह जायगा। बल में यहाँ प्रधानतः तन का बल व्यञ्जित है। यदि उसे विवेक का अथवा बुद्धि के बल का साथ न मिला तो वह अधूरा है। इन दोनों बलों के साथ यदि उसे संयम का बल नहीं है तो हमारा कृतित्व एकाङ्गी ही होगा। सम्भव है वह विपथगामी भी हो जाय। अथवा निकाय होकर रह जाय। तीनों बलों से युक्त व्यक्ति भी यदि परहित व्रत का बल नहीं रखता तो सम्भव है कि वह संसार के लिये निकम्मा हो जाय। फिर धर्म की पूर्णता कहाँ होगी। मनुष्य अपने पशु बल को विवेक से सन्तुलित रखे और आसक्तियों से बचाने के लिये उनके साथ संयम-बल का योग करावे तथा मानवता के दिव्यत्व को सार्थक करने के लिये परहित का प्रयत्न साथ रखे, तभी धर्म का रथ सही अर्थों में आगे बढ़ेगा। विवेकहीन बल निकम्मा है। संयम-हीन विवेकपूर्ण बल भी खतरनाक है। संयमपूर्ण विवेकयुक्त बल भी अधूरा है जब तक परहित का भाव अपना सहयोग नहीं देता। अतः धर्म-रथ को आगे बढ़ाने के लिये ये चारों ही घोड़े चाहिये।

इन घोड़ों को चलाने वाला कौन होगा? वह होगा ईशभजन रूपी सुजान आस्तिक्य भाव। सुजान वह है जो नर सेवा में नारायण सेवा देखता है। जिसने ईश को एक नाम में, एक रूप में, एकही प्रकार की साम्प्रदायिक

पूजा-पद्धति में सीमित कर दिया वह उस असीम का सुजान भक्त कैसे कहा जायगा। सुजान आस्तिक्य भाव वाला ही विश्वबन्धुत्व नहीं किन्तु विश्वात्मैक्य का अनुभव करता हुआ सही अर्थों में बल विवेक दम और परहित के घोड़ों को ठीक रास्ते पर बढ़ा सकेगा। समग्र दृष्टि—अखण्ड दृष्टि तो उसी की होगी। ऐसी समग्र दृष्टि रखे बिना हमारा बल, हमारा विवेक, हमारा संयम, हमारा परहित व्रत सभी कुछ सङ्कीर्ण तथा विपथगामी हो सकता है।

इस सारथी के हाथ में लगाम कौन होगी जो इन चारों घोड़ों को सन्तुलित ढङ्ग पर प्रगतिशील बनाये रखे ? वह होगी समता की लगाम। समता का अर्थ आकार या प्रकार की समता नहीं है। हाथी हाथी ही रहेगा, चींटी चींटी ही रहेगीं। समता है सन्तुलन, सामञ्जस्य, समग्र दृष्टि। वह है विविध वृक्षों में एक उद्यानभाव का अवलोकन। वह है यह भावना कि ब्रह्म के विविध विश्व-रूप अपने अपने में पूर्ण रहते हुए भी अपनी-अपनी मर्यादा का अतिक्रमण न करें। समता की लगाम से साधे हुए बल विवेक दम परहित के घोड़े इस विषम संसार में हमारा धर्मरथ आगे बढ़ा सकते हैं। समता तो हुई बिचली लगाम। दो घोड़ों के लिये एक लगाम पर्याप्त है। परन्तु उनके अगल-बगल दो और भी तो घोड़े हैं अतएव बिचली लगाम के आजू बाजू दो और लगामें चाहिये। वे हैं क्षमा और कृपा की। विषमता अथवा असन्तुलन के क्षेत्र में कोई अनावश्यक रूप से बहुत बढ़ जाता है और कोई अनावश्यक रूप से बहुत घट जाता है। यों भी समझिये कि कोई उत्पीड़क हो जाता है और कोई उत्पीड़ित हो जाता है। यही तो विषमता है। क्षमा का काम है उत्पीड़क को भी पश्चात्ताप करने, सुधरने और इस तरह समता के मार्ग पर आने का अवसर देना। कृपा का काम है उत्पीड़ित को उठने, सँभलने, अपने अभाव दूर कर लेने और इस तरह समता के मार्ग पर पहुँच जाने का अवसर देना। विषम परिस्थिति को समता के अनुकूल बनाने के लिये एक ओर क्षमा की तो दूसरी ओर कृपा की आवश्यकता है। तभी धर्मरथ के घोड़ों की गति सन्तुलित रहेगी।

अब जीवरूपी रथी योद्धा के पास अस्त्र-शस्त्र कैसे हों यह भी सुन लीजिये। उसे षड्गुण सम्पन्न होना ही चाहिये नहीं तो धर्म रथ पर उसका आरूढ़ होना निरर्थक समझा जायगा। दो गुण तो ऐसे हों जो संसार की विषमता से उसकी रक्षा करते रहें और चार गुण ऐसे हों जो संसार की विषमता मिटाने में हाथ बटायें। उसकी रक्षा करने वाले गुण हैं विरति (अनाशक्ति) और विप्र गुरु पूजा (श्रेष्ठों के प्रति श्रद्धा) विरति ही उसकी ढाल (चर्म) है और विप्र

गुरु पूजा ही उसका अभेद्य कवच है। सांस्कृतिक परम्परा के प्रतीक हैं विप्र और सांस्कारिक उन्नयन के प्रतीक हैं सद्‌गुरु, दोनों की पूजा अर्थात् श्रेष्ठों के प्रति सच्ची श्रद्धा। विरति है क्षुद्र अथवा असत् के प्रति विराग और विप्र गुरु पूजा है महत् अथवा सत् के प्रति अनुराग। राग और विराग का उदात्तीकरण इसी प्रकार होता है और ऐसा ही उदात्तीकृत राग विराग इस संसार की विषमताओं में हमारे लिये रक्षा कवच का काम दे सकता है।

अब रहे संसार की विषमता मिटाने वाले चार गुण या चार अस्त्र; सो वे हैं सन्तोष, दान, बोध (ज्ञान अथवा बुद्धि) और शिव-संकल्प (शम यम नियम आदि)। इन्हीं चारों को कृपाण, फरसा, प्रचण्ड सांग (प्रचण्ड शक्ति) और अनेक प्रकार के बाण समझ लीजिये। तलवार और फरसे की मार दूर तक नहीं होती। सन्तोष और दान का प्रभाव भी अपनी परिस्थिति तक ही होगा। सन्तोष है न्याय आवश्यकता पूर्ति के साधनों तक ही अपने को सुखी रखना। दान है उन साधनों के अतिरिक्त जो कुछ बढ़े वह समाज की समता के लिये दे डालना। दोनों वे ज्योतियाँ है जो दिये दिये में जगनी चाहिये। तभी विश्व समता की दीवाली जगमगायेगी। साँग और तीरों की मार दूर दूर तक होती है। वे फेंके जाते हैं—प्रेरित किये जाते हैं। बोध और संकल्प भी दूर की कौड़ी लाते और दूर तक असर करते हैं। बोध है ज्ञान और सत् सङ्कल्प (शिव-सङ्कल्प अर्थात् शम यम नियम आदि) वे तीर हैं जो प्रयुक्त होते हैं श्रेष्ठ विज्ञान रूपी कठिन कोदण्ड के सहारे अतएव इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। प्रयोगात्मक ज्ञान ही तो विज्ञान है। सामान्य अर्थ में यह समझिये कि जो ज्ञान विचारों तक रहे वह ज्ञान और जो व्यवहार में भी आजाय वह विज्ञान। विचार भी एक प्रकार की शक्ति हैं इसलिये बुद्धि (बोध) को सांग कहा गया, परन्तु आचार अर्थात् सम यम नियम आदि (जो व्यावहारिक ज्ञान के कोदण्ड से स्फूर्ति पाकर आगे बढ़ते हैं) विशिष्ट प्रकार की शक्ति वाले हुआ करते हैं और वे अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। इन शम यम नियमादि को आचार कह लीजिये या सत्संकल्प या शिव-संकल्प कह लीजिए—इनका आश्रय स्थल होता है हमारा मन अथवा उस योद्धा जीव का मन। वही मन इन तीरों का त्रोण या तरकस हैं। जब तक वह अमल और अचल न होगा तब तक उसमें इन सत्सङ्कल्पों अथवा सदाचारों को धारण करने की पात्रता न आवेगी। सड़ा गला तरकस न तो बाणों को धारण कर सकता और न उन्हें मोथरेपन के जंग से बचा सकता है। उसमें यदि कुछ बाण रहे भी तो निकम्मे ही होंगे। इसलिये मन को अमल अचल त्रोण बनाया जाय और तब उसके सत् संकल्पों को विज्ञान के सहारे संसार की विषमता काटने में प्रयुक्त

किया जाय।

सच्चा वीर वह है जिसके पास ऐसा दृढ़ रथ हो। क्या विजय के लिये इससे बढ़कर और कोई दूसरा साधन हो सकता है? जिसके पास यह रथ होगा वह तो एक प्रकार से अजातशत्रु ही हो जायगा। उसका विजेतव्य फिर रहेगा कौन? "जीतन कहं न कतहुँ कोउ ताके"। जीव का प्रबल प्रतिभट तो है यह संसार—यह आवागमन का चक्र। यह महा अजय माना गया है। क्योंकि संसारी जीव इसी के चक्कर में तो फँसा रहता है। सो, जब इस रथ के सहारे यह महा अजय प्रतिभट तक जीता जा सकता है तब सामान्य प्रतिद्वन्द्वियों की बात ही क्या है।

———

राम राज्य

भारत का परम्परागत विश्वास है कि राम राज्य सभी दृष्टियों से एक आदर्श राज्य था। वह नाम इतना चल पड़ा कि जहाँ कहीं और जब कहीं सुन्दर सुव्यवस्थित शासन दिखाई पड़ा वहीं कह दिया गया 'भई यहाँ तो एक दम रामराज्य दिखाई पड़ रहा है।' 'सु-राज्य और राम-राज्य मानों समानार्थी शब्द बन गये। सुराज्य में तो कुछ त्रुटियाँ भी सम्भव हैं परन्तु रामराज्य की कल्पना में यह एक दम मान लिया गया कि वहाँ कभी कोई त्रुटि हो ही नहीं सकती। फिर चाहे वह प्रकृति का क्षेत्र हो चाहे पुरुष का क्षेत्र हो।

प्रत्येक शासन के सामने कोई न कोई आदर्श तो चाहिये ही। जब जन-कल्याण ही प्रत्येक शासन का प्रधान ध्येय है तब उसके सामने यह भी कल्पना रहनी चाहिये कि जन-कल्याण का आदर्श-रूप क्या होगा। कवियों की प्रतिभा ने इसीलिये रामराज्य अथवा 'यूटोपिया' के सुन्दर से सुन्दर चित्र खींचे हैं। सन्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदासजी ने जो चित्र खींचा है उस पर ही इस समय हमें दृष्टिपात करना है।

गोस्वामीजी कहते हैं :—

राम राज बैठे त्रय लोका, हरषित भये, गये सब शोका।
बयरु न कर काहू सन कोई, राम प्रताप विषमता खोई॥

ये राम राज्य के उस लम्बे वर्णन की प्रथम दो पंक्तियाँ हैं। इन पंक्तियों में कई बातें विचारने योग्य हैं। पहिली बात तो यह है कि राज्य वह उत्तम है जिससे केवल एक राष्ट्र ही नहीं किन्तु समूचे विश्व को हर्ष पहुँचे। 'त्रयलोका हरषित भये'। यदि एक की समृद्धि से दूसरे राष्ट्र आतङ्कित हो उठें तो वह कैसा आदर्श-राज्य होगा। विश्व भी भौतिक विश्व ही नहीं किन्तु भावनाओं और विचारों का विश्व भी आधिभौतिक लोक ही नहीं किन्तु आधिदैविक लोक और आध्यात्मिक लोक भी। त्रय-लोका। मतलब यह कि शासन द्वारा भौतिक समृद्धि ही बढ़ादी गई अथवा रोटी का सवाल ही हल कर डाला गया तो क्या हुआ जब तक कि हृदय की भावनाओं के लिये पूर्ण आनन्द और विचारों की दौड़ के लिये पूर्ण समाधान भी नहीं प्राप्त होता। यह है त्रैलोक्य का हर्ष। यह है 'त्रयलोका हरषित भये' का अभिप्राय।

पूर्ण हर्ष तो तब होगा जब शोक भी चले जायँ। इसीलिये गोस्वामीजी

ने दूसरी बात कही है 'गये सब शोका'। सांख्य शास्त्र में कहा गया है कि मनुष्य का अत्यन्त पुरुषार्थ यही है कि तीनों प्रकार के दुखों से अत्यन्त निवृत्ति होजाय। ये तीनों प्रकार के दुख, शोक या ताप है दैहिक, दैविक और भौतिक। जो अपने ही कुविचारों, कुभावों अथवा कुकृत्यों से उत्पन्न होते हैं वे हैं दैहिक दुःख, जिनका प्रत्यक्ष रूप दिखाई पड़ता है तरह तरह के रोगों में। जो दूसरों के कुविचारों कुभावों अथवा कुकृत्यों से उत्पन्न होते हैं अर्थात् समाज-व्यवस्था की गड़बड़ी से उत्पन्न होते हैं वे हैं भौतिक दुःख जिनका प्रत्यक्ष रूप दिखाई पड़ता है चोरी, डकैती, युद्ध, सङ्घर्ष आदि तरह-तरह के भयों में। जीव-समाज की गड़बड़ी से उत्पन्न भय—साँप-बिच्छू आदि के उत्पात भी—इसी कोटि में आ जाते हैं। जो प्रकृति अथवा मानव समाज के वश के बाहर की परिस्थिति की गड़बड़ी से उत्पन्न होते हैं वे हैं दैविक दुःख, जिनका प्रत्यक्ष रूप दिखाई पड़ता है अवर्षण में, अतिवर्षण में, भूकम्प में, बाढ़ में तथा इसी प्रकार के अन्य शोकों में। परिस्थिति यदि एकदम अपने वश के बाहर की ही है और उस पर विजय प्राप्त ही नहीं की जा सकती तो उससे समझौता कर ही लिया जा सकता है। जैसे—मृत्यु एक अवश्यम्भावी घटना है। उसका विचार मात्र आने पर शोक करते बैठे रहना अच्छा कि उसे एक प्राकृतिक नियम मानकर उस नियम से समझौता करते हुए आगे बढ़ना अच्छा! यदि समझौता करते हुए आगे बढ़ा जायगा तो शोक की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। गोस्वामीजी का भी प्रधानतः यही संकेत समझना चाहिए, यद्यपि वे अपने राम को पूर्णतः परमात्मा मानते थे इसलिए उनका तो दावा था कि रामराज्य में प्रकृति अथवा परिस्थिति की गड़बड़ी भी न होने पाती थी अतएव वहाँ दैविक दुःख भी नहीं होने पाता था। हरएक शासन आज भी अपने-अपने ढङ्ग से प्रयत्न करता ही है कि मनुष्यों के रोग दूर हो जायँ, भय दूर हो जायँ, और शोक दूर हो जायँ। उसे कहाँ तक सफलता मिलती है और कहाँ तक नहीं मिलती, यह दूसरी बात है। अस्तु!

उपर्युक्त पंक्तियों में तीसरी बात है विषमता खोने की। "राम प्रताप विषमता खोई"। सब में समता आवे यह हर एक शासन चाहता है। साम्य-वाद, समाजवाद आदि सब इसीलिये तो चल पड़े हैं। परन्तु मानव-समाज की विषमता जाय कैसे? गोस्वामीजी का मत है कि जब तक मनुष्यों के मन से बैर-भाव दूर न होगा—स्वार्थ प्रेरित स्पर्धा का भाव दूर न होगा—तब तक मानव-समाज की विषमता दूर नहीं हो सकती। सामान्य मनुष्य तो स्वभाव से स्वार्थी हुआ करता है। उसका यही स्वार्थ व्यक्तिगत क्षेत्र में चोरी डकैती आदि

दुराचारों को जन्म देता है और दलगत क्षेत्र में साम्प्रदायिकता, जातीयता, प्रान्तीयता, राष्ट्र-सङ्घर्ष आदि को जन्म देता है। यह स्वार्थ-जनित बैर भाव दूर कैसे हो ? इस सम्बन्ध में गोस्वामीजी का नुसखा यह है कि जन-नेता अथवा जन-शासक को इतना शक्ति सम्पन्न होना चाहिए—भौतिक शक्ति ही नहीं किन्तु नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति भी—कि उसका पूरा-पूरा प्रभाव मानव-समाज पर पड़ता रहे। जैसे—स्वार्थी होना सामान्य मनुष्य का एक स्वाभाव है उसी तरह प्रभावशाली व्यक्ति का अनुकरण करना भी उसका एक स्वभाव है। वह स्वभाव से ही अपने नेता का अनुकरण करना चाहता है। पुत्र पिता का अनुकरण करता है, प्रजा राजा का अनुकरण करती है। यदि नेता अथवा शासक में अटूट प्रेम भरा हुआ है—आदर्श चरित्र बल विद्यमान है—तो समाज में उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। सेना या पुलिस के बल के आधार पर समाज का बैर भाव दूर नहीं किया जा सकता। उसके लिये तो शासक के चरित्र का प्रताप बल चाहिए। राम के इसी प्रताप के कारण राम-राज्य में अखिल विश्व की विषमता खो गई थी। "रामप्रताप विषमता खोई।"

उपर्युक्त बातों की, मानो तीन-तीन बार त्रिवाचा-पुष्टि करते हुए, गोस्वामीजी आगे कहते हैं—

वरनास्रम निज-निज धरम निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग ॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।
सब नर करहिं परसपर प्रीती, चलहिं स्वधरम निरत स्रुति नीती।
चारिहु चरन धरम जग माहीं, पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं।
राम-भगति रत नर अरु नारी, सकल परम गति के अधिकारी ॥

दैहिक ताप अर्थात् रोग, भौतिक ताप अर्थात् भय और दैविक ताप अर्थात् शोक, ये ही सब दुःख या शोक हैं जो हटने चाहिए और मनुष्यों को सब तरह का हर्ष—सब तरह का सुख—मिलना चाहिए, तीन-तीन बार इस भाव की आवृत्ति की है गोस्वामीजी ने।

राम प्रताप तो प्रधान है ही परन्तु उसका प्रत्यक्ष परिचय तो मनुष्यों के आचरण में ही मिलने वाला था। वे आचरण कैसे हो गये थे ? गोस्वभीजी कहते हैं "वरनास्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग चलहिं सदा।" मनुष्य लोग वेद-सम्मत,-शास्त्र सम्मत,-अथवा यों कहिये कि तत्वदर्शियों द्वारा बताये हुये सिद्धान्तों के आधार पर वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार अपने-अपने धर्म पर ही सदा चला करते थे। इसीलिए उन्हें सदा सुख मिला करता

था और व्यर्थ की स्पर्धा के अभाव में सब लोग परस्पर प्रीति किया करते थे। धर्म अपने चारों अंगों से सम्पन्न हो गया था और पाप का कहीं स्वप्न में भी नाम-निशान न रह गया था। मनुष्यों के लिये (समग्र नर नारियों के लिए) आदर्श पुरुषोत्तम भगवान राम ही परम आराध्य हो गये थे अतएव निश्चय ही सब के सब ही परम गति के अधिकारी हो गये थे। जिस समाज में अधिकार की बात न आकर कर्तव्य की बात सदा आँखों के सामने रहा करती है वही सर्वोत्तम गति का सच्चा अधिकारी बन जाता है। अधिकार तो उसके पास आप ही आप दौड़ आवेगा। वह अपना कर्तव्य ठीक-ठीक निभाता चले यही उसे देखना है। इन कर्तव्यों में व्यक्ति की दृष्टि से आश्रय-व्यवस्था बनाई गयी थी और समाज की दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था। हर कोई मनुष्य युवा होने तक ब्रह्मचारी रहे, प्रौढ़ होने तक गृहस्थी सँभाले, वृद्ध होने के पहिले ही कुटुम्ब-सेवा का दायरा समाज-सेवा तथा आत्मचिन्तन तक बढ़ा डाले, और वृद्ध हो जाने पर हरएक फँसावट की चीज से सन्यास ले ले; यही हैं आश्रमधर्म। प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह समान रूप से आचरणीय है। समूचे समाज के सामूहिक विकास के लिये यह भी आवश्यक है कि नेतृत्वक्षम प्रधान व्यक्तियों, रक्षण-क्षम शक्ति प्रधान व्यक्तियों, वस्तुवर्धक भाव-प्रधान व्यक्तियों एवं कलावर्धक सामान्य व्यक्तियों की कुछ खास-खास जिम्मेदारियाँ भी हों। उनके कुछ खास-खास कर्त्तव्य भी हों। यही है वर्ण धर्म। अपने सच्चे रूप में दोनों की आवश्यकता है। यह धर्म-विभाग जन्मजात हो या कर्म-जात हो, उससे ऊँच-नीच की विषमता भी नत्थी रहे या न रहे। इन प्रश्नों में उलझ कर वर्णाश्रम का असली रूप न भुला देना चाहिये। यदि मानव-समाज उस पर श्रुति-नीति से—(स्मरण रखिये कि कोरी शास्त्रनीति से नहीं) स्थित है, तो उनकी पारस्परिक प्रीति रहेगी ही और हृदयों का वैर-भाव निश्चय ही दूर हो जायगा। गोस्वामीजी के शब्दों में यदि कहा जाय तो राम राज्य लाने का सबसे सीधा नुसखा यह होगा कि लोग श्रुति-नीति से, अर्थात् अनुभव पूर्ण ज्ञान-विज्ञान के अनुसार स्वधर्म पहिचान मर—न कि कोरी शास्त्र-नीति से—सच्चे वर्णाश्रम-धर्म-निरत हो जायँ। 'वरनास्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग····चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति नीती। सच्चे हृदय से अपने-अपने कर्तव्य पूरे करते-करते उनमें पारस्परिक प्रेम भी उमड़ पड़ेगा। सफल शासक वही है जो जन-साधारण में ऐसी कर्तव्य-भावना जगा दे।

आगे चलकर गोस्वामीजी कहते हैं—

अलप मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा॥

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ।।

समझ लीजिये कि तन-मन और धन ही मानव जीवन के प्रधान साधन हैं और इन्हीं की विकृतियों का नाम है रोग अज्ञान और दारिद्र। शासन वही सफल है जो इन तीनों विकृतियों को एक दम दूर करदे। गोस्वामीजी कहते हैं राम राज्य के लोगों का तन कैसा था? 'अलप मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।' 'सबके शरीर बिरुज' अर्थात् रोग हीन ही नहीं हो गये थे किन्तु सुन्दर स्वास्थ्य के कारण सुन्दर भी होगये थे और अल्प-मृत्यु की सम्भावनाओं को हटाकर हर तरह पीड़ाहीन हो गये थे। उनका मन कैसा था? "नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।" उनमें केवल सद्ज्ञान की गरिमा ही नहीं भर उठी थी किन्तु चारित्र्य आदिक सद्गुणों का भी पूर्ण योग होगया था। उस रामराज्य के लोगों का धन कैसा था? "नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।" वह इस प्रकार समृद्ध था कि लोगों को कोई अभाव खटकता ही न था। असली धन वह है जो मनुष्य को सुखी बनावे और उसका दैन्य दूर करदे। यदि यह न हुआ तो लखपती करोड़पती होते हुए भी वह दरिद्री ही है। जो दुखी नहीं है और दीन नहीं है वह दरिद्री भी नहीं कहा जा सकता, भले ही वह स्वल्प वित्त वाला हो। सुवर्णमयी लंका का राज्य दरिद्रियों का राज्य कहा जा सकता है परन्तु स्वधर्म निरत सज्जनों का रामराज्य कभी दरिद्र-राज्य हो ही नहीं सकता।

गोस्वामीजी आगे चलकर कहते हैं—

सब निर्दम्भ धर्मरत पुनीं। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ।।
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी ।।
रामराज नभगेस सुनु, सचराचर जगमाहिं।
काल करम सुभाव गुन, कृत दुख काहुहिं नाहिं ।।

सभी मनुष्य निर्दम्भ, धर्मरत, पुण्यवान्, धीमान् और गुणवान् हैं। गुणवान ही नहीं वे गुणज्ञ भी हैं, सद्-सद् विवेकी हैं और ज्ञानी हैं। केवल कर्ता ही नहीं वे कृतज्ञ भी हैं और उनमें कपट का सयानापन है ही नहीं। मतलब यह कि वे स्वतः तो सब तरह गुणी और कृती हैं हीं परन्तु दूसरों के गुणों और कृतियों की ओर भी उनका सहृदयतापूर्ण ध्यान रहता है और इस प्रकार पारस्परिक व्यवहारों में किसी प्रकार के दम्भ या कपट की कोई गुञ्जाइश रहती ही नहीं। सच्ची नागरिकता के लिये और चाहिये ही क्या। निश्चय ही गोस्वामीजी के रामराज्य के प्रत्येक नागरिक सच्चे नागरिक थे।

इस प्रकरण में गोस्वामीजी ने चार-चार बार धर्म का उल्लेख किया है। वर्णाश्रम धर्म, स्वधर्म, चतुश्चरण (अर्थात् साङ्गोपाङ्ग पूर्ण) धर्म और निर्दम्भ

धर्म । वे चाहते हैं कि धर्म का तत्त्व अच्छी तरह समझ कर उसका सच्चे हृदय से आचरण किया जाय । तभी रामराज्य आ सकेगा । वर्णाश्रम धर्म का विचार किया ही जा चुका है । स्वधर्म है जीव का अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म प्रधान, भक्ति प्रधान या ज्ञान प्रधान धर्म । धर्म के चार चरण हैं सत्य, दया, शौच और दान (अथवा तप) जो जग में व्याप्त हो रहे थे । निर्दम्भ धर्म स्पष्ट ही है । जो आडम्बर हीन सात्विकता से मण्डित हो वह निर्दम्भ धर्म है । धर्म दम्भहीन हो, चतुश्चरणयुक्त हो, अध्यात्म का विकासक हो और वर्णाश्रम मर्यादा के सच्चे अर्थों के अनुकूल हो । यह जहाँ सार्वभौम रूप से व्याप्त है वहीं समता का राज्य होगा । इसी का परिणाम था कि 'राम राज कर सुख सम्पदा, बरनि न सकइ फनीस सारदा ।'

संवाद तो काकभुशुण्डि और गरुड़जी के बीच का है इसलिये गोस्वामी जी अपने काकभुशुण्डि के मुख से कहलाते हैं "हे नभगेश ! हे खगेश ! हे पक्षि-राज ! रामराज्य ऐसा था कि चर या अचर समूचे विश्व में किसी को किसी भी प्रकार का दुःख रह ही नहीं गया था । "काल कर्म स्वभाव गुण कृत दुख काहुहिं नाहिं ।" दुःख या पाप क्यों होता है ? इसकी आदि उत्पत्ति क्यों हुई, कहाँ से हुई ? इत्यादि इत्यादि प्रश्नों पर दार्शनिकों ने बड़ा ऊहापोह किया है । परमात्मा ही सब का आदि-कारण है यह कहकर छुट्टी पाजाना अलग बात है । परन्तु कार्य कारण शृङ्खला वाले इस संसार में विशुद्ध तर्क-दृष्टि से कोई आदि कारण ढूँढ़ निकालना और बात है । भारतीय दार्शनिकों ने वह आदि-कारण इस दृष्टि से भी ढूँढ़ा था । ज्योतिषियों ने कहा कि काल-प्रवाह ही अनादि अनन्त है और उसी के कारण सृष्टि-परिवर्तन का क्रम चलता है और विषमताएँ आती हैं जिनसे दुःख और पाप हुआ करते हैं । मीमांसकों ने कहा 'कालप्रवाह नहीं किन्तु कर्मप्रवाह अनादि अनन्त है जिसके कारण यह सब होता है ।' प्रकृति-वादियों ने कहा अजी, यह परिवर्तन तो विश्व का स्वभाव है—स्व-भाव है, यह तो इसके साथ स्वतः अनादि अनन्त है । अतएव यही स्वभाव सब का मूल कारण है । सांख्यशास्त्रियों ने कहा "नहीं नहीं; विश्व के स्व-भाव में तो प्रकृति और पुरुष दोनों का मेल है । परिवर्तनशील प्रकृति ही है न कि पुरुष । यह परि-वर्तन प्रकृति के सत् रज तम नामक तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न होने से प्रारम्भ होता है । अतएव ये तीनों गुण जो प्रकृति के साथ ही साथ अनादि अनन्त हैं और प्रकृति के साररूप हैं ये ही दुःख के मूल कारण कहे जा सकते हैं । इनमें पुरुष अपने को न फँसने दे, बस, फिर तो वह सुख स्वरूप है ही । मतलब यह

हुआ कि दुःख या तो कालकृत है या कर्मकृत है या स्वभाव कृत है या गुणकृत है। इन्हीं में दैहिक, दैविक, भौतिक— तीनों तरह के दुःखों का समावेश है। गोस्वामीजी कहते हैं कि उनका रामराज्य ठहरा परमात्मा का दिव्य राज्य। अतएव उसके राज्य की—उसके जगत् की—चर अथवा अचर किसी वस्तु में किसी प्रकार के दुःख की छाया पड़ ही नहीं सकती थी।

रामराज्य के वर्णन को काव्यमय ढङ्ग से आगे बढ़ाते हुए दो बहुत सुन्दर दोहे गोस्वामीजी ने कहे हैं। उस रामराज्य का चेतन जगत् कैसा था यह पहिले दोहे में देख लीजिये और जड़ जगत् कैसा था यह दूसरे दोहे में। दोहे हैं—

> दंड जतिन्ह कर भेद जहँ, नरतक नृत्य समाज।
> जीतहु मनहिं सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥
> विधुमहि पूर मयूखन्हि, रवि तप जेतनेहिं काज
> मांगे वारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज॥

पहिले दोहे का मर्म देखिये:—

राजनीति के चार चरण माने गये हैं और वे हैं साम दाम दण्ड भेद। साम दाम तो मीठे उपाय हैं जिनका समाज-व्यवस्था के लिये शासन को प्रयोग करना पड़ता है। गोस्वामी जी कहते हैं कि रामराज्य का शासन कुछ इस ढंग का हो गया था कि शासन ही नहीं सर्वसाधारण तक को दण्ड और भेद की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। हर कोई स्वधर्म से अनुशासित था। इसलिए बाहरी शासन की आवश्यकता ही नहीं रह गई थी। दण्ड और भेद तो शब्दकोष की चीजें बन गये थे। हाँ अपने दूसरे दूसरे अर्थों में इन शब्दों का व्यवहार अवश्य होता था। यतियों का डण्डा भी तो डण्ड कहलाता है और नचकारों-नृत्यकारों के नर्तन-प्रकार भी तो भेद कहलाते हैं। बस, दण्ड और भेद वहीं उस रूप में रह गये थे। रही हार जीत की बात जो राष्ट्रों के बीच युद्ध के शंख फूंका करती है—उसकी भी इस रामराज्य में गुञ्जाइश नहीं रह गई थी क्योंकि इसके प्रभाव से तो प्रत्येक मनुष्य ने अपने अपने मन को जीत डाला था। मन जीत लिया गया तो फिर त्रैलोक्य में विजय के लिये और बचता क्या है। दण्ड, भेद और जीत के शब्द उस राज्य में इन अर्थों में ही सुने जाते थे।

दूसरे दोहे का मर्म देखिए:—सूर्य चन्द्र और बादल मनुष्य की पहुँच के बाहर के माने जाते हैं परन्तु मनुष्यों की सुख शान्ति और उनके जीवन से इन का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। रामराज्य ऐसा था कि जड़ जगत् के इन तीनों पदार्थों तक में उसका प्रभाव पड़ा था। चन्द्रमा की किरणें उजेले अँधेरे दोनों पाखों में ज़मीन पर पड़ जाया करती थीं, सूर्य उतना ही तपता था जितने की

आवश्यकता मानव समाज को होती थी और वारिद गण जब माँगिये तभी जल दे दिया करते थे। फिर गायें मनमाना दूध दें, वृक्ष मनमाने फल दें, भूमि मन माना अन्न दे, सर सरिताएँ मनमाना सुस्वादु स्वास्थ्यप्रद, जल दें, ये तो सब सामान्य बातें थीं। आजकल के राज्य भी जड़ प्रकृति के ऊपर कुछ ऐसा ही प्रभाव डालना चाहते हैं परन्तु चेतन-प्रकृति के सम्बन्ध में पहिले दोहे में जो बात कही गई है उस पर जितना ध्यान देना चाहिये उतना शायद नहीं दे पा रहे हैं। सभी चाहते हैं कि राज्य शासन इस प्रकार चलाया जाय कि उसकी कोई आवश्यकता ही शेष न रह जाय। मतलब यह कि सब कोई अपनी अपनी मर्यादा में आप ही रहने लगें। परन्तु यह तो तभी होगा जब मनुष्य या तो अपने विचार से या नेताओं तथा शासकों की प्रेरणा से स्वधर्म निरत होने के अभ्यासी बन जायँ। तभी वास्तविक रामराज्य आ सकता है।

रघुनाथ-गीता

मानस में कथित अनेक गीताओं में से एक रघुनाथ-गीता भी है। राज्याभिषेक के बाद एक बार पुरवासियों को बुलाकर रघुनाथ राम ने बहुत सुन्दर तथ्य की बातें कही थीं। रघुनाथ गीता के चारों दोहों में वे ही सब बातें सन्निहित हैं। उन दोहों का विवेचन कुछ इस प्रकार होगा—

(१)

एक बार रघुनाथ के आमन्त्रण पर गुरु द्विज (विशिष्ट जन) और सब पुरवासी (सामान्य जन) आये। गुरु, मुनि, द्विज और सज्जनगण जब यथा स्थान बैठ गये तब भक्त भय-भञ्जन[१] भगवान इस तरह बोले—

हे सकल पुरजनो ! मेरी बात सुनो। मैं अपने मन में किसी अभिमान को धारण कर ये बातें नहीं कह रहा हूँ। न इन बातों में कोई अनीति है और न इनमें प्रभुत्व प्रदर्शन ही है। (ये तो नेक सलाह की बातें हैं।) इन्हें सुनलो और यदि पसन्द आ जायँ तो (इनके अनुसार) आचरण भी करने लगो।[२]

---

[१] भगवान के लिये भक्त और अभक्त का कोई पक्षपात नहीं है 'तदपि करहिं सम विषम विहारा, भगत अभगत हृदय अनुसारा।' सूर्य का प्रकाश तो सम ही रहता है परन्तु पात्रता के अनुसार मिट्टी में उसके प्रकाश का विहार नहीं के बराबर, काँच में कुछ अधिक और सूर्यकान्त मणि में बहुत अधिक रूप से होगा। जो जीव ईश्वराभिमुख है उसे स्वभावतः अपने बल के साथ अपने इष्टदेव का भी बल मिल जाने से उसका भीतिभाव भंजित हो जायगा। संकीर्णता ही में भय है—द्वन्द्व है, और ईश्वरनिष्ठ होने ही में अभय है—निर्द्वन्द्वता है। राम को नर कोटि में माना जाय तो भी जो राजनियमों का भक्त होता है उसे निर्भय रखना राजा का कर्त्तव्य ही होता है।'

[२] सच्चे प्रजातन्त्र का रूप यही है। नेता न तो कोई अनीति की बात कहे; न अभिमान से भरी वाणी कहे और न आदेशयुक्त वाणी से कहे। परन्तु वह हित की बात समझाकर कहे अवश्य। 'लोगों को गरज होगी तो पूछेंगे' यह सोचकर चुपचाप बैठा रहना नेता का कर्तव्य नहीं। हित की बात समझाकर वह श्रोताओं को क्रिया-विषयक स्वतन्त्रता भी दे। अपनी क्रिया का परिणाम तो उन्हें भोगना ही होगा। किस क्रिया से उन्हें दुःख और पश्चात्ताप मिलेगा तथा किस क्रिया से उनकी दुःख-निवृत्ति होगी और सच्चा सुख मिल जायगा यह उन्हें स्पष्ट रूप से समझाया अवश्य जाय।

वही मेरा सच्चा सेवक है और वही मेरा सबसे अधिक प्रिय पात्र है जो मेरा अनुशासन मानता है ।[1] भाइयो ! यदि मैं कुछ अनीति कहता होऊँ तो भय भुलाकर मुझे बरज देना ।[2] (जीव को) बड़े भाग्य से यह मनुष्य तनु मिला है । सभी ग्रन्थ कहते हैं कि यह नरदेह देवताओं के लिये भी दुर्लभ है । यह साधनाओं का घर है और मोक्ष प्राप्ति का द्वार या जरिया है । इसे पाकर जिसने अपना परलोक नहीं संवारा वह परत्र (उस लोक में) दुख पाता है और काल को, कर्म को, ईश्वर को मिथ्या ही दोष लगाता है ।[3]

---

[1] कुछ लोग व्यक्ति-पूजक होते हैं, कुछ लोग आदेश पूजक । कुछ लोग राजा या प्रभु की सेवा-सुश्रुषा में ही लगे रहते हैं । इनकी अपेक्षा निश्चय ही वे श्रेष्ठ हैं जो राजा या प्रभु का चाहे एक बार नाम भी न लें परन्तु जो राजा अथवा प्रभु द्वारा निर्धारित नियमों का ईमानदारी से पालन करते हैं । मन्दिर में घण्टियाँ ही हिलाने वाले की अपेक्षा 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त' मानकर भगवान् के आदेशों पर ईमानदारी से चलने वाला व्यक्ति भगवान का सर्वश्रेष्ठ प्रिय है ।

[2] सर्वोपरि तत्व है नैतिकता । यदि कोई राज-नियम या वह नियम जो प्रभु-निर्मित समझा जा रहा है, अनैतिकता की ओर ले जाता हो तो सर्व-साधारण का अधिकार है कि वह किसी प्रकार के भय या संकोच के बिना, उस नियम का वर्जन कर दे—उसका अप्रचलन करदे—उसको बदल दे ।

[3] मनुष्य के लिये मनुष्य से बढ़कर और ध्रुव सत्य क्या हो सकता है ? बड़ा सौभाग्य है कि मानव-जीव को मानवी देह मिली । शास्त्रों ने भी स्वीकार किया है कि मनुष्य-देह देवताओं के लिए भी दुर्लभ है क्योंकि देवता लोग या तो जड़-प्रकृति के वस्तु चैतन्य हैं जो प्राकृतिक प्रेरणा से अपना-अपना काम करते रहते हैं, या कल्पना लोक के जीव हैं जिनका हमारे वस्तुजगत् में कोई अस्तित्व नहीं, या पूर्व सुकृतों के फल भोग के लिए केवल भोग-भाजन बनकर घूमते फिरते हैं जिससे भावी सुकृतों की साधना कराने वाली नर-देह उन्हें मिल ही नहीं पाती । पशुयोनि प्राकृतिक नियमों से पूर्ण नियन्त्रित है और देवयोनि दैवी नियमों के चक्र पर घूमती है । नर योनि ही ऐसी है जिसमें मनुष्य चाहे तो अविवेकी होकर पशु बन जाय, चाहे विवेकी होकर देव बन जाय या देवों से भी ऊँचा उठकर एकदम ब्रह्म में लीन हो जाय । स्मरण रहे कि गोस्वामीजी ने आराध्य रूप में केवल पाँच देवों को—गौरी, गणेश, महेश, सूर्य और विष्णु को मान्यता दी है । शेष इन्द्र आदि देवों के लिये उनके मन में श्रद्धा के बदले अश्रद्धा ही थी । जिन्हें 'विषय भोग पर प्रीति सदाई' हो वे गोस्वामीजी के मान्य

(२)

भाइयो ! इस शरीर का फल विषय सुख नहीं है । स्वर्गसुख भी इसका फल नहीं है क्योंकि वह भी सीमित स्वल्पकालीन ही रहता है और अन्त में

हो ही नहीं सकते थे । उन देवों की योनि से निश्चय ही नरयोनि श्रेष्ठ समझी जानी चाहिये ।

आदमी पहिले आदमी की कीमत पहिचाने । वह मृगमरीचिका दिखाने वाले देवों के पीछे दौड़ने के बदले अपनी ही साधन सम्पत्ति की महिमा का अनुभव करे । उसकी देह सब साधनाओं की आवास भूमि है । नर-शरीरी जीव क्या नहीं कर सकता । वह मोक्ष तक प्राप्त करा सकता है । मोक्ष है सभी प्रकार की सीमाओं—ज्ञान की सीमाओं, शक्ति (क्रिया) की सीमाओं, सुख-दुःख आदि भावों की सीमाओं से मुक्ति । अतएव यह शरीर पाकर अपना श्रेष्ठ लोक (परलोक) सँवारना चाहिये । श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर श्रेष्ठतम की ओर बढ़ते जाना चाहिये—नश्वर लोक की नश्वरता से अविनश्वर लोक की असीम आनन्दानुभूति की ओर बढ़ चलना चाहिये । जो ऐसा नहीं करेगा उसे निश्चय पछताना पड़ेगा और अभी नहीं तो आगे चलकर (परत्र) दुःख उठाना पड़ेगा, क्योंकि तरह-तरह की उमंगें उसके मन में बढ़ती ही जायँगी और उनकी पूर्ति के साधन, बुढ़ापे बीमारी फिजूलखर्ची आदि के कारण क्षीण होते ही जायँगे; अतएव इन दोनों का असामंजस्य होने से दुःख और पश्चात्ताप के सिवाय और क्या मिलना है । मनुष्य चाहेगा सुख और उसे मिलेगा दुःख । मनुष्य चाहेगा सुख-साधनों की शक्ति और उसे सामना करना पड़ेगा मृत्यु, बुढ़ापा और बीमारियों अथवा विविध आपत्ति रूपी अशक्तियों से । तब वह कभी काल को कोसेगा, कभी कर्म को और कभी ईश्वर को । यह निश्चय ही गलत तरीका है । माना कि जो कुछ होता है ईश्वर की इच्छा से होता है, माना कि जो कुछ होता है अनादि अनन्त-काल प्रवाह की प्रेरणा से होता है, माना कि जो कुछ होता है विश्व के सार्व-भौम नियम कर्मचक्र के कारण होता है । और ध्यान से देखा जाय तो ये तीनों एक दम अलग-अलग नहीं हैं—केवल विचारकों की अपनी-अपनी समझ का भेद है । परन्तु ईश्वर की इच्छा ने ही तो मनुष्य को कार्य करने के लिये हाथ-पैर और सोचने-समझने के के लिये दिमाग दिया है । काल-प्रवाह ने ही तो मनुष्य-योनि को इस प्रकार विकसित करके पूर्णरूपेण साधन-धाम बना दिया है, और कर्मचक्र के सिद्धान्त ने ही तो यह स्पष्ट घोषणा करदी है कि जैसा करोगे वैसा भरोगे । फिर अपनी निष्क्रियता के लिये ईश्वर को या काल को या कर्म को दोषी ठहराना कहाँ तक ठीक होगा । कर्म का अर्थ दैव या प्रारब्ध माना जाय,

दुःखप्रद हो जाता है ।[१] नरतनु पाकर जो लोग विषय की ओर चित्त देते हैं वे शठ अमृत के बदले जहर मोल लेते है । जो पारसमणि खोकर गुञ्जा (घुँघची)

तो वह भी तो हमारे पूर्वजनों के कर्मों का ही फल है । 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते ।' फिर दैवयोग या कर्म-कृपा अवसर की बात या काल-कृपा और ईश्वर की इच्छा या प्रभु-कृपा की नारेबाजी में अपनी क्रिया अथवा साधना को तिलाञ्जलि दे बैठना बड़ी काहिली होगी । प्रभु की कृपा तो निर्हेतुक है । वह है ही । उस पर परम विश्वास रखते हुए भी परलोक सँवारने के अपने प्रयत्न जरा भी ढीले न किये जायँ, यही भगवान राम का अनुशासन है ।

[१] विचारणीय यह है कि नर शरीर का उद्देश्य क्या है ? प्रत्येक योनि के प्रत्येक शरीर में जन्मजात प्रवृत्ति देखी जाती है विषय-भोग की— आहार विहार की—खाने-पीने सोने बच्चा पैदा करने आदि की । जिनका इन्द्रियों के द्वारा अनुभव हो वे हैं विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द । इनके द्वारा जो सुख मिलता है वह है विषय सुख । सबसे प्राथमिक इन्द्रिय है त्वचा । उसी के भेद हुए जीभ और जननेन्द्रिय । आहार और विहार के सुख ही इसीलिये सबसे प्रबल विषय-सुख हैं । फिर घ्राण, फिर श्रवण और फिर नेत्रों का नम्बर आता है । नेत्रों के क्षेत्र का विस्तार सबसे अधिक है । मनुष्य योनि तक आते-आते जीव इसी इन्द्रिय का सबसे अधिक उपयोग करने लगता है । अतएव रूप का मोह ही उन प्राथमिक विषय सुखों का सबसे बड़ा सहायक हो उठता है । सो क्या नर तनु का भी फल इतना ही है कि मनुष्य अन्य पशुओं की भाँति विषय-सुख में डूब जाय ? उसकी सीमाएँ निश्चय ही इन सुखों के उपभोग में बाधा पहुँचाती हैं । कोई गरीब है, कोई अशक्त है, किसी के मार्ग में कोई दूसरा ही व्यक्ति रोड़ा बनकर अटक जाता है । ये सब सीमाएँ ही तो हैं जिनसे विषय सुख भोग में बाधा पड़ जाती है । तृष्णा चाहती है कि ये सीमाएँ उड़ जायँ इसलिए स्वर्ग की ओर ध्यान जाता है कि वहाँ विषय-सुख निर्बाध होकर मिलेंगे। परन्तु स्वर्ग की भी तो एक सीमा है, उसके सुखों की अवधि की भी एक सीमा है । वह सीमा समाप्त होते ही वह स्वर्ग भी हाथ से निकल जायगा । फिर तो उसकी स्मृति का दंश और तेज होकर चुभेगा । अतएव स्वर्गिक सुख भी अन्त में दुःखदायी ही होने वाले हैं । विवेक चाहता है कि ऐसा सुख प्राप्त किया जाय कि जिसकी कोई सीमा न हो । अतएव विषय-सुखों के स्वरूप को भलीभाँति पहिचान कर वही कहता है कि नर-शरीर का उद्देश्य विषय-सुख मात्र न होना चाहिये । सुख हो परन्तु वह विषय-सुख न हो क्योंकि जितने विषय सुख हैं वे नश्वर वस्तुओं में आसक्ति बढ़ाने वाले होकर तृष्णा को और तीव्र करते जाते हैं।

ग्रहण करे उसे क्या कोई कभी भला कहेगा ?[१] माया की प्रेरणा से काल कर्म स्वभाव और गुणों के घेरे में आकर यह अविनाशी जीव चौरासी लाख यौनियों की नश्वर देहों में भटकता रहता है। निर्हेतुक स्नेह वाले ईश्वर कभी करुणा करके इसे नरदेह दे देते हैं।[२] यह नरदेह भवसागर पार करने के लिये

---

[१] मनुष्य का मन है अमृत जिससे मोक्ष तक की साधना की जा सकती है। उसे विषय सुख का वशवर्ती कर देना मानो अमृत को देकर जहर खरीद लेना है, पारसमणि को देकर गुञ्जा ग्रहण कर लेना है। गुञ्जारूपी विषय में तो सौख्यरूपी सुवर्ण की झाईं मात्र रहती है। मन रूपी पारसमणि का सदुपयोग हो तो प्रत्येक भाव-लौह सुवर्ण में परिणत हो सकता है। "मन चङ्गा तो कठौती में गङ्गा।"

[२] अखिल ब्रह्माण्ड का तत्व भले ही एक हो जिसे ब्रह्म कहते हैं परन्तु व्यवहार में तो हमें जड़ रूप से इस प्रकृति का और चेतनरूप से अनेकानेक जीवों का ही पता लगता है। विनाश तो हम विविध देहों का ही देखा करते हैं जो प्रकृति की अङ्गरूपा हैं न कि चैतन्य जीव का। अतएव वह हुआ अविनाशी। वह जन्म-मरण के अनेक चक्र पार करता रहता और अनेक प्रकार के शरीर धारण करता रहता है। यह भारतीय विचारधारा की मान्यता है। यह भी मान्यता है कि संसार में जितने जीवधारी हैं—वृक्ष, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, दानव-मानव आदि—उनकी किस्में चौरासी लाख हैं। देहों और देह की किस्मों में यह भिन्नता आई क्यों ? इसका कारण है वह अदृश्य शक्ति जिसे माया कहते हैं। उसे चाहे आप ब्रह्म की आदिशक्ति कह लें चाहे प्रकृति की आदिशक्ति कह लें परन्तु है वह अनिर्वचनीय। वह चेतन और जड़ की ग्रन्थि पैदा कराती और दोनों के सान्निध्य से जड़ प्रकृति में विषमता का सूत्रपात करती है—ऐसी विषमता का जो बढ़ते-बढ़ते विविध योनियों का रूप धारण करती और जीव को शरीर की आशक्ति से आबद्ध कर लेती हैं। यह विषमता क्यों हुई ? ज्योतिर्विदों ने उत्तर दिया काल-प्रवाह के कारण; मीमांसकों ने उत्तर दिया कर्म-प्रवाह के कारण; प्रकृतिवादियों ने उत्तर दिया स्व-भाव के कारण; और सांख्य-शास्त्रियों ने उत्तर दिया गुण विक्षोभ के कारण। जो कुछ भी उत्तर हो परन्तु यह निश्चित है कि ये चारों घेरे जीव के पीछे लग गये जिसके कारण वह विविध योनियों में सदा से—अनादि काल से—भटक रहा है।

पाश्चात्य विज्ञानी कहते हैं कि नर तनु बानर तनु का ही विकसित रूप है; परन्तु वे भी यह नहीं बता सकते कि किसी विशिष्ट देह का यह विकास इतनी-इतनी अवधि के भीतर हो ही जायगा। विकास की प्राकृतिक प्रेरणा ही

सुदृढ़ नौका रूप है। ईश्वर का अनुग्रह वह सीधी सम्मुख अनुकूल वायु है जो इसे आगे बढ़ाती है और सद्गुरु ही इसका बढ़िया कर्णधार है जो इसे बहकने नहीं देता। जो मनुष्य ऐसा समाज—ऐसी सामग्री—पाकर भी (अर्थात् ईश्वर अनुग्रह रूपी सन्मुख मरुत, सद्गुरु रूपी कर्णधार और नरतनु रूपी दृढ़भाव पाकर भी—भवसागर नहीं पार करता (संसार के रगड़े-झगड़े से ऊपर नहीं उठता) वह कृतनिन्दक (क्रियाशीलता की निन्दा करने वाला) निश्चय ही मन्दमति है। आत्महन्ता है और उसकी गति चली जाती है—अर्थात् उसकी कभी सद्गति नहीं हो सकती।[1]

(३)

यदि परलोक और इस लोक में सुख चाहते हो तो मेरा वचन सुनकर उसे हृदय से दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लो। वेदों और पुराणों—दोनों ने मेरी

को ईश्वर की निर्हेतुक कृपा समझ लीजिए। जब उसकी करुणा होती है तभी नर देह की प्राप्ति हो सकती है। अतएव नर देह की प्राप्ति को जीव के लिए ईश्वर का बहुत बड़ा प्रसाद मानना चाहिए। ईश्वर कहिए अथवा विकास की प्राकृतिक प्रेरणा कह लीजिये। बात एक ही है। किन्तु विज्ञान के तत्व को आस्तिक्य भाव से सोचना कई दृष्टियों से अधिक लाभप्रद रहा करता है, यह न भूलना चाहिये। अतएव सोचने का सीधा तरीका यही है कि विविध योनियों में भटकने वाले जीव को कभी ईश्वर ही कृपा कर के नर देह दे दिया करते हैं।]

[1] ईश्वर की कृपा नरदेह देकर ही जीव का साथ नहीं छोड़ देती। वह तो ऐसी वायु बनकर साथ चलती है जो जीवन-नौका को आगे बढ़ाती रहे। (यही नहीं, इसी वायु से तो जीव भी प्राणवान् रहता है) वह नौका बहक न जाय इसलिये सत्संग सद्विचार या सद्गुरु रूपी कर्णधार की आवश्यकता रहती है। पथदर्शक ही सद्गुरु है—फिर चाहे वह मूर्त व्यक्ति हो चाहे अमूर्त इष्ट व्यक्ति या इष्टदेव हो या कोई अपना ध्रुव ध्येय रूपी आदर्श सिद्धान्त ही हो। वही अपना सद्गुरु स्थानीय होगा। कोई न कोई ऐसा आलम्बन अपनी जीवन-नौका की प्रगति के लिये रखना ही पड़ता है। फिर, अपनी नाव को भी सुदृढ़ रखिये नहीं तो साधना बन कैसे पड़ेगी। संसार की रगड़े-झगड़े वाली विषमता को पार कर लेने के लिये इन साधनों का समुचित उपयोग कर लेना मानवी जीव का काम है। डाँड तो उसे ही चलाना पड़ेगा। तभी नाव पार लगेगी। यही सर्व-सामान्य नियम है। अतएव जो परागति रूपी समता के लिये हाथ-पैर हिलाना नहीं चाहता वह मन्दमति और अपना ही विनाश करने वाला आत्मघाती है।

(अर्थात् भगवान की) भक्ति की गाथा गाई है । भाइयो ! यह मार्ग सुलभ भी है और सुखद भी है । ज्ञान (मार्ग) अगम्य है । उसमें अनेक बाधा-विघ्न हैं । उसके साधन कठिन हैं । और उस पर मन टिक नहीं पाता । इतने पर भी यदि अनेक कष्ट उठाकर कोई व्यक्ति ज्ञान को पा भी जाय, तो यदि वह भक्तिहीन है तो मुझे वह भी प्रिय न होगा ।[१]

भक्ति स्वतन्त्र है, सकल सुखों की खानि है परन्तु सत्संग के बिना कोई प्राणी उसे पाते नहीं । सत्संग से संसृति का भी अन्त हो जाता है । पुण्यपुञ्ज के बिना सन्त लोग मिला नहीं करते । और संसार में एकमात्र अद्वितीय पुण्य है कि मन, क्रम, वचन से विप्रपद पूजा की जाय । उस पर सब देव सानुकूल रहते

[१] प्रथम दोहे में बताया गया कि परलोक सँवारना चाहिये, दूसरे दोहे में बताया गया कि भव-सागर तरना चाहिये । अर्थ यह हुआ कि इस लोक की विषमताओं पर इस तरह विजय प्राप्त की जाय कि मृत्यु के बाद भी शान्ति और आनन्द बने रहें । शान्ति है बुद्धि की समता, आनन्द है हृदय की समता । दोनों वस्तुतः एक ही हो जाते हैं परन्तु क्योंकि एक का साधन है बुद्धि और दूसरे का साधन है हृदय इसलिये हम एक को 'ज्ञान' कह देते हैं और दूसरे को 'भक्ति' । "ग्यानहि भगतिहि नहि कछु भेदा" । फिर भी दोनों के मार्ग अलग-अलग होने के कारण दोनों में भेद भी मान लिया जाता है । इस भेद-दृष्टि से देखा जाय तो कहना पड़ेगा कि ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग न केवल अधिक सुलभ्य है किन्तु अधिक सुखद भी है । ज्ञान सूक्ष्म चिन्तन के कारण अगम्य है, अहङ्कार बना रहने के कारण उसकी प्राप्ति में अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं, उसके साधन के लिए बुद्धि की एकाग्रता चाहिए जो बहुत कठिन है, और वह निर्गुण-निर्भर होने के कारण उस पर मन टिक नहीं पाता । इतने पर भी भक्ति की सरसता के बिना वह रूखा-रूखा सा रहता है । वह ज्ञानी, जो विश्व के कल्याण की परवाह भी न करे विश्वम्भर को कैसे प्रिय होगा । भक्ति में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द (विषयों) को एकदम तिलांजलि नहीं देनी पड़ती । न वह केवल निर्गुण-निर्भर है न बुद्धि की बहुत एकाग्रता या सूक्ष्म-चिन्तन चाहती है । अहङ्कार तो उस मार्ग में पहले ही से शुद्ध हो जाता है । अतएव निश्चय ही वह ज्ञान की अपेक्षा अधिक सुगम सुलभ है । वह सुखद तो है ही क्योंकि उसके साध्य की कौन कहे, साधनों तक में सरसता भरी है । अतएव यह भक्तिमार्ग कोई उधार धर्म नहीं है जो परलोक के सुख की आशाओं पर अटका रखे किन्तु नकद धर्म है जो यहाँ भी भरपूर सुख देता है और वहाँ परलोक में भी ।

हैं जो कपट तजकर द्विजसेवा करे। एक और भी गुप्त मत हैं जो सबों से हाथ जोड़ कर—विनम्रतापूर्वक—कह रहा हूँ। शङ्कर-भजन के बिना मनुष्य मेरी भक्ति नहीं पाता।[१]

(४)

भला कहो तो भक्ति-पथ में कौन-सा कष्ट है—कौन-सा प्रयास है ? न इसमें यज्ञ की खटखट है न तप या उपवास (व्रतों) की खटखट है। इसमें योग और जप की भी खटपट आवश्यक नहीं।[२] मन की कुटिलता त्यागकर स्वभाव

[१] इस लोक और परलोक के सभी सुखों की आकार रूपा यह भक्ति स्वतः साधन भी है और साध्य भी है। उसके लिये अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं। उसकी प्राप्ति के प्रधान साधन दो कहे जा सकते हैं। ये दोनों साधन भी भक्ति के अन्तर्गत ही हैं। पहिला साधन है विप्रपद पूजा और दूसरा साधन है शङ्कर भजन। विप्र हैं वे लोग जो परम्परा से भारतीय संस्कृति अथवा आर्य-संस्कृति की रक्षा करते चले आ रहे हैं। पदपूजा है उनके प्रति समुचित श्रद्धा। ऐसी निश्चल श्रद्धा से हृदय में भक्ति-भावना का पुण्य जागता है जिसकी बदौलत किसी दिन सच्चे सन्तों की भी प्राप्ति हो जाती है। ऐसे सन्तों का सत्सङ्ग मिल जाय तभी संसृति की विषमता का अन्त होता और सच्ची भक्ति की प्राप्ति हो जाती है। विप्र-पूजन अथवा सन्त पूजन है ज्ञान का मूर्तिमन्त स्वरूप। "निराकार की आरसी सन्तन ही की देह, लखा जो चाहे अलख को इनही में लखि लेइ।" शङ्कर-भजन है वैराग्य का मूर्तिमन्त स्वरूप। ज्ञान और वैराग्य के श्रद्धात्मक सहयोग के बिना असली भक्ति की प्राप्ति दुर्लभ है। ज्ञान और वैराग्य ऐसे न हों जो भक्ति से कोई भिन्न तत्व हों। वे श्रद्धापरक होकर भक्ति के अङ्ग-रूप ही हों। साम्प्रदायिक दृष्टि से भी यह कहना गलत होगा कि राम-भक्ति और शङ्कर भक्ति में कोई मौलिक भेद है। शैवों और वैष्णवों में अथवा भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में विरोध उपस्थित करना राम-भक्त का लक्षण कदापि नहीं है। भारत के राष्ट्रीय सङ्गठन के लिये उस समय शैवों और वैष्णवों में इसी प्रकार का मेल स्थापित करने की परम आवश्यकता थी। फिर शिव तो राम-नाम और रामभक्ति की महिमा के आदि प्रवर्तक भी हैं। अतएव नित्य गुरु के रूप में वे प्रथम वन्दनीय हैं ही।

[२] भक्ति के लिये योग (इष्ट में मन को लगा देना) और जप (नाम स्मरण) तो चाहिये ही। परन्तु यहाँ योग का अर्थ कदाचित् चित्त-वृत्ति-निरोध वाला हठयोग और जप का अर्थ विधि-विधानपूर्ण आनुष्ठानिक जप माना गया है। असल में भक्ति के लिए ऐसा योग और ऐसा जप आवश्यक नहीं है। उसके

विनयपत्रिका

विनयपत्रिका एक आर्त्त-भक्त की अर्जी है, कि वह अपने इष्टदेव द्वारा अपना लिया जाय।

इस अर्जी में पहिली आवश्यक बात यह होनी चाहिये कि इष्टदेव के जितने भी समीपी हैं, उन सबको साधा जाय, ताकि अभीष्ट-प्राप्ति के सम्बन्ध में उनका केवल आशीर्वाद ही प्राप्त न हो, किन्तु अनुकुल अवसर भी लाने की वे कृपा करें और अनुकूल अवसर आते ही उनकी सक्रिय सहायता भी प्राप्त हो जाय।

गोस्वामीजी ने इस दिशा में अपनी पूरी प्रबन्ध-चातुरी दिखाई है। राम का दरबार कोई सामान्य दरबार नहीं। भरत, लक्ष्मण और मारुति उनके दरबार के प्रमुख हैं, जो अनुकूल अवसर आते ही सक्रिय सहायता कर सकते हैं। माता सीताजी उन विश्व-सम्राट की अर्धाङ्गिनी ही ठहरीं; अतएव वे चाहें तो उस आर्त्त-भक्त के लिए भगवान के हृदय में अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर सकती हैं। शंकरजी मारुति की आत्मा और विश्व-सम्राट इष्टदेव राम के ही दूसरे प्रतिरूप हैं; अतएव उनकी प्रसन्नता के बिना दरबार में अर्जी का प्रवेश सोचा ही नहीं जा सकता। अब प्रत्येक शुभकार्य सिद्धिदाता गणेश, प्रकाशदाता सूर्य, शक्तिदात्री देवी की वन्दना के बिना कैसे आरम्भ किया जाय? फिर स्थान देवता को—गंगा-यमुना, काशी (जहाँ बैठ कर पत्रिका लिखी गयी) चित्रकूट (जहाँ कवि का आर्त्त-भक्त का, निवास स्थान है) आदि को भी कैसे भुलाया जा सकता है? फिर हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता और राम। (काशी में स्थित राम के अर्चावतार बिन्दमाधव तक की तो भरभूर स्तुति होनी ही चाहिये। आदि के ७४ पद इसी क्रम पर चले है। फिर दो पदों में आत्म-परिचय देकर लम्बी-चौड़ी अर्जी लिखी गयी है और ग्रन्थ के अन्तिम चार पदों में आत्म-निवेदन का सारांश पत्रिका स्वीकृत होने की प्रार्थना, स्वीकृति के सम्बन्ध में दरबारियों के प्रयत्न और अर्जी की मंजूरी अर्थात् उस पर प्रभु की स्वीकृति सूचक 'सही' के हस्ताक्षर—ये सब बातें बड़े सुन्दर ढङ्ग पर दी गयी हैं।

अर्जी में दूसरी आवश्यक बात होनी चाहिये कि आवेदक इष्टदेव द्वारा अपनाये जाने के विषय में अपनी पात्रता सिद्ध करे। जब तक वह यह न सिद्ध करने का प्रयत्न करे तब तक वह अपनाया कैसे जायगा? सम्राट की कृपा और

दरबारियों की सहायता तो ठीक ही है, परन्तु स्वतः पत्रिका (अर्जी) में भी तो सार्थकता रहनी चाहिये। यदि आवेदक समर्थ है तो वह अपने ज्ञान, अपने कर्म और अपनी भक्ति की उज्ज्वलताएँ सिद्ध करके अपनी पात्रता के प्रमाण दे। यदि आवेदक असमर्थ है तो अपने प्रयत्न और अपनी असफलताओं, अपनी श्रद्धा और अपने विश्वास, अपने दैन्य और अपनी तदीयता को निष्कपट भाव से साफ खोलकर सामने रख दे। कहने का अर्थ यह है कि शरणागति के छहों अंगों को ध्यान में रखता हुआ वह शुद्ध सच्चे भाव से आत्म-विश्लेषण करता चले। यदि उस आत्म-विश्लेषण में उसकी पात्रता सिद्ध हो जायगी तो बहुत सम्भव है कि उसकी अर्जी मंजूर हो जाय।

शरणागति के माने हुये छः अङ्ग हैं (क) अनुकूलता का संकल्प, (ख) प्रतिकूलता का वर्जन, (ग) हम जिसकी शरण जा रहे हैं यह हमारी रक्षा करेगा, इसका दृढ़ विश्वास, (घ) रक्षा के लिये उससे व्यग्रतापूर्ण प्रार्थना, (च) अपने को उसकी ही इच्छा पर समर्पित कर देना—निक्षेप कर देना और (छ) कार्पण्य अथवा परम दैन्य। आप जिसकी शरण जाना चाहें उसे जो बातें पसन्द हों उसके अनुसार आचरण प्रारम्भ कीजिये, उसे जो नापसन्द हों उन बातों का त्याग कीजिये। आपकी ओर से प्रयत्न पूरा होना चाहिये। आपको सफलता मिलती है या नहीं मिलती यह अलग बात है। उस पर और उसकी शरण्यता की शक्ति पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखिये। व्यग्र होकर रक्षा अथवा शरण के लिये उससे प्रार्थना कीजिये। आपकी प्रार्थना तीव्र से तीव्र और गहरी से गहरी होनी चाहिये। उसमें पर्याप्त उत्कण्ठा और तड़प रहे। फिर अपने को उसकी मर्जी पर छोड़ दीजिये और हृदय से कहिये कि उसको छोड़कर और आप कहाँ जायँ। यदि आप असफल हुये हैं—यदि आप सचमुच ही कमजोर हैं—तो आपको अपना परम दैन्य व्यक्त करने में कोई संकोच होना ही नहीं चाहिये। इन छहों अङ्गों में जिस हद तक आप सच्चे हैं, उस हद तक आप निश्चय ही शरणागति के पात्र हैं।

गोस्वामीजी के हृदय में इस पात्रता के सम्बन्ध की जिस समय जो भावना उठी है, उसका उसी स्थल पर उन्होंने निश्छल वर्णन कर दिया है। एक बार नहीं, अनेक बार। रट लगाने का तो मतलब यही होता है। इस वर्णन में गोस्वामीजी का हृदय नहीं बोला है किन्तु उनके साधक हृदय की आड़ लेकर जन-साधारण का हृदय बोल उठा है। वह अर्जी उनकी ही नहीं, किन्तु प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के प्रत्येक आर्त्त के हृदय की आवेदन-पत्रिका बन गयी है। यह अवश्य है कि गोस्वामीजी के इष्टदेव सगुणसाकार राजा रामचन्द्र

हैं, इसलिये उनकी विनय-पत्रिका में राजा राम के चरित्र से सम्बन्धित गुणों पर ही विशेष बल दिया गया है। जैसे गोस्वामीजी का कवि-हृदय सर्व-सामान्य जीवों का प्रतीक होकर बोल उठा है, वैसे ही समझना भी चाहिये कि राजा राम सर्व इष्टदेवों के प्रतीक होकर उसमें वर्णित हुये हैं। जिस इष्टदेव की शरण में आर्त्तभक्त जाना चाहता है और जिनकी शरण जाने से मनुष्य को वस्तुतः सच्ची शान्ति मिल सकती है, उसमें वे सब गुण तो होने ही चाहिये जो गोस्वामी जी ने अपने रामजी में दिखाये हैं। उनके राम कृष्ण भी हैं और शिव भी। यह न समझना चाहिये कि अपनी असफलताओं के आत्म-विश्लेषण से अथवा 'ऐसेहि जनम समूह सिराने' या 'मेरो मन हरिजू हम न तजै' कहने से आर्त-भक्त का कोई निराशावादी दृष्टिकोण होता तो वह इष्टदेव की सर्व सुखद शरण ताकता ही क्यों। यह तो उसकी हीन ग्रन्थियों का अभिव्यक्तीकरण है ताकि वे आप ही आप शिथिल होकर दूर हो जायँ। वह प्रदर्शित करता है अपनी दीनता-हीनता, परन्तु उसका निरन्तर ध्यान रहता है अपने प्रभु की महत्ता पर और यह ध्यान ही उसकी दीनता-हीनता मिटाकर उसकी पात्रता को अलक्षित रूप से उन्नत कर देता है। संसार की कमजोरियों से भरे हुए सामान्य जीव की उत्क्रान्ति का इससे सरल और सुखद दूसरा कोई मार्ग नहीं है। चाहिये केवल निश्छलता और अपने प्रभु पर उसकी सच्ची आस्था। ऐसे आर्त्त के एक-एक आँसू का मूल्य कोरे ज्ञानियों और ध्यानियों की लाख-लाख साधनाओं से भी अधिक है। गोस्वामीजी की विनयपत्रिका इसीलिये शरणागति के साधकों की दृष्टि में उनके सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ रामचरितमानस से भी अधिक मूल्यवान और अधिक श्रद्धास्पद है।

अनुकूलता के संकल्प में प्रबोध, पाश्चात्ताप और प्रतिज्ञा—तीनों बातें आ जाती हैं। प्रबोध यह है कि संसार निस्सार है परन्तु फिर भी घोर तापप्रद है। उससे बचने का एकमात्र उपाय है रामभक्ति अर्थात् राम द्वारा अपनाया जाना। मनुष्य का यही परम ध्येय होना चाहिए कि वह राम द्वारा अपना लिया जाय। राम तभी अपनायेंगे जब उनकी कृपा होगी और वह कृपा तभी होगी जब जीव निश्छल भाव से उनकी शरण जायगा। बिना सेवा कराये भी दीनों पर द्रवित होते रहना तो उनका खास स्वभाव है। ऐसा उदार इष्टदेव और कहाँ मिलेगा ? अतएव हे मन, तू चेत और इस अवसर का लाभ उठा। पश्चात्ताप यह है कि इतने उदार स्वामी की सेवा का अवसर पाकर भी हमने इस नर-जीवन को व्यर्थ गँवा दिया—"लाभ कहा मानुस तन पाये" अथवा "ऐसी मूढ़ता या मन की" अथवा "मन पछितैहै अवसर बीते।"

हमने कितने-कितने अनर्थ नहीं किये और अपने प्रभु को कितना-कितना

कष्ट नहीं दिया। अपनी त्रुटियों के लिए हम उन्हें किस मुँह से दोष दें, उनका तो पूरा जिम्मा हमारा है:—"है सब मेरोई प्रभु दोष", "कैसे देउँ नाथहिं खोरि" इसलिए आत्म-भर्त्सना बरबस प्रकट हो रही है। प्रतिज्ञा यह है कि जो हुआ, अब आगे से ऐसा न होने पावेगा। "अब लौं नसानी अब न नसैहौं।" प्रभु कृपा की प्राप्ति के लिये इस शरीर को अथवा नर-जीवन के इस सुवर्ण अवसर को उनके अनुकुल आचरणों में ही अर्पित किया जाय। "राम जपु राम जपु राम जपु बावरे"। इस पूरे प्रसङ्ग में जोर है साधक की क्रिया पर।

प्रतिकूलता के वर्जन में जोर है प्रभु की कृपा पर, जिसके बिना प्रतिकूल तत्वों का वर्जन अत्यन्त कठिन होता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि इस मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि न जाने कितने चोर आकर बस गये हैं, जो हटाये नहीं हटते। ये तो तभी हटेंगे जब हे प्रभु! आपकी कृपा होगी। आपकी माया आपही के बरजने से पट सकेगी, मेरा प्रयत्न असफल चला जाता है।

रक्षा के प्रति विश्वास का जहाँ तक प्रश्न है वहाँ तक गोस्वामीजी ने बारम्बार जोर देते हुये यह बताया है कि गीध, गज, गणिका, अजामिल आदि महापापियों तक को प्रभु ने सद्गति दी है, वानर, भालुओं तक को इन्हीं प्रभु ने अपनी बराबरी का पद दिया है; अधम उधारन के सम्बन्ध का जैसा इनका विरद है, वैसा किसी का नहीं। मैं महानीच भी होऊँ तो भी अपने विरद की लाज से प्रभु मेरा उद्धार करेंगे ही। उनके और उनके विरद की शक्ति पर मेरा पूरा विश्वास है। इतिहास, पुराण और स्वतः का अनुभव—सब इसके साक्षी है। प्रभु के नाम ने ही खर-असवार को गयन्द की सवारी दे दी, 'रोटी लूँगा' का पूरा प्रबन्ध कर दिया, फिर प्रभु का तो कहना ही क्या है? "ऐसी कौन प्रभु की रीति।"

गोप्तृत्व-वरण में तो गोस्वामीजी ने बड़े विस्तार से अनेक भावों की व्यञ्जना की है। इस सम्बन्ध की उनकी प्रार्थनाएँ देखने लायक हैं। कभी धीरता-पूर्वक विनय करते हैं, कभी अधीर होकर रट लगाने लगते हैं, कभी अपने को रिरिया और मचला कहते हैं। कभी व्यग्रता में अनाप-शनाप भी कह बैठते हैं और शूर शिरोमणि का पुतला बाँधने तक की धमकी दे बैठते हैं। बस मुख्य बात यह है कि "ज्यों-त्यों तुलसी कृपाल चरण शरण पावै।" वे कहते हैं कि वे दुतकारे क्यों जा रहे हैं। क्या है कहीं ठौर-ठिकाना, जहाँ शरण ताकी जाय? "जाऊँ कहाँ तजि चरन तिहारे।" देख तो लिया गया है खूब अनुभव कर के!

फिर इस अधम का पतवारा क्यों फाड़ा जा रहा है ? और नहीं तो इसकी निर्लज्जता पर ही रीझ कर इसे पनाह दे दी जाय। विनय तो इनकी पत्रिका की प्रधान वस्तु है ही और उसे वे इस तरह प्रभु के पास पहुँचाना चाहते हैं कि विनय-पत्रिका दीन की "बापु आप ही बाँचौ, सो सुभाय सही करि बहुरि पूछिये पाँचौ।"

आत्म निक्षेप है अपने को इष्टदेव की इच्छा पर छोड़ देना। चाहे वे मारें चाहे तारें। "जाऊँ कहाँ तजि चरण तिहारे।" "कहाँ जाऊँ कासों कहूँ कौन हितू मेरौ।" इस प्रकार अनन्य भावना के साथ अपने हो प्रभु पर निर्भर हो जाना। गोस्वामीजी ने स्थान स्थान पर यही किया है। फिर भी वे पुकार बैठते हैं "करिय सँभार कौसल राय" और मस्ती में कह उठते हैं कि "जो पै कृपा रघुपति कृपालु की, बैर और के कहा सरै।"

कार्पण्य है अपना परम दैन्य, अपनी परम अकिंचनता—अपना परम साधना-राहित्य। भक्त की यह विवशता है, जो भगवान को उसके उद्धार के लिए विवश कर देती है। "कृपा सोधौ कहाँ बिसारी राम", मो सम कौन कुटिल खल कामी, तुम सों कहा छिपी करुणानिधि तुम प्रभु अन्तरयामी।" परमात्मा का दरबार ऐसा है कि वहाँ दीनों की ही पुकार है, उन्हीं का आदर है, अतएव जो जितना दीन है, उसे उतना ही आशावादी होना चाहिए। परन्तु स्मरण रहे कि सच्चा दीन वह है, जो सच्चा प्रयत्न करने पर भी अपनी कमजोरियों से छुटकारा नहीं पा सक रहा है—जो वस्तुतः विवश हो गया है।

अनुकूलता के संकल्प में जैसा कि पहिले कहा गया है भक्त की क्रिया पर जोर है। प्रतिकूलता के वर्जन में प्रभु की कृपा पर जोर है, रक्षा के विश्वास में प्रभु के विरद पर जोर है गोप्तृत्व-वरण में भक्त की उत्कण्ठा पर जोर है, आत्म-निक्षेप में प्रभु की अनन्यता पर जोर है और कार्पण्य में भक्त के दैन्य पर जोर है। भक्त की ओर से क्रिया में दृढ़ सङ्कल्प रहे अपने दैन्य का निश्छल आत्मविश्लेषण हो और शरणप्राप्ति के लिए व्यग्रतापूर्ण तीव्र उत्कण्ठा रहे तथा भगवान के विरद पर दृढ़ विश्वास हो, उनकी अनन्यता की सम्यक् अनुभूति हो और उनकी कृपा ही से सब कुछ हो सकेगा, इसका एकमात्र निश्चय हो। यही है विनयपत्रिका की शरणागति भावना। जो बुराइयाँ हैं उनके लिए एक मात्र दोषी मैं हूँ और जो अच्छाइयाँ हैं वे सब प्रभु की कृपा से प्राप्त हुई हैं अथवा प्राप्य हैं—ऐसा विचार रख कर प्रभु की सर्वसुखद शरण के लिए उनसे सदैव प्रार्थना करते रहना विनय-पत्रिका का वास्तविक उद्देश्य है। ऐसी आवेदन-पत्रिका यदि बनावटी नहीं है तो वह अवश्य स्वीकृत होगी। जैसी कि गोस्वामी –

तुलसीदासजी की पत्रिका स्वीकृत हुई। उस पर रघुनाथजी के हाथ की 'सही' पड़ गयी यह गोस्वामीजी स्वतः स्वीकार करते हैं।

विनयपत्रिका में एक प्रकार की प्रबन्धात्मकता तो है ही, परन्तु प्रधानतया उसे प्रगीति मुक्तक रचना कहना चाहिए, क्योंकि उसके प्रत्येक पद अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र हैं तथा प्रत्येक में कवि के अन्तर्जीवन का ही दिग्दर्शन है। वह गेय पदों में लिखी गई है। संगीतात्मकता हृदय के रागात्मक सम्बन्ध को स्फूर्ति प्रदान करती है और भावों में बड़ी तन्मयता ला सकती है। संगीतात्मक पदों में सरलता पूर्वक एक ही भाव को कई बार कई प्रकार से दुहराया जा सकता है। विनय की सफलता के लिए प्रायः आवश्यक रहता है कि वह बार-बार दुहरायी जाय। पिष्टपेषण उसका भूषण है न कि दूषण। गोस्वामीजी ने इसीलिए एक-एक बात को अनेक बार, अनेक ढङ्ग से कहा है। उन्होंने भावों के अनुकूल विशिष्ट राग-रागिनी का चुनाव करके एक बहुत बड़ा काम किया है, जिसकी ओर खेद है कि आजकल के पाठकों का ध्यान बहुत कम जाता है। एक-एक राग या रागिनी में अलग-अलग रस अथवा भाव व्यक्त करने की विशिष्ट क्षमता रहती है। यदि गोस्वामीजी के पदों के भावों को सच्चे रूप में हृदयंगम करना है तो उन्हें गोस्वामीजी के ही बताये हुए रागों में गाकर देखा जाय। वे निश्चय ही अपना अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न किये बिना न रहेंगे। पदों को गुनगुनाने वाले भक्त का हृदय रस-सिक्त करके वे पद उसको उसी भाव-भूमिका तक सहज ही पहुँचा देंगे।

जिस तरह तन के पोषण के लिए नित्य-प्रति भोजन चाहिए उसी तरह मन के पोषण के लिए नित्य-प्रति ऐसे पदों के गुनगुनाने की आवश्यकता है। जिसे शाश्वती शान्ति की इच्छा है, उसे चाहिए कि वह गोस्वामीजी की विनयपत्रिका को अपनी विनयपत्रिका बना ले। हमें नित्य पाठ के लिए विनयपत्रिका के कुल पदों में से जो पद विशेष रूप से रुचते है, उनकी संख्या हम यहाँ पाठकों के लाभार्थ नीचे दे रहें हैं। यह पद संख्या गीता प्रेस, गोरखपुर की प्रति से दी गयी है। संख्या इस प्रकार है :—

पद नं० ४, ६, १६, ३०, ३२, ४१, ४५, ४७, ५८, ६५, ६६, ७६, ८१, ८२, ८४, ८५, ८६, ९०, ९३, ९८, १०१, १०२, १०३, १०५, १११, ११५, ११६, १२०, १२३, १२४, १२६, १३५, (३), १३७, १३८, १४२, १४५, १५८, १६०, १६२, १६६, १७२, १७४, १८१, १८४, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९३, १९८, २०१, २०५, २०६, २११, २१४, २१८, २२०, २२४, २२६, २२८, २३०, २३१, २३३, २३४, २३५, २३७, २४२,

२६२, २६५, २६७, २६८, २७१, २७७, २७९, ७५। इन्हें असंगीतज्ञ भी मजे में गुनगुना सकते हैं।

यों तो वह पूरा का पूरा ग्रन्थ ही महत्वपूर्ण है और तुलसी के पत्रों में से किसे विशेष रुचिकर और किसको सामान्य रुचिकर कहा जाय? जो राम-चरित मानस सरीखे विश्वविश्रुत ग्रन्थ के लेखक की लेखनी से मिलती हुई पत्रिका हो और इतने महान् ग्रन्थ लिखने के वाद पूर्ण परिपक्वता के साथ हृदय को समस्त संचित विनयपूर्ण भावनाओं को प्रभु के समक्ष पहुँचाने के सङ्कल्प से लिखी गई हो, उसके एक-एक पद की कौन कहे, उसका एक-एक शब्द तक अपनी विशिष्ट महिमा से मण्डित है। तुलसी का कविकुल चूड़ामणित्व जो रामचरितमानस में है, वह विनय पत्रिका में किसी प्रकार कम नहीं हुआ है।